मनोविज्ञान और शिक्षा

मनोविज्ञान और शिक्षा

लेखक
डी० जीवनायकम
एम० ए०, एल० टी०, पीएच० डी०

अनुवादिका
श्रीमती सुमित्रा भार्गव
एम० ए०, डी० टी०

लखनऊ
अशोक प्रकाशन
१९५५

भूमिका

राष्ट्रभाषा हिन्दीमें विविध प्रकारके साहित्यकी बड़ी कमी रही है, किन्तु कुछ वर्षोंसे अन्य भाषाओंसे अनुवादका कार्य बड़ी तेज़ीसे चल पड़ा है और यह हिन्दी भाषा के विभिन्न अंगोंको सुपुष्ट, सुगठित करनेमें सहायक हो रहा है। प्रस्तुत पुस्तिका डी० जीवनायकम की प्रसिद्ध पुस्तक "दि थ्योरी ऐंड प्रैक्टिस ऑफ़् एजुकेशन" के द्वितीय खंडका अनुवाद है। आशा है पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी।

——सुमित्रा भार्गव

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ

विषय-सूची

विषय			पृष्ठ
२५. सामूहिक मस्तिष्क	...	...	१८७ (ख)
२६. अन्तर्राष्ट्रीय ज्ञान	...	...	१९१ (ख)
२७. शिक्षा के अचेतन	...	...	१९६ (ख)
२८. अनुशासन	...	...	१९८ (ख)

१

मनोविज्ञान और शिक्षा

मनोविज्ञान मस्तिष्क-सम्बन्धी विज्ञान है, और अध्यापकका कार्य विकसते और बढ़ते हुए मस्तिष्कसे सम्बन्ध रखता है, अतः अपने व्यवसायको सफल बनानेके लिए मनोविज्ञानसे सहायताकी आशा करना अध्यापकके लिए स्वाभाविक है। वास्तवमें यह वह विज्ञान है, जिस पर उसकी कला आश्रित है। इस आश्रयके कारण अध्यापक मनोविज्ञानसे अत्यधिक आशा रखने लगे हैं। मनोविज्ञानकी न्यूनताओं और अधिकांशमें अध्यापकके व्यवसायकी प्रकृति के कारण ऐसी आशामें असफलताकी सम्भावना है। मनोविज्ञान एक अपूर्ण विज्ञान है। 'नवीन' मनोविज्ञानके प्रादुर्भावके कारण शायद हम लोग सोच सकते हैं कि हमारे मस्तिष्क-सम्बन्धी ज्ञानमें आश्चर्यजनक क्रान्ति हो रही है, परन्तु यह सच नहीं है। हमारा ऐसा अधिकांश ज्ञान अरस्तू के समान है और अधिकतर बड़े दार्शनिक इसे प्रकट कर चुके हैं। अभी हालमें ही इस विज्ञानने काल्पनिक दर्शनके पंजेसे छुटकारा पाकर प्रयोग-प्रणाली (experimental method) को अपनाया है। फिर भी यह कहना सत्य है कि मनोविज्ञानने इन पचास वर्षोंमें जो उन्नति की है वह पिछले दो हजार वर्षोंकी उन्नतिसे कहीं अधिक है। फिर भी इसकी भ्रूण-अवस्था पर आश्रित होना टूटे तिनकेके सहारेके समान है। अभी शुद्ध विज्ञान रूपान्तर अवस्थामें ही है और इस पर आश्रित प्रयुक्त विज्ञानका तो अभी निर्माण ही हो रहा है। स्वभावतः शिक्षण इन प्रयुक्त विज्ञानोंसे मौलिक सहायताकी आशा करता है। सामयिक व्यावहारिक क्रियाओंमें मनोवैज्ञानिक सत्योंकी बढ़ती हुई आवश्यकताओंके कारण प्रयुक्त विज्ञानकी शाखाएं भी बढ़ रही हैं। वयस्क मस्तिष्ककी सूक्ष्म परीक्षा पर आधारित होनेके कारण कुछ समय पहले तक

मनोविज्ञान व्यक्तिगत और बौद्धिक था। जब इसका प्रयोग शिक्षामें किया गया तो इसके व्यक्तिवादके कारण रूसो की प्राकृतिक शिक्षाका जन्म हुआ, और इसके बौद्धिक रूपके कारण अनुशासनवादियोंकी भूलोंका। क्योंकि मनुष्यको एक सामाजिक सदस्यकी भांति रहने और जीवन व्यतीत करनेके लिए शिक्षित होना है, और चूंकि एक बालक मनुष्यसे उतना ही भिन्न है जितना मेढकका बच्चा मेढकसे। अतः शिक्षा-सिद्धान्तोंको सामाजिक मनोविज्ञान और बाल-मनोविज्ञानके विकासकी प्रतीक्षा करनी ही होगी।

मनोविज्ञान एक विज्ञान है और अध्यापन एक कला। कलाकी उत्पत्ति सीधे विज्ञान से नहीं होती। एक मध्यस्थ आविष्कारक मस्तिष्कको अपनी मौलिकताके द्वारा इसे कार्य रूपमें परिणत करना होगा। इसका यह अर्थ नहीं कि मनोवैज्ञानिक और अध्यापकके बीच एक मध्यस्थकी आवश्यकता है, जिसका कार्य मनोवैज्ञानिक सत्योंमें से शिक्षक-सम्बन्धी नियम बनाना हो। यदि अध्यापक स्वयं उचित व्यवस्था न करके दूसरोंके बनाए नियम ग्रहण करता है तो शीघ्र ही उसका व्यवसाय बुद्धिहीन प्रणालीके गर्तमें गिर जायगा। मध्यस्थ विज्ञान उसकी चेतनासे सम्बन्ध स्थापित न करके केवल उससे बाहरी कार्योंसे सम्बन्ध स्थापित करेगा। तब वह स्वतंत्र नहीं बल्कि अपनी प्रणालीका दास हो जायगा। यह नहीं समझना चाहिए, चूंकि मनोविज्ञान मस्तिष्कके नियमोंका विज्ञान है, अतः इसमें से हमें कक्षाके तात्कालिक प्रयोगके लिए निश्चित कार्य-क्रम, व्यवस्थाएं तथा शिक्षा-प्रणाली मिल जायंगी। शिक्षक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तोंको ज्यों-का-त्यों लेकर अपने कार्यमें सफलता की आशा नहीं कर सकता। तर्कशास्त्रने मनुष्यको तर्क करना और नीतिशास्त्रने उसे उचित व्यवहार करना नहीं सिखाया। विज्ञान तो केवल वह नियम बनाता है जिसके अन्तर्गत कलाके नियम आ सकें। अनुसरणकर्त्ताको चाहिए कि वह इन नियमोंका न तो अतिक्रमण करे और न उन्हें तोड़े ही। परन्तु उन्हीं नियमोंके अन्तर्गत भी कई प्रकारसे ठीक रहा जा सकता है। कक्षाके अन्दर निरीक्षण करनेसे और सहानुभूतिके कारण शिक्षा-विज्ञान उत्पन्न हुआ, मनोविज्ञानके आदेशोंसे नहीं। मनोविज्ञानका अन्त शिक्षा-विज्ञानका केवल प्रारम्भ है। पूर्वानुवर्ती ज्ञानके नियमका कहना है कि प्राचीन ज्ञान नए ज्ञानको प्रभावित और परिपाक (assimilate) करता है। इस नियमके प्रभावमें आकर अध्यापक यह शिक्षा ग्रहण करता है कि नवीन ज्ञानके प्रत्येक अंशको तैयार करना होता है, उसे प्राचीन ज्ञानसे सम्बद्ध करके प्रस्तुत करना होता है, तथा उनके आन्तरिक सम्बन्धोंको प्रकट करने के लिए पूरे पाठका संक्षिप्त परन्तु सारपूर्ण वर्णन करना होता है।

इसके अतिरिक्त शिक्षा-उपपत्तिकी सीमा मनोविज्ञानका उल्लंघन भी करती है।

मनोविज्ञान चूंकि विज्ञान है अतः सत्योंका मूल्य निर्धारण नहीं करता, वरन् उनको उनके वास्तविक रूपमें ही समझता है। इसकी वैज्ञानिक रुचि दुराचार और सदाचार दोनोंसे उत्तेजित होती है। नीतिशास्त्र अवांछनीयको रद्द करता और वांछनीयको ऊपर उठाता है। मनोविज्ञान यह नहीं कर सकता। अतः यह शिक्षाके वास्तविक उद्देश्यके विषयमें कुछ भी नहीं कह सकता है। अतः 'मनोवैज्ञानिक शिक्षा' तो विरोधात्मक बात है, क्योंकि यह तो बुरी बातोंका दमन और अच्छी बातोंको उन्नत किए बिना बालकको स्वतंत्र रूपसे बढ़ने देगा। अतः शिक्षामें नीतिशास्त्रका ही नहीं वरन् तर्कका भी दखल है। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि अधिकसे अधिक मनोवैज्ञानिक ज्ञान, पढ़ाए जानेवाले विषयके ज्ञान का स्थानापन्न नहीं हो सकता।

यह भी कहा जाता है कि अध्यापकका जो दृष्टिकोण बालकके प्रति होता है, वह स्थूल और नैतिक होता है तथा मनोवैज्ञानिकका सूक्ष्म और विश्लेषणात्मक, अतः दोनों एक-दूसरेके विपरीत हैं। इसको एक डॉक्टरके उदाहरणसे समझाया जा सकता है जो सड़क पर एक पागलको देखकर इलाज करनेकी दृष्टिसे उसमें रुचि रखता है। यदि उसकी व्यक्तिगत बातें उसके इलाज पर कोई प्रभाव न डालती हों तो उनमें उसे कोई रुचि नहीं। वही डॉक्टर घर जाकर अपनी छोटी लड़कीसे मिलता है और स्नेही पिता बन जाता है, वैज्ञानिक धारणा उससे दूर भाग जाती है। इसी प्रकार एक मनोवैज्ञानिकका कार्य सामान्य (generalised) मस्तिष्कसे सम्बन्धित होता है, और अध्यापकका कार्य व्यक्तिगत मस्तिष्क तथा व्यक्तित्वसे सम्बन्धित होता है, और उसके उद्देश्यसे उसे सहानुभूति या अरुचि भी होती है। अध्यापकको प्रायः इन दो धारणाओंके बीच भी झूमना पड़ता है। यदि उसे एक कविता कंठस्थ करानी है तो या तो वह यह आशा करे कि उसका जोश और आवेग काम दे जायगा या वह याद करानेके लिए मनोवैज्ञानिक रीतियां काममें लाए। यह दो विरोधी धारणाएं रखना कठिन है। हम बालकोंको मानसिक (psychic) मशीन नहीं समझ सकते और न उनमें व्यक्तिगत रुचि रख सकते हैं। अतः यह कहीं अधिक अच्छा होगा कि अध्यापक एक अमूर्त मनोवैज्ञानिकके समान अपनी अभिवृत्ति न रखे, वरन् प्रत्येक वस्तुका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करनेकी योग्यता प्राप्त करे और बच्चोंके मनको समझनेकी चेष्टा करे। वास्तवमें भविष्य-कथन, प्रत्यक्षीकरण (perception) तथा स्थूल परिस्थितियोंका सामना करनेकी दक्षताकी आवश्यकता है, मनोवैज्ञानिक नियमों की नहीं।

कुछ भी हो, मनोविज्ञान प्रयोगका क्षेत्र कम कर देता है, क्योंकि यह पहलेसे ही बता

देता है कि कौन-सी प्रणाली ग़लत होगी। जब हमें इस बातका पता रहता है कि हम जिस प्रणालीका प्रयोग कर रहे हैं उसका आधार कोई सिद्धान्त है तो हममें आत्मविश्वास आ जाता है और हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि हम क्या कर रहे हैं और हम किस स्थिति में हैं। बालक-सम्बन्धी दो दृष्टि होनेके कारण हमें कुछ स्वतंत्रता भी मिल जाती है, और जो कुछ व्यावहारिक चातुर्य हमारे पास है उसको काममें लानेसे उसके मस्तिष्ककी आन्तरिक कार्यविधिका पता चल जाता है। शिक्षार्थीकी प्रकृति, शिक्षक तथा शिक्षाके वातावरणसे कैसे प्रभावित होता है, यह मनोविज्ञान बताता है। वह यह भी बता सकता है कि ज्ञान-प्रणालियोंका निर्माण कैसे होता है। अतः यह शिक्षा-प्रणालीमें वास्तविक सहायता पहुंचा सकता है।

२

मनोविज्ञान

मनोविज्ञानकी परिभाषा कई प्रकारसे की गई है। कुछ समय पहले इसे 'आत्माका विज्ञान', 'मनका विज्ञान', बादमें 'चेतना-विज्ञान' और फिर 'व्यवहारका विज्ञान' समझा जाता था। पहलेको इस कारण त्याग दिया गया कि आत्मा एक दैविक शब्द है और उन समस्याओंको सुझाती है जिनके विषयमें अभी कुछ पता नहीं लग सका है। 'मनके विज्ञान' से एक स्थिर दशाका ज्ञान होता है, मानो किसी यंत्रका निरीक्षण करना हो, परन्तु वह ऐसी कोई चीज़ नहीं है। मनोविज्ञानमें वस्तुओंकी अपेक्षा कार्योंका अध्ययन अधिक है। 'चेतना-विज्ञान' पद पूरे क्षेत्रके लिए व्यापक नहीं है, क्योंकि हमें अचेतन कार्योंका भी अध्ययन करना होता है। इसी प्रकार 'व्यवहार' चेतनाको छोड़ देता है, अतः वह भी विषयके एक अंगको ही आवृत करता है, वह भी व्यापक नहीं है। अधिकांश परिभाषाएं दोषपूर्ण होनेसे ग़लत थीं, और मनोविज्ञानकी प्रकृति (nature) तथा विस्तार (scope) को न समझा सकनेकी असफलताको इस प्रकार कहा गया है, 'पहले मनोविज्ञानने अपनी आत्मा नष्ट कर दी, फिर मन और बादमें चेतना। इसमें एक प्रकारका व्यवहार अभी है।' परिभाषाके पीछे पागल होना व्यर्थ है। जिस प्रकारका ज्ञान वह प्राप्त करनेकी चेष्टा करता है, उसीके द्वारा हम मनोविज्ञानको समझा सकते हैं। यह वह विज्ञान है जो हमारी मानसिक क्रियाओंका वर्णन, वर्गीकरण तथा व्याख्या करता है। वह यह जाननेका प्रयास करता है कि हम कैसे निरीक्षण करते हैं, कैसे सीखते हैं और कैसे स्मरण, कल्पना तथा चिन्तन करते हैं। हमारे संवेग और अनुभूति क्या हैं? कार्यके लिए कौनसे संवेग, मूलप्रवृत्तियां और प्राकृतिक तथा प्राप्त प्रवृत्तियां हैं? जैसे-जैसे हम बढ़ते जाते

हैं हमारी प्राकृतिक शक्ति तथा प्रवृत्ति किस प्रकार विकसित और संगठित होती है ? मनोविज्ञान बालक तथा वयस्कसे ही नहीं वरन् पशु और सामान्य तथा विक्षिप्त मनुष्यों से भी सम्बन्ध रखता है।

मनोवैज्ञानिक तथ्यों तक पहुंचनेकी दो प्रणाली हैं—

(१) ज्ञाता-सम्बन्धी। (२) विषय-सम्बन्धी।

(१) ज्ञाता-सम्बन्धी प्रणाली.

मनोवैज्ञानिक तथ्यों तक पहुंचनेकी दो प्रणाली हैं, ज्ञाता-सम्बन्धी और विषय-सम्बन्धी। ज्ञाता-सम्बन्धी प्रणालीको अन्तर्दर्शन भी कहते हैं। इसमें व्यक्तिके द्वारा अपनी चेतन क्रियाओंका निरीक्षण होता है। मन अपनेको ही देखता है। ज्ञात करनेके रूपमें मन क्रियाशील होता है और ज्ञात रूपमें निष्क्रिय। एक रूपमें मन निरीक्षणका ज्ञाता होता है और दूसरेमें निरीक्षणका विषय। यह तो स्वाभाविक है कि निरीक्षक अंग अपना ही निरीक्षण नहीं कर सकता। यह उसी प्रकार होगा जैसे हम लालटेनको उलटकर उसके नीचेके अन्धकारको देखना चाहें कि वह कैसा लगता है। और फिर जो बात क्षणिक होती है उसका सूक्ष्म-निरीक्षण अथवा विश्लेषण (analysis) नहीं हो सकता; क्योंकि कुछ देर तक निर्विघ्न रूपसे क्रिया होते रहने पर ही हम अपनी मानसिक दृष्टिको अन्तर्दर्शनके लिए घुमा सकते हैं। यह मनुष्य-प्रकृतिके विरुद्ध भी है, क्योंकि वह उद्देश्य तक पहुँचकर लौटना नहीं वरन् आगे ही बढ़ना चाहती है। इस प्रणाली में एक दोष भी है। व्यक्तिगत धारणाओंके कारण विभिन्न व्यक्ति एक ही बातको विभिन्न प्रकारसे सूचित करते हैं। उसका कारण यह है कि हमारे निरीक्षण बहुत सूक्ष्मतासे हमारी भावनाओं और मतोंसे रंगे रहते हैं।

(२) विषय-सम्बन्धी प्रणाली.

विषय-सम्बन्धी प्रणालीको निरीक्षण अथवा परीक्षण प्रणाली भी कहते हैं। इस प्रकारके निरीक्षणमें निरीक्षक अपना नहीं वरन् किसी और वस्तुका निरीक्षण करता है। हम पशु, विक्षिप्त तथा बाल-मनोविज्ञानमें उनके व्यवहारोंके द्वारा ही उनके मनके विषयमें जान सकते हैं। परीक्षण-विधि विषय-सम्बन्धी प्रणालीकी एक शाखा है। हम एक तत्वको दूसरे तत्वसे अलग करके ही उसकी शक्तिको जानते हैं। जैसे एक व्यक्ति एक कविताको कंठस्थ करता है, जब कि वह थका हुआ नहीं है; उसी प्रकारकी दूसरी कविता को वही मनुष्य सारे दिनका कार्य करनेके बाद करता है। अब इस बातका ध्यान रखा जाय

कि याद करनेमें कविताको कितनी बार दोहराया गया है, तब याद करनेकी प्रणालीका कुछ पता लग सकता है। यह सफलताके प्रयोग हैं और इनमें फलकी माप हो सकती है। जब मानसिक क्रियाओंके शारीरिक सहकारीको ढूंढ़नेकी विधियों पर प्रयोग होता है तब प्रक्रियाओंका निरीक्षण होता है। जैसे बिल्लीके क्रोधका प्रभाव उसके पाचनकी शारीरिक क्रिया पर क्या होता है, इसका एक्सरेके द्वारा पता लगाया जा सकता है। अतः प्रत्येक मानसिक परीक्षा मानसिक घटनाओंके निरीक्षणकी एक विषय-सम्बन्धी विधि है। इस विधिमें भी ज्ञाता-सम्बन्धी विधिके दोष हैं। बर्ट्रेंड रसेल का कहना है कि जिन पशुओंका निरीक्षण हुआ है, सबने 'निरीक्षकोंकी राष्ट्रीय विशेषताओंको प्रदर्शित किया है। अमेरिकनों द्वारा निरीक्षित पशु शोर-गुलके साथ पागलकी तरह भागते और दैवयोगसे वांछित फल पा जाते हैं। जर्मनोंके द्वारा निरीक्षित पशु शान्त बैठते और सोचते हैं तथा अन्तमें अपनी आन्तरिक चेतनाके द्वारा समस्याका हल निकाल लेते हैं'।

चेतना

हम साधारणतया यह कह सकते हैं कि मनोविज्ञानके अध्ययनका विषय चेतना है। हमारे अन्दर सदा चेतनाका एक स्रोत-सा बहता रहता है। इसका प्रारम्भ गर्भमें और अन्त क़ब्रमें होता है। यह स्रोत इसलिए भी है कि हम मस्तिष्कको एक क्रियाकी तरह देखते हैं, वस्तुकी तरह नहीं। यह सदा परिवर्तनशील तथा गतिशील है। इसका कोई बांध नहीं। जब हम सोचना बन्द कर देते हैं तो यह केवल अपना मार्ग बदल देता है। जल-स्रोतकी भांति यह स्रोत भी उद्गमसे अन्त तक अटूट है। यदि हम किसी क्षण भी अपने मनमें देखें तो हम इसका एक ही अंश देख पाते हैं, तुरन्त यह बदल जाता है और इसके स्थान पर दूसरा आ जाता है। इस प्रकार यह हटता और बदलता रहता है। पिछले क्षण का विचार जाकर फिर लौटता नहीं। इस स्रोतकी सतह चिकनी नहीं, वरन् ऊंची-नीची है। इसीलिए हम चेतनाकी लहरोंकी बात करते हैं। हमारे मस्तिष्कमें अन्य वस्तुओंकी अपेक्षा एक वस्तु सदा अधिक प्रधान रहती है। अपने जीवनके किसी क्षणमें हम अपने मनमें झांककर देखें। उदाहरणके लिए, हम किसी दुकान पर चाकू खरीदने गए हैं। पहले तो सारी दुकान हमारी चेतनामें रहती है, परन्तु जब हमें चाकू मिल जाता है, तो मस्तिष्क को केवल इसीकी चेतना रहती है और दुकानको हम भूल-सा जाते हैं। फिर यदि किसी किताब पर दृष्टि पड़ गई तो पहलेका सब भूल जाता है। अतः चेतनाकी उस क्षेत्रसे तुलना की जाती है जिसमें केन्द्र और तट हैं। ये दोनों प्रायः बदलते रहते हैं, जैसे

उपर्युक्त उदाहरणमें एक क्षणके लिए चाक़ू केन्द्र बन जाता है और फिर उसी स्थान पर किताब आ जाती है और चाक़ू तट पर आ जाता है। कुछ लोग चेतनाकी तुलना गुम्बद से करते हैं। जिस विषय पर ध्यान स्थित है वह एक क्षणके लिए सर्वोच्च रहता है और अन्य सब नीचे। जैसे एक क्षणके लिए दुकान ऊपर थी, फिर चाक़ू ऊपर हो गया और उसके बाद किताब ऊपर हो गई, पहलेवाले नीचे गिरते गए।

चेतनाके ही द्वारा हम अपने वातावरणसे अवगत रहते हैं, अतः इसे सचेतता भी कहते हैं। यदि हम इसका विश्लेषण करें तो पता लगेगा कि इसके तीन भाग हैं। उदाहरण से इसका पता लग सकता है। मान लीजिए कि हमें यह बताया गया कि कॉलेज हॉलमें कोई दुर्भिक्ष पर भाषण देगा। दुर्भिक्ष-पीड़ित देशके विषयमें जानकारी न होनेसे हम उदासीनसे होकर हॉलमें जाकर बैठ जाते हैं। परन्तु वक्ता पूर्णज्ञाता और प्रभावशील है। हमें रुचि उत्पन्न हो जाती है। वह दुर्भिक्षकी पीड़ाका चित्र खींचकर हमारी सहानुभूति प्राप्त करनेका प्रयास करता है। हमें दया आ जाती है। अन्तमें वह कुछ ठोस मदद मांगता है और हम शक्ति भर दे देते हैं। हमें इसमें तीन प्रकारकी चेतनाका पता चलता है। मस्तिष्कको दुर्भिक्ष-पीड़ित प्रदेशके सम्बन्धमें ज्ञान मिलता है---यह ज्ञानात्मक चेतना है; पीड़ाके लिए दुःख और सहानुभूतिका अनुभव प्राप्त करता है—यह भावात्मक है; ज्ञान और भावनाके फलस्वरूप क्रिया अथवा इच्छा होती है। ज्ञान, भावना और क्रिया यह मानसिक स्रोतके अंग हैं। किसी भी मानसिक क्रियामें यह तीन प्रारम्भिक तत्व होते हैं। मैंने सुना कि मेरे मित्रने परीक्षा पास की—यह हुआ ज्ञान। मुझे प्रसन्नता हुई—यह हुई भावना। मैंने बधाईका तार भेजा---यह क्रिया हुई। यह मस्तिष्कके तीन गुण हैं, जो उसी प्रकार अलग नहीं किए जा सकते जैसे किसी पत्थरमें से उसका बोझ, आकार और रंग अलग नहीं किया जा सकता। मनुष्य जीवन अपनेको चिन्तन, भावना और क्रियाके द्वारा व्यक्त करता है।

चेतनाके इस स्रोतके दो कार्य हैं। यह ज्ञान तथा क्रियाकी ओर ले जाता है। समय-समय पर इन दोनों कार्योंकी महत्ता घटती-बढ़ती रही है। प्राचीनकालमें ज्ञानप्राप्ति पर अधिक ज़ोर दिया जाता था, परन्तु आजकल क्रिया पर। दार्शनिकोंका कहना है कि मनुष्यका परम महत्त्व सम्पूर्ण (Absolute) और सनातनको जान लेना है। उसका विशेष उद्देश्य है सैद्धान्तिक जीवन अर्थात् गर्मी और नैत्यिक झगड़ोंसे हटकर शान्ति और मननके जीवनमें चले जाना। यह प्लेटो, अरस्तू तथा अन्य शास्त्रीय परम्पराओंका आदर्श रहा है। इसने कार्यशील जीवनको नीचा करके मननके जीवनको महत्त्वपूर्ण बताया।

यह ठीक समझा गया कि सुख और आनन्दकी बातोंको बिल्कुल ही नष्ट कर दिया जाय।

अतः यह स्वाभाविक था कि मस्तिष्कका ज्ञान बढ़ानेकी ओर अधिकसे अधिक ध्यान दिया जाय। प्लेटोका कहना था कि चेतनाका स्रोत हमारे पूर्वजन्मकी स्मृति थी। डिस्कार्टीज़ कहता था कि यह हममें जन्मसे है, लॉक ने इन जन्मजात (innate) विचारोंकी आलोचना की। उसने जन्मके मस्तिष्ककी एक कोरे काग़ज़से तुलना की, जिसे बादमें इन्द्रियां (senses) लिखकर भर देती हैं। मस्तिष्क तथा इन्द्रियोंमें प्रारम्भमें कुछ नहीं होता। इन्द्रियां ज्ञानके द्वारा हैं। लॉक ने कहा कि मस्तिष्कका अध्ययन करनेके लिए अन्तरावलोकन की ही विधि है। जब उसने अन्तरावलोकन किया तो उसे पता चला कि मस्तिष्क निरन्तर परिवर्तित होता रहता है। वह इस परिवर्तनके नियमोंको न समझा सका, अतः उसने इसकी कई अवस्थाएं बताईं। इसको बादमें मनोविज्ञानके 'एसोसिएशनिस्ट' (Associationist) सम्प्रदाय ने समझाया। यद्यपि लॉक ने जन्मजात विचारोंको सफलतापूर्वक अस्वीकार कर दिया, परन्तु वह जन्मजात आन्तरिक शक्तियों (innate faculties) को अस्वीकार न कर सका। उदाहरणके लिए वह यह तो समझा सका कि मस्तिष्कको 'लाल' का ज्ञान कैसे हुआ, परन्तु वह यह न समझा सका कि इसमें 'रंग' का बिचार कैसे आया। इसके लिए उसने मस्तिष्कको एक शक्ति दी, जिसको उसने 'पृथक्करण की शक्ति' (abstraction) का नाम दिया। नाम रखना किसी वस्तुको समझाना नहीं है यह कहना कि मस्तिष्क याद रख लेता है, क्योंकि इसमें स्मरण-शक्ति है, बेकार है। इस प्रकार लॉक को मस्तिष्कके लिए बहुत-सी विभिन्न शक्तियां निकालनी पड़ीं।

हर्बार्ट ने भी लॉककी यह बात मान ली कि जन्मके समय मस्तिष्क नग्न होता है। उसका कहना था कि यह सम्पूर्ण एक है। इसके अलग-अलग भाग नहीं हैं और इसमें केवल दो गुण हैं, प्रभावों पर प्रतिक्रियाकी शक्ति और निष्क्रिय अवरोध (passive resistance)। पिछले गुणके कारण इसमें परिवर्तन कम होते हैं और परिवर्तन होने पर पूर्व अवस्था पर लौटना कठिन हो जाता है। जन्मके मस्तिष्कके इस रूपमें प्रारम्भिक समानताका सिद्धान्त सम्मिलित है। हर्बार्ट के अनुसार सब मस्तिष्क समान उत्पन्न होते हैं। अतः एक अपूर्व बुद्धिका और एक मिट्टी ढोनेवाले गंवारका मस्तिष्क एक ही सतहसे प्रारम्भ होता है। इसका अर्थ यह है कि मस्तिष्क बाहरी बातोंसे ही बनता है और इसमें कोई जन्म जात विचार नहीं होते। यहां तक हर्बार्ट और लॉक एकमत हैं। परन्तु हर्बार्ट ने जन्मजात आन्तरिक शक्तियों (innate faculties) को भी रद्द कर दिया। उस समय तक

समस्या यह थी कि मस्तिष्क वह 'विचार' कैसे बनाता है जिससे चेतना बनती है। हर्बार्ट ने इसे उलट दिया। उसने विचारोंसे प्रारम्भ किया और अब मस्तिष्कके लिए खोज होने लगी। उस समय तक मस्तिष्कके द्वारा विचारोंको समझानेमें दार्शनिक असफल हुए थे। हर्बार्ट ने मस्तिष्कको विचारोंके द्वारा समझानेकी चेष्टा की। उसके अनुसार मस्तिष्क विचारोंको नहीं बनाता, वरन् विचारोंसे मस्तिष्क बनता था। जहां लॉक ने मस्तिष्कके साधारण कामके लिए आन्तरिक शक्तियां लगाई थीं, हर्बार्ट ने इस कार्यको विचारोंके हाथ में सौंप दिया, और फिर वह यह समझानेके लिए आगे बढ़ा कि 'विचार' किस प्रकार इस कार्यको करते हैं।

हर्बार्ट का कहना था कि संवेदन वह इकाई है जिसके द्वारा मानसिक संसार बनता है। हम अपनी अनेक इन्द्रियोंके द्वारा बाहरी दुनियांके विषयमें संवेदन प्राप्त करते हैं। इस प्रकार शक्करके एक ढेरमें से प्रकाशकी किरणें आंखतक पहुंचकर चक्षुनाड़ी (optic nerve) पर पड़ती हैं, जो उसे मस्तिष्कके दृष्टिक्षेत्रमें ले जाती हैं और फिर वह श्वेतताके भावकी प्रतिक्रिया करता है। जब हम उसका स्वाद लेते हैं, या हाथमें लेकर बोझका पता लगाते हैं तब भी इसी प्रकारकी प्रक्रिया होती है। इस प्रकार शक्करके सम्बन्धमें श्वेतता, मिठास और बोझका विचार हो जाता है। इस क्रियाको दोहरानेकी आवश्यकता नहीं। इसीसे मिलती हुई अवस्थामें यह बातें फिर मस्तिष्कमें आ जाती हैं, क्योंकि वहां ये जमी रहती हैं। जैसे मान लीजिए, हमारे सामने काली शक्करका ढेर आ जाता है। दोनों शक्करका स्वाद मीठा है यह «समान» विचार है। ये दोनों विचार आपस में «मिल जाते हैं» और फलस्वरूप इनका प्रभाव गहरा हो जाता है। यही बात ढेर या बोझके साथ है। परन्तु काला रंग «भिन्न» है, अतः वह श्वेतता के विचारको «रोक देता है»। यह भी हो सकता है कि सफ़ेद शक्कर बोतलमें थी और काली बोरीमें। यह दोनों «विभिन्न» विचार हैं, अतः आपसमें उलझ जाते हैं और «भावना-ग्रन्थि» (complex) बनाते हैं। वस्तु-सम्बन्धी विचार प्रायः इसी प्रकार बन जाते हैं, इसीलिए हर्बार्ट ने कहा है कि 'वस्तु-सम्बन्धी विचार अपने गुणोंकी भावना-ग्रन्थि हैं।' शक्करका विचार एक भावना-ग्रन्थि है जो उसके मिठास, श्वेतता, और ढेरके गुणों से बनी है, जो विचार एक बार बन जाते हैं वह काहिल नहीं रहते। वह दूसरे विचारों पर कार्य करते तथा समान या मिलते हुए विचारोंसे मित्रता करते हैं। जो विचार कार्य-कारण सम्बन्ध रखते हैं और एक समूह बना लेते हैं वह पूर्वानुवर्त्ती ज्ञानका ढेर (apperception masses) कहलाते हैं। हमारा मानसिक जीवन इन ढेरोंसे भरा

है। हर्बार्ट का विश्वास था कि इच्छा भी एक प्राप्ति है और इन विचारोंके फलस्वरूप उत्पन्न होती है। उसने सोचा कि सबसे बड़ी आवश्यकता विचारों की है। मस्तिष्कमें इसको सम्पूर्ण करनेके लिए उसने पांच नियमों (formal steps) वाली शिक्षा बनाई। इस प्रकार मस्तिष्कमें ज्ञानके विकास पर जोर दिया। यह शिक्षाका जर्मन आदर्श था। इसका सबसे बड़ा उद्देश्य था विश्वविद्यालयोंसे अन्वेषणकारी बाहर भेजना। वह समस्या के निश्चित होने पर उस पर ऐसा कार्य करते थे कि थोड़ेसे ही समयमें एक नया सत्य निकालकर उस विषयके ज्ञानको बढ़ा देते थे।

हर्बार्ट ने भी यह कहा कि ज्ञानके द्वारा कार्यकी ओर बढ़ना चाहिए। उसने कहा 'मनुष्यकी योग्यता इसमें है कि वह क्या करता है, न कि इसमें कि वह क्या जानता है।' परन्तु उन्नतिके आगमनके कारण मनुष्यको, कार्यकी ओर अग्रसर करानेके लिए मस्तिष्क को एक साधन समझा जाने लगा है। वह जीवनको अपने वातावरणके अनुकूल बनाता है। वृक्ष और जीवधारियोंमें बहुत कुछ समानता है, परन्तु कुछ मौलिक विभिन्नताएं हैं; जैसे वृक्षोंमें अपने वातावरणके अनुकूल बननेकी शक्ति नहीं है। यह अन्तर उनकी शरीर-रचना में भी प्रतिबिम्बित होता है। वृक्षोंमें पांच क्रियाएं (systems) हैं—पाचन, रुधिर-परिचलन, श्वास, जनन तथा मलत्याग (excretory)। ये जीवधारियोंमें भी होती हैं। यह «निर्वाह» (maintenance) क्रियाएं कहलाती हैं। इसमें दो क्रियाओंकी कमी है—मांसल किया (muscular) तथा नाड़ी-मंडल (nervous system)। ये «यथाकाल व्यवहार» वाली (adaptive) हैं, जो शरीरको वातावरणके अनुकूल बना लेती हैं। यदि रक्षागृह (conservatory) ठंडा हो जाए तो कोमल पौधा सूखकर मर जाता है। परन्तु यदि बिल्लीको सर्दी लगती है तो वह गरम स्थान ढूंढ़ लेती है, क्योंकि नाड़ी-मंडलके द्वारा ठंडका पता लग जाता है और परिवर्तन चाहकर मांसपेशियोंके द्वारा स्थान-परिवर्तन कर लेती है। मनुष्य, जिनके पास बिल्लीसे भी अधिक उच्च नाड़ी-मंडल है, प्रकृतिके अनुकूल ही अपनेको नहीं बना लेते वरन् प्रकृतिको भी अपनी आवश्यकताके अनुकूल बना लेते हैं। ये परिवर्तन प्राय: भोजनकी खोजमें होते हैं। अत: यह स्वाभाविक है कि मुंह सबसे आगे हो और अन्य ज्ञानेन्द्रियां उसके आसपास। इस प्रकार मस्तिष्क का प्रारम्भ हुआ। अत: चेतनाको एक विशेष प्राणिविद्या-सम्बन्धी सम्पूर्णता (biological perfection) समझा जायगा और यदि कुछ लाभप्रद कार्य नहीं करेगा तो यह व्यर्थ रहेगा। यहां हमारे संवेदन हमें आकर्षित करते हैं, हमारी स्मरणशक्ति हमें सावधान तथा उत्साहित करती है, हमारी भावना हमें प्रवृत्त करती है और हमारे विचार हमारे

व्यवहारको मर्यादित करते हैं, जिससे हम उन्नति करें और दीर्घायु हो सकें। अतः इससे हमें यह ज्ञात हुआ कि मनुष्य एक व्यवहार-कुशल (practical) प्राणी है, जिसे मस्तिष्क इसलिए दिया गया है कि वह सांसारिक जीवनके अनुकूल बन सके। अतः मस्तिष्क हमें कार्य करनेके लिए दिया गया है, केवल ज्ञान एकत्रित करनेके लिए नहीं, और शिक्षा व्यवहारके लिए होनी चाहिए। यह इंगलैंडकी शिक्षाका आदर्श है।

मन और मस्तिष्क

मन और शरीरका सम्बन्ध एक पहेली रहा है। डिस्कार्टीज़ ने पाइनील ग्रन्थि (pinaeal gland) को मनका स्थान बताया, दूसरोंने हृदय का, कुछने आंतोंका और अन्यने तिल्लीको बताया। अब यह पता चल गया है कि मनका अंग मस्तिष्क है। इसके बहुत-से प्रमाण भी दिये जा सकते हैं। साधारण निरीक्षण बताता है कि हमें अपने चारों ओर की बाह्य दुनियांका ज्ञान या चेतना मूलतः अपनी इन्द्रियोंके प्रयोगके कारण ही होता है। एक जन्मान्धको दृष्टि-संवेदनका ज्ञान नहीं हो सकता। इन्द्रियां शारीरिक वस्तु हैं, मानसिक नहीं। अतः चेतनाके सबसे सरल और मौलिक कार्य किसी शारीरिक अंगकी सत्ता और कार्यसे सम्बन्ध रखते हैं। दूसरे, मनके भाव किसी शारीरिक गति द्वारा प्रदर्शित होते हैं। हम घंटी सुनते हैं तो इसकी आवाजकी चेतना होती है और वही हमें दरवाज़ा खोलनेको प्रेरित करती है। यह प्रसिद्ध है कि मनकी अवस्था मस्तिष्ककी अवस्था से बनती है। थके हुए मस्तिष्कका अर्थ है, सुस्त मन; एक ताज़ा मस्तिष्कका अर्थ है, तेज़ मन। उत्तेजनाओंका प्रभाव मन पर पड़ता है, तथा दुःख जैसे संवेग और भावनाओंका प्रभाव शरीर पर पड़ता है। घूंसे और चोटसे चेतना नष्ट हो जाती है, और यदि मस्तिष्क को अनुचित रूपसे रुधिर जाने लगता है, जैसे तेज़ ज्वरमें, तो ज्ञानशून्यता हो जाती है, और यदि मस्तिष्कको रुधिर जाना बन्द हो जाय, तो मूर्छा आ जाती है। मेढक जैसे निम्न श्रेणीके जानवरोंके शरीरमें से यदि मस्तिष्क निकाल लिया जाता है तो उनके व्यवहारमें विशेष परिवर्तन आ जाता है। इन सब बातोंसे मन और मस्तिष्कका निकट सम्बन्ध ज्ञात होता है। कहावत है कि 'न्यूरोसिस (neurosis) के बिना चित्तवृत्ति (psychosis) नहीं हो सकती।' यदि मस्तिष्क और नाड़ियोंके सम्बन्धमें सब प्रकारका सूक्ष्म ज्ञान होता तो हम मूल प्रवृत्तियों, विचारों तथा भावनाओंको नाड़ीकी बनावट और क्रियाके रूपमें कह सकते थे।

इस निकट सम्बन्धकी बात जल्दी ही मान ली जाती है। जब मनोवैज्ञानिक

इस सम्बन्धको सरल और साफ़ करने लगते हैं तभी मतभेद प्रारम्भ हो जाता है। जब कोई घंटी बजती है, हवामें आन्दोलन पैदा होता है, और वह आन्दोलन कान तक पहुंच जाता है, यह शरीर विज्ञान हुआ। श्रवण-नाड़ी (auditory nerve) इसको मस्तिष्कके श्रवणक्षेत्र तक पहुंचा देती है। यह मनोविज्ञान हुआ। मस्तिष्क यह कैसे करता है, यह एक रहस्य है जिसे कोई नहीं समझता। डिस्कार्टीज़ (Descartes) ने इसे समझानेकी कोशिश की और एक शासक आत्मा बताई। उसका कहना था कि मनुष्य एक स्वयं चलनेवाला यंत्र है, (automaton) जिसमें आत्मा लगी है, जो शवको ले जानेवाला भूत है। इस प्रकारका विचार मानसिक तथ्योंको इतनी दूर पहुंचा देगा कि उसका शारीरिक तथ्योंसे सम्बन्ध सदाके लिए समझके बाहर हो जायगा। कुछ लोग शरीर और मनके इस प्रकारके पृथक्करणको नहीं मानते और उनका कहना है कि मानसिक तथ्य भौतिक विज्ञान और रसायन-शास्त्रके तथ्योंमें बदले जा सकते हैं। जैसे यकृत में से पित्त (bile) निकलता है, उसी प्रकार मस्तिष्कमें से विचार, इच्छा और भावना निकलती है। हमारा शरीर ज्ञात रासायनिक तत्वोंसे बना है, और शरीरमें जो रासायनिक कार्य हुआ करता है वह इसी प्रकारके अन्य कार्योंकी भांति है, फिर मनुष्य शरीरकी मशीन भौतिक तथा रासायनिक नियमोंके द्वारा क्यों नहीं समझमें आ सकती? कुत्तेको मारनेसे चिल्लानेकी आवाज आती है, वह उसी प्रकारकी है जो घंटेको उसी प्रकारसे बजाने (मारने) से आती है। यह जीवन पर यंत्रवादके विचार हैं। इसके विपरीत जीवनवादने दिखाया है कि छोटेसे छोटा जीव भी यंत्र नहीं है, वरन् स्वतंत्र और अपना मार्ग स्वयं निश्चित करनेवाला है। अन्य जन मस्तिष्कको घटनाओं और कार्य-कारणका क्षेत्र समझते हैं, जिसका शारीरिक घटनाओंसे अभेद्य सम्बन्ध है, परन्तु उनको निश्चित करनेमें उसका कोई हाथ नहीं है। जीव-सम्बन्धी उत्साह (elan vital) या 'जीवनकी इच्छा' अथवा चेतनाकी क्रमिक उन्नति (evolution) की उत्पत्ति का विशेष समझकर ही समाधान होता है। वैसे तो मन और शरीरका विरोध सरल है। मन सत्व (spirit) है और शरीर पदार्थ। दोनों मिलाये नहीं जा सकते। मस्तिष्कको मन की मशीन समझा जा सकता है। मस्तिष्ककी क्रियासे मन उत्पन्न होता है। हम जानते हैं कि बिजली एक अस्पृश्य शक्ति है, परन्तु जिस यंत्र (dynamo) से वह पैदा होती है वह पार्थिव है। अतः मस्तिष्ककी उस यंत्रसे तुलना की जा सकती है जो ईंधन मिलने पर और गन्दगी निकल जाने पर चलता है। यह सम्बन्ध शक्तिका है। मस्तिष्क को ताजे रुधिरका ईंधन मिलता है। उस रुधिरके गुण और परिमाण अच्छी हवा

और अच्छे भोजन पर निर्भर हैं। प्रयोगसे पता चला है कि जब मन काम करता है तभी मस्तिष्कको रुधिर जाता है। एक बालकको सीधे समतल तख्ते पर लिटा दीजिए और उसे एक सवाल करनेको दीजिए, आप देखिएगा कि सिरके नीचेका भाग नीचा हो जायगा। इससे पता चला कि रुधिर मस्तिष्कको गया। अतः शरीर मनको शक्ति देता है।

नाड़ी-मंडल

नाड़ी-मंडल मानसिक क्रियाओंका शारीरिक आधार ह, अतः मनके विद्यार्थीके लिए इसका अध्ययन अनिवार्य है। हमारे नाड़ी-मंडलके दो विशेष भाग हैं—(१) केन्द्रीय नाड़ी-मंडल (मस्तिष्क, सुषुम्ना नाड़ी-मंडल cerebro—spinal system) और (२) मध्यम नाड़ी-मंडल (sympathetic N. system)। पिछला रीढ़की हड्डीके दोनों ओर स्थित है और हमारे शरीरके अंगोंका नियंत्रण करता है। इसका मानसिक जीवनसे बहुत कम सम्बन्ध है, अतः इस पर अधिक विचार करनेकी आवश्यकता नहीं। केन्द्रीय नाड़ी-मंडलके तीन विशेष अंग हैं--(१) केन्द्रीय अंग, जिसमें मस्तिष्क तथा सुषुम्ना नाड़ी हैं, (२) अन्तिम अंग (end organs) जो मांसपेशी आदिमें स्थित है और (३) दोनोंको सम्बद्ध करनेवाले अंग, इसमें «अन्तर्गामी» नाड़ियां (afferent nerves) और बहिर्गामी नाड़ियां हैं। अन्तर्गामी नाड़ियां प्रवृत्तियोंको केन्द्रीय अंगों तक ले जाती हैं और बहिर्गामी (efferent) नाड़ियां केन्द्रीय अंगोंसे अन्तिम अंगोंके पास समाचार लाती हैं।

नाड़ी-मंडलकी बनावट एक समान है। हर स्थान पर इसकी इकाई न्यूरोन (neurone) या नाड़ी कोषाणु (nerve cell) है। न्यूरोन एक प्रोटोप्लाज्म (protoplasm, जीवनका आधार तत्व) का शाखायुक्त कोषाणु है। कोषाणु अतिसूक्ष्म जीवित पदार्थ है, जो तिकोने, लम्बे, असमान कई प्रकारके होते है। इनके केन्द्र में एक बीज (nucleus) होता है। कोषाणुका साधारण काम नाड़ियोंकी शक्तिको उत्पन्न करना है, जिस पर हमारी चेतना और उसके परिणाम आश्रित हैं। अधिक कार्य करने पर यह सिकुड़कर छोटे हो जाते हैं। न्यूरोन के रेशे अथवा शाखा दो प्रकारकी होती हैं-अक्षजन्तु (Axon) और चेतालोम या डेंड्राइट (Dendrite)। डेंड्राइट छोटी और पेड़ की सी शाखा होती हैं और ऐक्शन बड़ी लम्बी। यहां तक कि यह कभी-कभी कई इंच और फ़ीट लम्बी होती हैं। वह पतली होती है और उसमें से कम शाखा निकलती हैं। जो शाखा निकलती भी है वह केवल समकोण पर होती है, और उनके अन्तमें या तो एक चौड़ी प्लेट या एक ब्रश

जैसा बारीक सिरा होता है। अक्षजन्तु रंगमें बिल्कुल श्वेत होते हैं और कोषाणु धूसर (grey) होता है। कुछ लोगोंका कहना है कि हमारे शरीरमें लगभग १,१०,००० लाख न्यूरोन हैं और कुछ लोग कहते हैं कि ३०,००० लाख। कुछ भी हो इनके गिननेमें एक जिन्दगी लग जायगी। इनके रेशे इतने बारीक होते हैं कि वह आंखसे तभी दीख सकते हैं जब मस्तिष्कको कमसे कम एक बहुत बड़े मन्दिरके गुम्बदके बराबर कर दिया जाय। एक से दूसरे न्यूरोन के सम्बन्धको साइनैप्स कहते हैं। एक न्यूरोन का अक्षजन्तु इसके ब्रशके द्वारा दूसरे न्यूरोन के डेंड्राइट के सम्पर्कमें आता है। यहां केवल सम्पर्क होता है, दोनोंका साथ-साथ विकास नहीं होता। दोनों न्यूरोन अलग रहते हैं। परन्तु सम्पर्क इतना निकट होता है कि नाड़ी विद्युत् एक कोषाणुके अक्षतन्तुसे दूसरेके चेतालोममें पहुंचकर उसको उकसाकर उत्तेजना पहुंचा देती है। चेतालोमग्राही (receiving) अंग पोषक नहीं, अत: साइनैप्स पर सन्देश भेजनेका काम एकतरफ़ा ही होता है, सिरेके ब्रशसे डेंड्राइट को, और उसका उल्टा कभी नहीं होता।

मस्तिष्क हड्डियोंके कपालमें रक्खा है, और इसके कई भाग हैं, जैसे बृहत् मस्तिष्क (Cerebrum), लघुमस्तिष्क (Cerebellum) और सुषुम्ना शीर्षक (Medulla Oblongatta)। बृहत् मस्तिष्क के जो कि भेजेके ऊपरी और सामनेके भागमें स्थित हैं, दो गोलार्द्ध हैं। ये एक कर्ष (Fissure) के द्वारा अलग किये गये हैं। इसकी सतह बड़ी ऊंची-नीची है। ऊपर धूसर (grey) और अन्दर श्वेत पदार्थ है। इसमें से नाड़ियों के बारह युग्म निकलते हैं, जिनमें से घ्राण, श्रवण, दृष्टि तथा स्वादके (Glosso-pharyngal) विशेष हैं। बृहत्मस्तिष्क बुद्धि तथा मनकी उच्च क्रियाओंका स्थान है। मस्तिष्क जितना बड़ा होगा, उतनी ही अधिक बुद्धि होगी। लघु मस्तिष्कमें धूसर बाहर और श्वेत अन्दर है। इसका कार्य गति-विषयक क्रियाओंको ठीक रखना और सम्बन्ध स्थापित करना है। यह इन क्रियाओंको उत्पन्न नहीं करता। यह बृहत्मस्तिष्कका कार्य है, उसे लघुमस्तिष्क कार्यरूपमें परिणत करता है। इसके नाश अथवा क्षतिसे सम्पूण या आंशिक गति बन्द हो जाती है। एक बालक जिसमें जन्मसे लघुमस्तिष्क नहीं था, २½ वर्ष जीवित रहा। सुषुम्ना शीर्षक शुंडाकार (pyramidal) है, और सुषुम्ना का ही विस्तार है। इसमें बाहर श्वेत और अन्दर धूसर है। यह सुषुम्ना नाड़ी (Spinal Cord), तथा बृहत् और लघु मस्तिष्कका चालक (conductor) है। इधर-उधर जानेवाली नाड़ियां इस तरह विभाजित होती हैं कि शरीरके दाहिनी ओर जानेवाली मस्तिष्कके बाईं ओर, और बाईं ओर जानेवाली दाहिनी ओर जाती हैं। यह

श्वास-प्रणाली, रुधिर परिचलन, निगलने आदिका नियंत्रण करता है। सुषुम्ना नाड़ी एक रस्सी जैसी चीज़ है जो रीढ़की हड्डीके अन्दरकी प्रणाली (Canal) को भरती है और लगभग अट्ठारह इंच लम्बी है। इसमें से नाड़ीके ३१ युग्म निकलते हैं। प्रत्येक नाड़ीके दो मूल हैं, पहला और पिछला। पिछलेमें एक नाड़ी-ग्रन्थि (Ganglion) होती है। अन्दरका धूसर पदार्थ अर्द्धचन्द्र की भांति होता है। इसकी चार नोकें (Horns) चार नाड़ी बनाती हैं। पिछली मूल ज्ञानवाही और अगली क्रियावाही होती है। सुषुम्ना नाड़ी एक नाड़ी-सम्बन्धी उत्तेजना (reflex action) का चालक माध्यम है और प्रतिक्षेप-क्रिया का केन्द्र है।

अन्तिम अंग (end organ) या तो पेशियां होती हैं अथवा ज्ञानेन्द्रियां। क्रियावाही अथवा बहिर्गामी नाड़ियां मनकी आज्ञाओंका पालन करनेवाली मांसपेशियों में जाकर समाप्त हो जाती हैं। ज्ञानवाही अथवा अन्तर्गामी नाड़ियां इन्द्रियोंमें प्रारम्भ होती हैं और उनको केन्द्रीय अंगोंसे मिलाती हैं। इन्द्रियां बहुत विशेषताप्राप्त होती हैं। जैसे स्पर्शेन्द्रिय त्वचाके कुछ भागोंमें स्थित हैं। त्वचाकी दो तह होती हैं, एक अन्दरकी और दूसरी बाहरकी। बाह्य तहमें कोषाणु (epithelial cells) होते हैं और रुधिर की नालियां नहीं होती, अन्दरकी तहमें रुधिरकी काफ़ी नालियां और नाड़ियां भी होती हैं। इनमें छोटे-छोटे दाने (papillae) होते हैं, जिन्हें स्पर्शके अंग कहा जा सकता है। इनमें स्पर्शके सूक्ष्म अंग (corpuscles) होते हैं जो अन्तर्गामी नाड़ियोंके अन्तिम अंग हैं। इन पर जब दबाव पड़ता है तो वह नाड़ीके द्वारा मस्तिष्क तक जाता है और हमें स्पर्शका संवेदन होता है। स्वादका इन्द्रिय-ज्ञान जिह्वा और तालुके पिछले भागमें स्थित है। इसमें कुप्पी (flask) के आकारके अंग, हैं जिन्हें स्वादके बड्स (buds) या बल्ब्स (bulbs) कहते हैं। प्रत्येक बडमें स्वाद (Gustatory) के बहुतसे कोषाणु होते हैं, जिसमें स्वादकी नाड़ीके तन्तुमें (Filaments) समाप्त होते हैं। जब कोई वस्तु इन नाड़ियोंके सम्पर्कमें आती है, तब उसकी उत्तेजना मस्तिष्कको पहुंचाई जाती है, जहांसे स्वादके ज्ञानकी प्रतिक्रिया होती है। घ्राणका अंग नाक है। इसके अन्दरके जटिल छिद्र जो नाककी हड्डियोंसे बने हैं एक झिल्लीसे ढके हुए हैं। उनमें सूंघनेके कोषाणु (Olfactory) हैं, जिनमें घ्राण-नाड़ीके रेशे फैले हुए हैं। यह उत्तेजनाको मस्तिष्क तक ले जाते हैं और फिर हमें घ्राणका संवेदन होता है। इसी प्रकार आंखके ताल (lenses) और कोठरियों (chambers) के एक जटिल प्रबन्धसे बाहरी दुनियांका प्रकाश आंखके अन्तरीय पटल (Retina) पर पड़ता है जिसमें दृष्टि नाड़ी (Optic

nerve) के बहुतसे रेशे हैं, और जो प्रकाशका ज्ञान देते हैं। श्रवणके सम्बन्धमें हवाके कम्पन कानके ड्रम (drum) पर पड़कर इसमें कम्पन पैदा कर देते हैं, जो कानकी छोटी हड्डियों (Ossicles) द्वारा अन्दरके कानकी झिल्लीके भंवरजाल (Membranous labyrinth) को पहुंचाये जाते हैं। इसमें एक द्रव पदार्थ होता है, जिसमें अनेकों श्रवण-नाड़ियां होती हैं, अतः कम्पन मस्तिष्क तक पहुंचता है और सुननेकी प्रतिक्रिया होती है।

नाड़ी-मंडलके सम्बन्धमें भी हमने देखा कि श्रम-विभाजन और विशिष्टीकरणसे कार्य अच्छा होता है। सबसे निम्न श्रेणीके जीव अमीबा (Amoeba) में श्वास लेने और पाचन-क्रिया आदिके अलग अंग नहीं होते। परन्तु उच्च जीवोंमें प्रत्येक अंगका विशेष कार्य है, यहां तक कि उन अंगोंके अन्दर भी विशिष्टीकरण है। नाड़ी-कोषाणु शक्ति उत्पन्न करते और नाड़ियां इसे ले जाती हैं। नाड़ी-मंडलके प्रत्येक अंगके लिए अलग-अलग काम हैं। परन्तु सारी चेतना भेजे (Cortex) में रहती है। इसके अन्दर भी कार्योंका अलग-अलग क्षेत्र है। कुछ क्षेत्र संवेदना, दूसरे गति-सम्बन्धी उत्तेजना और अन्य उच्च श्रेणीके कार्योंके लिए हैं। मस्तिष्कका अगला भाग विचार-क्रियाके लिए है। कर्षके दोनों ओरका भाग गति-क्रियाओंके लिए और नीचेका हिस्सा ज्ञान-क्रियाओंके लिए है। परन्तु यह सब रेशोंके सम्मिलनसे काम करते हैं। कदाचित् अन्य उच्च क्रियाएं भावना, इच्छा करना, तथा जानना किसी विशेष स्थानमें स्थित नहीं हैं, परन्तु गति और ज्ञान क्षेत्र एक जगह स्थिर हैं। ज्ञान-क्षेत्रमें एक-एक भाग दृष्टि, श्रवण, स्वाद, घ्राण तथा स्पर्शका है। गति-क्षेत्र सिर, हाथ, पैर, मुंह, बोलनेकी गतिके अंगोंमें बंटा है। यहां विशिष्टता इतनी अधिक है कि बन्दरों पर प्रयोग करनेसे उन सूक्ष्म क्षेत्रों तकका पता चल गया जिनका सम्बन्ध उंगली या पैरके मोड़नेसे था।

एक बार यह मालूम होने पर कि नाड़ी-मंडल हमारी मानसिक क्रियाओंका स्थान है, हम सरलतासे मान सकते हैं कि हमें इसकी ही योग्यता बढ़ानेसे ही शिक्षाका प्रारम्भ करना चाहिए। नाड़ी-मंडलके शिक्षणसे ही मनका शिक्षण और विकास है, क्योंकि संवेदन या अन्य सरल मानसिक प्रणालियां ही नहीं वरन् स्मृति, कल्पना, न्याय-शक्ति, तर्क तथा मनके अन्य सब कार्योंकी योग्यता नाड़ी-मंडलकी कार्यक्षमता पर ही आश्रित हैं।

नाड़ी-मंडलकी कार्यक्षमता तीन बातों पर आश्रित है, एक तो पैतृक गुण (Hereditary endowments), दूसरे जिन कोषाणुओं तथा रेशोंसे यह बना है उनका विकास और तीसरे स्वास्थ्य तथा शक्ति। पहली मूलप्रवृत्तियोंके, दूसरी गति-शिक्षाके और तीसरी स्वास्थ्यके अन्तर्गत है। परन्तु अब हम यह कह सकते हैं कि नाड़ी-मंडलका विकास किया

जा सकता है। कदाचित् एक साधारण व्यक्ति तथा प्रतिभावान (genius) में नाड़ी-कोषाणुओं तथा रेशोंकी संख्या समान ही होती है, परन्तु इनमें से बहुतसे कोषाणु सबमें विकसित नहीं होते। कोषाणु और रेशे दोनों ही बढ़ते हैं। पहले कोषाणुओंसे शाखाएं नहीं निकलतीं, परन्तु जैसे-जैसे बढ़ते जाते हैं, शाखाएं निकलती जाती हैं। अविकसित रेशोंके होने पर सम्बन्ध ठीकसे नहीं होता और उत्तेजना ठीकसे नहीं पहुंचती। यही कारण है कि चलना सीखनेके पहले ही बालक पकड़ना सीख जाता है। क्योंकि चलने की नाड़ीके रेशे देरमें विकसित होते हैं। गति और ज्ञान सम्बन्धी विकासके लिए यह आवश्यक है कि दृष्टि और श्रवणकी ज्ञानेन्द्रियोंको उचित रूपसे उत्तेजित करनेवाला वातावरण हो तथा अपने शरीरको स्वतंत्रतापूर्वक सब तरीक़ोंसे गतिशील बनाए रखनेके अवसर प्राप्त हों। इन्हीं बातों पर उनका विकास आश्रित है। लॉरा ब्रिजमैन नामक एक लड़कीके उदाहरणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रभावपूर्ण ज्ञान-उत्तेजनाके अभावका क्या परिणाम होता है। वह तीन वर्षकी अवस्थामें बहरी हो गई और लाल बुखार होने पर उसकी बांईं आंखकी रोशनी खत्म हो गई। आठवें वर्षमें उसकी दाहिनी आंख भी समाप्त हुई। जब वह ६० वर्षकी आयुमें मरी तब उसके मस्तिष्क की परीक्षा करने पर देखा गया कि उसका सारा भेजा सामान्यसे छोटा था। दाहिनेकी अपेक्षा बायां दृष्टि-क्षेत्र छोटा था। मृतक अंगोंका क्षेत्र भी छोटा था। अतः यह स्पष्ट है कि काममें आते रहने से ही मस्तिष्क का विकास होता है।

जब हम मनुष्यको प्रतिक्रिया करनेवाली मशीनकी दृष्टिसे देखते हैं—वह प्रतिक्रिया, जो बाहरी प्रभावोंके फलस्वरूप मस्तिष्कके माध्यमसे गति पैदा करती है, मस्तिष्कके माध्यमसे होती है—तब हम यह समझने लगते हैं कि जिन मार्गोंसे विचार अन्दर-बाहर आते-जाते हैं, वह मस्तिष्ककी कार्यक्षमता निश्चित करते हैं। जिस मार्गका प्रयोग बहुत हुआ है, हालमें या तेज़ीसे हुआ है, उसमें साइनैप्स उत्तेजनाको बड़ी जल्दी और सरलतासे कार्यरूपमें परिणत कर देता है। इस प्रकार विशेष मार्ग बन जाते हैं, और मन विशेष सांचेमें ढलने लगता है। यह उत्तेजना-प्रतिक्रिया शिक्षाके अन्तर्गत है, जिसके विषयमें हम आगे बतायेंगे। हम यह भी बता चुके हैं कि मस्तिष्ककी क्रियाके लिए रुधिर एक विशेष मूल्य रखता है। और यह अच्छे भोजन और ताज़ी हवा पर आश्रित है। शारीरिक व्यायाम, कार्यपरिवर्तन तथा आरामसे अधिक शक्ति नहीं व्यय होती और निरर्थक पदार्थ निकल जाते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि नाड़ी-मंडलकी उचित देख-भाल शिक्षाका प्रारम्भ है और आत्मोन्नतिके लए शरीरको कष्ट देना एक पुराना विश्वास है।

संवेदन

अब हम मानसिक जीवनके ग्राही रूपको लेंगे और संवेदनसे प्रारम्भ करेंगे। हमें इन्द्रियोंके द्वारा बाहरी दुनियांका ज्ञान प्राप्त होता है, अतः संवेदन ही सब मानसिक क्रियाओंका प्रारम्भ है। शारीरिक उत्तेजनासे नाड़ीमें जो बिजली उत्पन्न होती है, उसकी सबसे सरल मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया संवेदन ही है। एक व्यक्ति एक कमरेमें सो रहा है। किसीने दरवाजा खटखटाया। ध्वनि लहर पैदा होकर कान तक पहुंची। परन्तु मनुष्य जगा हुआ नहीं है, अतः उसे उस ध्वनिकी चेतना नहीं होती। उत्तेजनाकी पुनरावृत्तिसे वह जग जाता और कुछ-कुछ समझता है। अब उसे ध्वनि संवेदन हुआ। यदि वह इस ध्वनि को खटखटानेवालेसे सम्बन्धित कर देता है तो यह संवेदन नहीं प्रत्यक्षीकरण (perception) हो जाता है। कदाचित् बच्चोंके संवेदन सरल होते हैं। परन्तु वयस्कों के साथ ऐसा बहुत कम होता है, क्योंकि उनके संवेदन प्रत्यक्षीकरण अथवा स्मृति प्रतिमा (image) से मिश्रित हो जाते हैं। संवेदनके शारीरिक और मानसिक, दोनों अंग होते हैं। जो शारीरिक उत्तेजना नाड़ियोंके द्वारा मस्तिष्कके उचित क्षेत्रमें ले जाई जाती है उसका शारीरिक अंग है और मस्तिष्ककी प्रतिक्रिया उसका मनोवैज्ञानिक अंग है।

आंख या कान जैसी ज्ञानेन्द्रियसे सम्बन्धित संवेदन विशेष संवेदन कहलाते हैं और अन्य संवेदन सामान्य या शारीरिक (general or organic) कहलाते हैं। ये तीन हैं, एक पाचन-प्रणालीसे सम्बन्धित जैसे भूख, तृप्ति आदि, दूसरे श्वास-प्रणालीसे सम्बन्धित जैसे सांस बाहर निकालना, दम घुटना आदि और तीसरे पेशियोंसे सम्बन्धित जैसे थकान। इनका सम्बन्ध सारे शरीरसे है। ये एक स्थानसे प्रारम्भ होकर सर्वत्र प्रसारित हो जाते हैं। इनको अलग-अलग पहचानना भी कठिन है। हमारे सुख-दुःखकी दृष्टिसे ये आवश्यक हैं। कभी-कभी ये सर्वव्याप्त रहते हैं, विशेषकर शिशुकालमें, परन्तु बड़े होते-होते कम होने लगते हैं। ये बाहरका नहीं, केवल आन्तरिक दुनियांका ही ज्ञान देते हैं। यह चेतना-सम्बन्धी अवस्था है, विषय-सम्बन्धी नहीं। ये शरीरके नौकर हैं, मनके नहीं। अतः हमारे अध्ययनमें इनका विशेष महत्त्व नहीं है।

प्रायः विशेष संवेदन पांच प्रकारके माने जाते हैं—दृष्टि, श्रवण, स्पर्श, स्वाद और गंध। स्वाद और गंध वास्तवमें सामान्य संवेदनसे मिलते हैं, शेष तीनों बुद्धिसे। अतः वे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। परन्तु मनोवैज्ञानिकोंने अन्वेषण किया है कि इन्द्रियोंकी संख्या पांच तक ही सीमित नहीं है। स्पर्शेन्द्रियको दबाव, गर्मी और ठंडमें विभाजित कर सकते

हैं। मनोवैज्ञानिक कानके पास सन्तुलनकी इन्द्रिय भी बताते हैं। स्थितिके और हमारे शरीरके अंगोंकी गतिके संवेदनको भी गति-संवेदन (Kinaesthetic) के नामसे पुकारते हैं। यह प्रतिक्रियाकी प्रकृतिको बतानेके कारण शिक्षामें बड़े महत्त्वके हैं। इस प्रकार हम अपनी आंख बन्द करके भी बता सकते हैं कि हमारा हाथ किस प्रकारकी गति कर रहा है और हम किसी क्षण भी बता सकते हैं कि हमारा हाथ किस स्थितिमें है। निष्क्रिय गतिमें, जब अन्य कोई भी व्यक्ति हमारा हाथ हिलाता है, तो हमें पता चल जाता है कि यह किस प्रकार हिलाया जा रहा है। स्थितिका, निष्क्रिय गतिका और सक्रिय गतिका, इन तीनों प्रकारोंका ज्ञान नाड़ियोंके विशेष समूहके द्वारा चेतनामें लाया जाता है। यह समूह अधिकांशतः जोड़ों (joints) और स्नायुयों (Sinews) में पाये जाते हैं। यही गति-सम्बन्धी (Kinaesthetic) ज्ञान कहलाता है। जब बालक संवेदन के प्रति प्रतिक्रिया करता है तो इसमें कुछ गति होती है और इन गतियोंकी स्मृति प्रतिमा के रूपमें एकत्रित होती जाती हैं, जो भविष्यमें मार्गदर्शकका कार्य करती हैं। गतियोंको स्थितिके अनुकूल बनानेके लिए यह शिक्षाका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माध्यम है। इसका वर्णन क्रियावाही शिक्षामें किया जायगा।

शिक्षा इन्द्रियोंसे प्रारम्भ होनी चाहिए। इन्द्रिय-शिक्षणकी आवश्यकता उन मनुष्यों के उदाहरणसे समझी जा सकती है जिनमें इन्द्रियोंका अभाव है या जिनकी इन्द्रियां दोष-युक्त हैं। अन्धे व्यक्तिके लिए शिक्षा असम्भव हैं, जब तक विशेष विधियां न हों। काने या भेंड़े व्यक्ति अपेक्षाकृत दूरी या गहराई नहीं देख सकते और इससे मानसिक अन्धता तथा गतिशील पदार्थोंको समझनेमें भूल हो जाती है। जिस विद्यार्थीमें रंगान्धता (colour blindness) होती है वह रसायनके अध्ययनके अयोग्य हो जाता है। ऊंचा सुननेवाले तथा लघुदर्शी (Short sighted) बालक प्रायः निर्बुद्धि समझे जाते हैं, पर वह वास्तवमें ऐसे नहीं होते, अतः उन्हें कक्षामें सबसे आगे बैठना चाहिए। इन सब दशाओं में बलात् ही ज्ञानेन्द्रियोंकी ओर ध्यान ले जाना पड़ता है। फिर ६ सालका बालक हरेक वस्तुको हीन दृष्टिसे देखता है। उसके दूरी, समय, आकार और लयके प्रत्यक्ष (conception) दोषयुक्त होते हैं। बालकोंको तीन सप्ताहके परे समयका कोई प्रत्यय नहीं होता। १०० मील उनके लिए बहुत थोड़ा अर्थ रखता है। उनका थोड़ी भिन्नताका प्रत्यक्षीकरण अशुद्ध होता है और जटिल बातें केवल आंशिक रूपमें समझमें आती हैं। यदि हम यह समझें कि बालकोंके प्रत्यक्षीकरण और ज्ञान-सूची हमारी जैसी ही है, तो यह शिक्षाकी बड़ी भूल होगी। अतः उनको शिक्षित करनेकी आवश्यकता है।

हमें अपनी इन्द्रियोंको अधिकसे अधिक ग्राही और योग्य बनाना है, क्योंकि हम उन्हीं के द्वारा बाहरी दुनियांको समझते हैं। ज्ञानेन्द्रियोंके उत्तेजनके द्वारा दी गई सामग्रीको ही समझाने और बढ़ानेमें सारी बुद्धि लगी रहती है। हमारे इन्द्रिय-अनुभवमें जितनी अधिक विभिन्नता और सम्पत्ति होगी, हमारा मानसिक जीवन उतना ही उदार और महान् होगा। शुद्ध तर्कके लिए शुद्ध इन्द्रिय-प्रत्यक्षीकरण ही सर्वोत्तम और एकमात्र आधार हैं। इन्द्रिय-अनुभवके आधार पर ही मन एक बौद्धिक भवन-निर्माण कर सकता है। मनमें ऐसी कोई चीज नहीं होती जो पहले इन्द्रियोंमें न रही हो। इन्द्रिय शिक्षाके द्वारा निरीक्षण, सावधानी तथा जागृत रहनेकी आदतें उत्पन्न होती हैं। यह प्राकृतिक विज्ञानोंसे परिचय कराता है और सुन्दर वस्तुके लिए प्रेम उत्पन्न कराता है; क्योंकि सुन्दर वस्तु आकर्षक होती है, और जिसकी इन्द्रियां जड़ हैं वह इसे नहीं समझ सकता। इन सब बातोंसे ज्ञात होता है कि इन्द्रिय-शिक्षण आवश्यक है।

इन्द्रिय-शिक्षणका मार्ग दिखानेके लिए कुछ बातें बताई जा सकती हैं। बालपनमें इन्द्रियां ही जीवनकी शासक होती हैं। अतः यही अवस्था इन्द्रिय-शिक्षणकी भी है। इसमें वस्तुओंके सम्पर्कमें आना सबसे आवश्यक है, अतः बालकोंकी शिक्षा ठोस होनी चाहिए। उन्हें वास्तविक वस्तुओंको देखने, छूने, पकड़ने, चखने, सूंघने आदिकी सुविधा होनी चाहिए। बहुत-से अध्यापक वस्तुओंके बदले शब्दोंकी ही शिक्षा देते हैं। नये शब्द नई शिक्षा नहीं दे सकते। शब्द अन्धेको रंगका ज्ञान नहीं करा सकते। अतः हर दशामें वस्तुओंके द्वारा नये शब्दोंका निर्माण करना चाहिए। वस्तु शब्दोंके पहले हो। प्रकृति यह नहीं समझाती कि प्रकाश और अंधेरा, कठोर और कोमल, शोर और शान्तिसे क्या तात्पर्य है। वह अपनी विभिन्न बातें सामने रख देती है और उसके द्वारा बालक अपने विचार बना लेता है। बाह्य संसार-सम्बन्धी सन्देश तीन प्रकारसे प्राप्त हो सकते हैं—(१) प्रत्यक्ष इन्द्रिय-सम्पर्कसे, (२) चित्र तथा अन्य लाक्षणिक वस्तुओंसे, (३) भाषा के माध्यमसे। शब्द भी एक प्रकारसे चित्रोंके समान हैं, क्योंकि वे और भी पदार्थोंके द्योतक हैं। परन्तु वे चित्रोंसे भिन्न भी हैं, क्योंकि वे पदार्थोंके समान नहीं हैं। अतः वे पदार्थोंका पूरी तौरसे प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते। हां, इतना अवश्य है कि लोग पहले से अपने अनुभव के कारण उनका प्रयोग करते चले आ रहे हैं, इस कारण वे वस्तुओंसे सम्बन्धित हो गए हैं। अतः भाषाको भी समझनेके लिए वस्तुओंसे किसी प्रकारका स्थूल सम्पर्क होना चाहिए। यही शिक्षाकी पदार्थ-प्रणाली (Object method) की अच्छाई है। स्कूलमें कुछ ऐसी सामग्री हो, जैसे पीतल, लोहे आदि धातुओंके डिब्बे, पेड़-

पौधे, पशु, कलाकी विलक्षण वस्तुएं, नाप-तौलके यंत्र और बाट, फ़ुटरूल, कुछ ठोस और समतल वस्तुएं आदि। पाठ्यक्रममें भी कई बातें ऐसी होती हैं, जैसे किंडरगार्टन, पदार्थ-प्रणाली, प्रकृतिपाठ (Nature-study) विज्ञान, हस्तकला-शिक्षण (Manual Training), तथा चित्रकारी, जिनको इन्द्रिय-शिक्षणके लिए ठीकसे काममें लाना चाहिए। और जटिल अथवा सूक्ष्म (Abstract) विषय भी इन्द्रियोंके आधार पर ही सिखाने चाहिएं। जहां तक हो सके एक वस्तुको सिखानेमें अधिकसे अधिक इन्द्रियोंको काममें लाइए, जैसे यदि नया शब्द 'सेब' सिखाना है तो उसे श्यामपट पर लिखिए, उसको ज़ोरसे पढ़िए, और हाथसे अभिनय करके उसके स्वरूपको बताइए। इस प्रकार 'सेब' शब्दका पूरा ज्ञान करानेके लिए अधिकसे अधिक इन्द्रियोंके दरवाज़ोंको खटखटाइए। इन्द्रियोंका शिक्षण, उनके विकासके क्रमसे ही होना चाहिए। स्पर्शेन्द्रियका विकास सबसे पहले होता है। बालक अपनी मां को पहचान सकनेके पहले ही उसे पकड़ना जानता है। इसके बाद दृष्टिका विकास होता है। पहले अन्धेरे और प्रकाशका अन्तर समझमें आता है, फिर पदार्थोंकी पहचान, और तत्पश्चात् ठोसत्व और दूरीका प्रत्यय होता है। उसके बाद श्रवण-इन्द्रियका विकास होता है। उसमें पहले ज़ोर या धीरेकी आवाज़ और शान्ति का अन्तर समझमें आता है, और फिर विशेष ध्वनि, जैसे मां की आवाज़ पहचानमें आने लगती है। इस क्रमका अनुसरण करनेसे प्रकृतिका अनुसरण होगा। इन्द्रियोंका विकास उनकी बौद्धिक विशेषताके अनुपातमें होना चाहिए। दृष्टि और स्पर्श सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। चक्षुनाड़ी सब नाड़ियोंसे अधिक बड़ी है। बालक सुनी हुई बातकी अपेक्षा देखी हुई बातको कहीं अधिक याद रखता है। देखी हुई बातको भावनासे परिमार्जित कर लेना चाहिए। बालकको इस शिक्षाका कर्त्ता बना देना चाहिए, अर्थात् आवश्यकता के समय उसकी पूर्ति करनेके लिए उसे अपनी इन्द्रियोंसे स्वयं काम लेना चाहिए। यदि उसे शिक्षित होना है तो उसके लिए संवेदनके प्रति प्रतिक्रिया होना आवश्यक है। बालकको रंगोंका प्रत्यक्षीकरण करानेके लिए शिशुशालामें बहुत-से रंगोंके कागज़ लटकाना भूल है। इसी प्रकार भूगोलकी कक्षामें चित्र और मानचित्र बालकको कुछ शिक्षा दे सकें यह आवश्यक नहीं है। परन्तु यदि बालक रंगीन चटाई बुने या रंगोंकी तुलना करे तो उसे रंगका प्रत्यक्षीकरण हो सकता है।

इन्द्रिय-शिक्षणके सम्बन्धमें कुछ ग़लत मत भी हैं। कुछ लोग सोचते हैं कि यह बुद्धि-तीव्रताके लिए है। यह अशुद्ध है। हमारे अधिकांश संवेदन प्रारम्भमें ही काफ़ी तीव्रता से विकसित हो जाते हैं, अर्थात् नित्यकी आवश्यकतासे भी आगे। स्कूली अवस्थाके बालक

की इन्द्रिय तीव्रता शिक्षणसे और अधिक नहीं बढ़ सकती। अतः इन्द्रिय-शिक्षणका प्रयोजन जो भी हो, पर यह नहीं है। इन्द्रियोंमें कार्यक्षमता लाना प्रकृतिका काम है। यदि प्रकृति ने ऐसा नहीं किया है तो अध्यापक तो क्या प्रायः नेत्र-वैद्य या कर्ण-वैद्य भी उसमें और कुछ नहीं कर सकते। अध्यापक इन्द्रियोंको स्वस्थ अवस्थामें रख सकता है, परन्तु प्रकृति-प्रदत्त को सुधार नहीं सकता। इन्द्रियोंका सर्वोत्तम प्रयोग करनेके लिए मनको शिक्षित करना है। शिक्षित इन्द्रियवाला व्यक्ति उनके संदेशोंको ठीकसे समझता और उनका मूल्य जानता है। जैसे यदि एक प्रकृतिका ज्ञाता वनमें जाता है, तो उसकी भी इन्द्रिय-उत्तेजना उतनी ही है जितनी हमारी, परन्तु वह उन पर हमारी अपेक्षा अधिक ध्यान देता है और उन्हें अधिक समझता है। हम अन्धेकी भांति जाते हैं परन्तु वह अपनी रुचिके अनुसार विचरण करता है।

इन्द्रिय-शिक्षणमें दूसरी भूल यह हो जाती है कि कभी-कभी उसका समय बढ़ा दिया जाता है। आवश्यकतासे अधिक कुछ समयके इन्द्रिय-शिक्षणके पश्चात् इन्द्रियोंका कार्य आपसे आप होने लगता है। इन्द्रिय शिक्षणका एक पाठ एक पंचवर्षीय बालकके लिए मूल्यवान् हो सकता है, और आठ वर्षके बालकके लिए नहीं। अतः छोटी कक्षाके लिए पदार्थ-प्रणाली ठीक है, उच्च कक्षाके लिए नहीं। इसके अतिरिक्त कभी-कभी इन्द्रिय-शिक्षण ऐकान्तिक (Exclusive) भी हो जाता है। अध्यापक यह समझते हैं कि बालक बिल्कुल इन्द्रियोंके प्रभावमें है। वे उसे वस्तुओंका निरीक्षण करते रहने देते हैं और प्रत्यक्ष एकत्रित करने देते हैं। परन्तु उन्हें यह नहीं बताते कि वे विशेष पदार्थ किसी व्यापक वस्तुके प्रतीक हैं। बालकोंमें सामान्यीकरण (Generalization) और तर्ककी समझ शुरूसे होती है। अतः इन्द्रिय-शिक्षणके साथ उच्च मानसिक शक्तियोंको भी किसी प्रकारका व्यायाम मिलना चाहिए। दूसरे, इन्द्रिय-शिक्षण को आवश्यकतासे अधिक विशिष्ट नहीं कर देना चाहिए। हमारे इन्द्रिय अंगोंको उचित ग्राही बनाना एक बात, और उन्हें कलाकार या संगीतज्ञ बनाना दूसरी बात है।

३

मांटेसरी प्रणाली

इन्द्रिय-शिक्षणके सिद्धान्तोंका सबसे अधिक समावेश कदाचित् मांटेसरी प्रणालीमें है। १८७० में इटलीमें डॉ० मारिया मांटेसरी उत्पन्न हुईं। उस समय वहां राजनीतिक परिवर्त्तन बड़ी तेज़ीसे हो रहा था, उन्होंने उसमें भी बहुत भाग लिया। वह 'डॉक्टर' की डिग्री लेनेवाली इटलीकी पहली महिला थीं। अपनी पहली नियुक्तिमें ही उन्हें निर्बल मस्तिष्कवाले बच्चोंसे सम्पर्क हुआ। अत: उन्होंने इनके इलाजके लिए सैगुइन (Seguin) की विधियोंका अध्ययन किया। डॉ० मांटेसरी ने निश्चय किया कि डॉक्टरी इलाज़की अपेक्षा उन्हें शिक्षाकी आवश्यकता अधिक है। उन्होंने अध्यापकोंके एक सम्मेलनमें अपनी इस राय पर ज़ोर दिया और उसके तुरन्त बाद ही विकृत बालकों (Defectives) के लिए एक स्कूल खोला, तथा लॉम्ब्रोसो (Lombroso) और सर्जी (Sergi) की प्रणालियोंका अध्ययन किया। उनका विश्वास था कि सामाजिक शरीर-रचना-शास्त्र (Social Anthropology) शिक्षामें क्रान्ति पैदा कर देगा। उन्होंने विकृतोंकी शिक्षाके लिए जो विधियां निकाली थीं, उनको साधारण बच्चों पर भी व्यवहृत किया, और सरकारी परीक्षामें देखा गया कि उसके द्वारा शिक्षित विकृत बच्चों ने साधारण स्कूलोंके साधारण बच्चोंसे अच्छा परिणाम दिखाया। इसका कारण उन्होंने यह बताया कि उनकी विधियोंसे तो मानसिक उन्नति होती है और अन्य स्कूलोंमें पढ़ाई पर ज़ोर दिया जाता है। अपने अनुसंधानकी सफलताको देखकर अब उन्होंने केवल प्रायोगिक (Experimental) मनोविज्ञान तथा सामाजिक शरीर-रचना-शास्त्रका अध्ययन प्रारम्भ किया। और बालभवनकी योजनाके अनुसार जो बालभवन बने थे

उनकी नियन्त्रिका की हैसियतसे उन्होंने वहीं पर अपने प्रयोगोंके परिणामोंको कार्यरूपमें परिणत किया और उनकी परीक्षा की। डॉ० मांटेसरी ने सदा यह कहा कि उनकी विधियोंको जीवन-दर्शनने नहीं बल्कि बाल-विकासके स्थूल निरीक्षणने चलाया, जिसमें बालककी प्रकृति अथवा उद्देश्य-सम्बन्धी पूर्व विचारोंका कोई प्रभाव नहीं था। यही कारण है कि उनकी प्रणालीमें एक सूत्रताकी कमी है और ऐसा लगता है जैसे वह बहुत-से स्थानोंसे ली गई हो। इस प्रणालीमें कमसे कम तीन विशेषताएं हैं—(१) पेशियोंका विकास, (२) इन्द्रिय-शिक्षण, और (३) स्वतंत्रता। प्रथम सेगुइन (Seguin) के प्रभावके कारण है, दूसरा उनके प्रायोगिक मनोविज्ञानके अध्ययनके कारण और तीसरा उनके बालजीवनके निरीक्षणके कारण। पेशियोंके विकासके लिए उन्होंने बहुत-से व्यायाम निकाले, इन्द्रिय-शिक्षणके लिए बहुत सी सामग्री तैयार की और स्वतंत्रताके विचारने उनकी प्रणालियों पर बड़ा भारी प्रभाव डाला है। उनके अपने शब्दोंमें उनका उद्देश्य बालककी उंगली पकड़कर उसे पेशियोंकी शिक्षासे नाड़ी-मंडल और इन्द्रियोंके शिक्षणकी ओर, इन्द्रिय-शिक्षणसे सामान्य विचारोंकी ओर, और उनसे सूक्ष्म विचारोंकी ओर, तथा सूक्ष्म (abstract) विचारोंसे नीतिकी ओर ले चलना है।

शिक्षामें स्वतंत्रता कुछ राजनीतिक और कुछ शारीरिक बनावटके प्रभावोंके कारण है। हमारी शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो हमें स्वतंत्र नागरिकके योग्य बनाए। अतः शिक्षा स्वयं भी स्वतंत्र होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति शक्तिका एक विचित्र प्रतीक है, जो आन्तरिक प्रवृत्तियोंसे विकसित होता है, अतः उसको भी काम करनेकी पूर्ण स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। शिक्षामें इसके दो रूप माने गए हैं। एक तो यह कि बालकको स्वतंत्रतासे कार्य करनेका अवसर मिले, दूसरा यह कि वह यथासम्भव दूसरेकी सहायतासे स्वतंत्र रहे। पहले सिद्धान्तके कारण गतिहीनता, सिकुड़कर बैठना, और बाहरी अनुशासन समाप्त कर दिए गए। कक्षामें पढ़ाई नहीं होती और न कोई अध्यापक ही होता है। एक संचालिका होती है। प्रत्येक बालक अपनी चालसे चलता और अपना ही समय लेता है। एक ही समयमें एक ही चीज पढ़ना आवश्यक नहीं है। संचालिका बालकों को सामग्री देती है और मार्गदर्शकका कार्य करती है। शिक्षा अपने आप होती है। यदि कोई बालक कोई बात नहीं सीख पाता तो उसे दंड नहीं मिलता। इससे यही पता चलता है कि वह अभी उस अवस्था तक नहीं पहुंचा है, अतः सरल कार्योंके द्वारा उसे वहां तक पहुंचाया जाता है। इसका अर्थ यह नहीं कि वहां कोई क्रमबद्ध उन्नति नहीं होती। प्रवृत्ति आन्तरिक होनी चाहिए। कक्षामें कोई निश्चित सीट भी नहीं होती, जहां वह पूरे समय

बैठें। फ़र्नीचर भी इतना हल्का होता है कि बालक सरलतासे उठा लेते हैं। चुप रहना और अनुशासन जबरन नहीं किए जाते, वरन् आन्तरिक इच्छासे होते हैं, और स्वयं किए जाते हैं। स्वतंत्रताके कारण स्कूलमें और भी बहुत-से काम बढ़ जाते हैं। बालकोंको स्वयं कपड़े पहनना, खाना परसना और लगाना, अपनी सफ़ाई करना, अपना कमरा साफ़ करना, बाग़ लगाना, फूलदान सजाना आदि तथा उचित रीतियोंसे सामाजिक कर्त्तव्य जैसे शान्ति रखना, नम्र होना और सभ्य रहना आदि सिखाया जाता है।

इन्द्रिय-शिक्षण शिक्षोपकरण (didactic apparatus) के द्वारा होता है। इन्द्रिय-विकास ३–७ वर्षकी आयुमें प्रारम्भ होता है, अतः इस कालमें शिक्षक स्थायी प्रभाव बना सकता है। शिक्षणका उद्देश्य पुनरावृत्तिके द्वारा स्वतंत्रताके विभिन्न प्रत्यक्षी-करणोंका सुधार है। इसकी विधि यह है, पहले किसी वस्तुको इन्द्रियों द्वारा जानना, फिर उसे भाषासे सम्बद्ध करना और फिर समझना। जैसे शिष्यको पहले बताया जाता है कि 'यह लाल है', फिर उससे कहते हैं 'हमें लाल दो', और अन्तमें लाल दिखाकर पूछना चाहिए कि 'यह क्या है ?' डॉ० माँटेसरी का कहना है कि इन्द्रिय शिक्षण अपने आप होना चाहिए क्योंकि इन्द्रियोंकी शिक्षा उनके काममें लानेसे ही हो सकती है। अतः शिक्षोप-करण अपने आप ग़लतियां सुधार देता है। जैसे मान लो एक लकड़ीका तख्ता है, जिसमें दस प्रकारके छेद कटे हैं, और उन्हीं आकारोंके दस प्रकारके ठोस टुकड़े अलग रखे हैं। एक छेदमें एक ही टुकड़ा ठीकसे रखा जा सकता है। फिर उनका कहना है कि इन्द्रियोंको अकेले-अकेले शिक्षा मिलनी चाहिए। दृष्टि सबको आड़में कर लेती है। लॉरा ब्रिजमैन ने स्पर्शेन्द्रियका इतना विकास कर लिया था कि एक वर्ष पूर्व मिले व्यक्तिको भी वह हाथ छूकर पहचान लेती थी। अतः कुछ अभ्यास आंखको बन्द करके भी कराने चाहिएं। पहले काफ़ी भिन्नता रखनेवाली वस्तुओंसे अभ्यास कराया जाए, और फिर सूक्ष्म अन्तरवाली से। स्वाद और घ्राणेन्द्रियके अतिरिक्त सबके लिए उपकरण है। पहली अवस्थामें बालक को लम्बाई, चौड़ाई, ऊंचाई, मोटाई और नाप आदिका ज्ञान कराया जाता है। बड़ी सीढ़ी उनको बड़े-छोटे और मोटे-पतलेका विचार सिखाती है। उसके बाद ठंडे, मामूली गरम और गरम पानीमें हाथ डलवाकर तापमान सिखाया जाता है। रंगका अभ्यास भी कराया जाता है। तीसरी अवस्थामें विभिन्न श्रेणीके परन्तु ज्ञात संवेदनाओंमें भेद करना सिखाया जाता है, जैसे स्पर्श और तापमानका। तब श्रवण और भारका शिक्षण प्रारम्भ होता है। श्रवणेन्द्रिय स्वयं शिक्षित नहीं हो सकती अतः बालू और पत्थरके टुकड़ोंसे भरे बक्सों तथा सीटियोंसे तरह-तरहकी आवाज़ की जाती है। मक्खियोंकी भनभनाहट सुननेको कहा

जाता है। विभिन्न प्रकारके लकड़ीके टुकड़ोंसे भारका अभ्यास कराया जाता है। रेखा-गणितके विभिन्न आकारोंसे, जिन्हें कार्डबोर्डमें बैठाना होता है, आकारका ज्ञान कराया जाता है। चौथी अवस्थामें कानको संगीतका ज्ञान कराते हैं। विभिन्न ध्वनिकी १३ घंटियां बजाई जाती हैं। पिछले अभ्यासोंकी खेलके रूपमें पुनरावृत्ति की जाती है। डॉ० मांटेसरी पढ़ाने-लिखानेमें भी यही विधियां काममें लाती हैं। वह लिखना बहुत जल्दी सिखाती हैं और उसे पढ़नेसे भी पहले सिखाती हैं।

४

प्रत्यक्षीकरण

किसी पदार्थके प्रति बाहरी संवेदन ही प्रत्यक्षीकरण है। एक व्यक्ति कमरेमें सो रहा है। कोई दरवाज़ा खटखटाता है। इसके कम्पनको कानकी नाड़ियां मस्तिष्क तक ले जाती हैं, परन्तु फिर भी मस्तिष्कमें प्रतिक्रिया नहीं होती। मनोवैज्ञानिक तत्व (factor) के अभावके कारण नादका कोई संवेदन नहीं होता। परन्तु मान लीजिए उत्तेजना मनको जगा देती है तो वह अन्य उत्तेजनाओंसे इसकी विभिन्नता जान लेता है, और नादका संवेदन होता है। यदि मन अधिक क्रियाशील हो जाता है और अपने इस प्रकारकी नादके पुराने अनुभवों और उनकी स्मृतिके कारण जान लेता है कि यह दरवाज़ेके खटखटानेकी आवाज़ है, तब यह संवेदनका सम्बन्ध बाहरसे कर देता है और यह प्रत्यक्षीकरणका भाव उत्पन्न होता है। अतः प्रत्यक्षीकरणके दो भाग हैं। इन्द्रिय प्रभावोंको समझना और पहचानना, अर्थात् प्रत्यक्षीकरणका ध्यानमें लानेवाला भाग; और दूसरा स्मृति प्रतिमाओंसे मिलन और बाहरी पदार्थसे सम्बन्ध उसका, अर्थात् बुद्धिमें आनेवाला भाग। अतः प्रत्यक्षीकरण को विचारयुक्त संवेदन कहा गया है, जो कुछ सामन आता है उसे बुद्धिके द्वारा समझ लिया जाता है।

संवेदनसे विरोध प्रदर्शित करनेसे प्रत्यक्षीकरणकी वास्तविक प्रकृति समझमें आ सकती है। हमारा उदाहरण दिखाता है कि कहां शुद्ध और सरल संवेदन समाप्त होता और प्रत्यक्षीकरण समाप्त होता है। संवेदन निष्क्रिय अवस्था है, एक भावना है, प्रत्यक्ष ज्ञानदाता और बुद्धिकी निकट सम्बन्धी एक सक्रिय अवस्था है। संवेदन एक सरल अवस्था है, जिसमें केवल प्रदर्शन (presentation) के तत्व हैं, उसे स्मरण (recall) करना

कठिन है। प्रत्यक्ष एक जटिल (complex) अवस्था है; जिसमें प्रतिनिधि तत्व होते हैं और सरलतासे स्मरण हो आते हैं। संवेदनमें केवल ज्ञानकी सामग्री होती है और प्रत्यक्ष में स्मृति-प्रतिमा, विचार और अर्थ सब होते हैं।

बालकोंके और वयस्कोंके प्रत्यक्षीकरणमें कुछ अन्तर देखे गए हैं। हमने कहा है कि प्रत्यक्षीकरणमें कुछ वास्तविक संवेदन होते हैं और कुछ स्मृति-प्रतिमा। वयस्क इन दोनों में अन्तर समझ सकता है, बालक नहीं। बालक प्रतिमाओंके विषयमें भी यही समझते हैं कि उनका अस्तित्व वर्तमान है। यही 'बालकोंकी झूठ' का उद्गम है। जैसे एक बालक ने झीलमें एक नावमें सैर की। जब वह घर गया तो उसने अपनी मां से कहा कि जैसे ही उसने नाव पर पैर रखा कि एक बड़ी मछलीने उसे काट लिया, तो उसने उसे नावमें डाल दिया, और नाववालेने उसे खा लिया। यह सच नहीं था। यात्रा तो सच थी, परन्तु शेष सब उसने मछली पकड़नेकी क्रियाकी यादसे कहा। कवि विलियम ब्लेक बचपनमें ऐसी बातें बहुत करते थे। एक बार सैर करके लौटने पर उन्होंने अपनी मां से कहा कि आज मैंने इज़ेकील (Ezekiel) नबी को एक पेड़के नीचे बैठे देखा। इस पर उनकी मां ने उन्हें मारा। एक बार उन्होंने बताया कि उन्होंने देवताओंसे भरा एक पेड़ देखा और झूठ समझकर उनके पिता ने उन्हें बहुत मारा। डाट पड़ने पर कल्पना दब जाती है। उसको सुधारनेका उचित ढंग यही है कि उसे उपस्थित और अनुपस्थित वस्तुमें अन्तर बताया जाए। दूसरी बात यह है कि बालकोंके प्रत्यक्ष स्पष्ट और सुलझे हुए नहीं होते और विकासका अर्थ संख्यामें विकास नहीं है, वरन् एक अस्पष्ट और ढेरका वर्गीकरण और पृथक्करण है। यह बच्चोंकी शब्दावलीसे भी पता चलता है। शिशुके लिए हरएक व्यक्ति पिता है। यदि एक फूलके विषयमें बता दिया कि यह गुलाब, तो उसके लिए प्रत्येक फूल गुलाब होगा। अनुभव बढ़ने पर इन चीज़ोंमें अन्तर मालूम होता है। तीसरे, उनका साधारण वस्तु-सम्बन्धी अनुभव भी बहुत निर्बल होता है। यदि वह किसी वस्तुका नाम जानता है तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह इसके विषयमें भी कुछ जानता है। अतः यदि अध्यापक बालकको समझदारकी अपेक्षा अज्ञान मानकर चले तो कम ग़लती होंगी। अतः हमें उनके ज्ञानको पूर्ण कर देना चाहिए और इसके लिए पदार्थ-प्रणाली (object lesson) ठीक है। चौथे बालकका प्रत्यक्षीकरण टुकड़ोंमें होता है, जैसा कि चित्रों पर प्रयोग करके देखा गया है। जैसे एक बैठकखानेका चित्र है। आप उसे सबसे छोटी कक्षा के बालकोंको दिखाइए। वे उसकी चीज़ोंकी गणना कर देंगे, मध्यम कक्षाके बालक कुछ वर्णन भी कर देंगे और सबसे ऊंची कक्षाके विद्यार्थी उसे सम्बन्धित करके समझाएंगे। अतः

बालक धीरे-धीरे संयोग (synthesis) सीखता है। पांचवें, बालकोंका समय और स्थान सम्बन्धी प्रत्यक्षीकरण बहुत कमज़ोर होता है। स्थानका प्रत्यक्ष वहां घूमनेसे प्राप्त होता है। और हमारी बढ़ती हुई चेष्टाओंके साथ बढ़ता है। आकार, लम्बाई-चौड़ाई मांटेसरी उपकरणोंसे सिखाए जाते हैं। दिशा और दूरी भूगोलसे सिखाते हैं। बालकोंका समयका प्रत्यक्ष दोषपूर्ण होता है, दिन बालकोंके लिए कालका द्योतक होता है, वरन् रातका उल्टा होता है। यदि आप किसी बालकसे पूछें कि जो चीज़ वह लेना चाहता है वह इसी सप्ताहमें लेगा या आगे वालेमें, तो वह आगे वालेमें कहेगा। उसके लिए ६ महीनेके आगेकी तारीख सोचना असम्भवप्राय है। अतः शताब्दियोंके विषयमें उन्हें पढ़ाना व्यर्थ है।

प्रत्यक्षीकरणकी शिक्षाके कुछ नियम बनाए जा सकते हैं। बालकका मस्तिष्क 'बड़ा भनभनाता हुआ गड़बड़भाला है'। प्रारम्भमें सब कुछ अस्पष्ट रहता है। फिर उसीमें से वह एक वस्तु चुन लेता और उसीके द्वारा बहुतसे अनुभवोंका वर्णन होता है। इसी प्रकार वह अभिन्न मनुष्योंके समूहमें से एकको पिता कहकर पुकारता है। इस प्रकारके प्रत्यक्षसे प्रतिक्रिया होती है और व्यक्तिगत अन्तर समझमें आने लगते हैं। वह सब स्त्रियोंको 'मां' कहकर नहीं पुकार सकता। अतः दूसरी अवस्था भिन्नताका प्रत्यक्षीकरण है। जब अन्तर समझमें आने लगते हैं तो प्रत्यक्षोंकी संख्या शीघ्रतासे बढ़ती जाती है। अब किसी प्रकारके वर्गीकरणकी आवश्यकता है। यह समान वस्तुओंमें भिन्नता और भिन्न वस्तुओंमें समानताके प्रत्यक्षीकरणसे होता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष साफ़ और सुलझे हुए हो जाते हैं। यह प्रणाली उसी प्रकारकी है जैसे विभिन्न फलोंकी डलियामें से हम सन्तरे चुनकर निकाल लें। पहले पीले रंगके फल चुनते हैं। अन्तर देकर नीबूको हटा देते हैं। मुसम्मीसे कदाचित् कठिनाई हो, परन्तु आप सूंघते, चखते और फिर समान समझकर ले लेते हैं। इस प्रकारका प्रत्यक्ष स्पष्ट हो जाता है और फिर प्रत्यक्षीकरण बढ़ते हुए संयोग और विचारोंके एकीकरणका प्रदर्शन करता है। विभिन्न रंगोंका अध्ययन करनेके बाद 'रंग' का सूक्ष्म भाव समझने लगते हैं। यही कारण है कि बालकोंको गणित सबसे अधिक कठिन लगती है।

५

निरीक्षण

निरीक्षणका अर्थ किसी वस्तुको निकटसे देखना, और इसके विस्तार और प्रत्येक भागको ठीकसे समझना है। यह अवधान (attention) के कार्योंकी श्रृंखलाके द्वारा होता है, अतः इसे क्रमबद्ध प्रत्यक्षीकरण कहते है। यह विस्तृत प्रत्यक्षीकरण है, इसे अवधान एक निश्चित लक्ष्य की ओर ले जाता है। निरीक्षण शब्दसे प्रायः दृष्टि-निरीक्षण समझ लिया जाता है, परन्तु इसमें दृष्टिके अतिरिक्त ध्वनि, स्पर्श, घ्राण और स्वाद भी सम्मिलित हैं। संक्षेपमें, निरीक्षण इन्द्रियोंका साक्षी है।

शिक्षामें निरीक्षणका बड़ा महत्त्व है। हमारा व्यवहार यथार्थतासे होता है, और उस तक पहुंचनेका मार्ग निरीक्षण ही है। यथार्थता-सम्बन्धी प्रत्येक कथन निरीक्षण पर आश्रित है, चाहे स्वयं निरीक्षण करें अथवा दूसरे से सुनें। मस्तिष्क अन्दर है और बहुत बड़ा संसार बाहर। मस्तिष्कमें अधिकसे अधिक बाहरी बातोंका ज्ञान भरके, इन दोनोंको निकट लाना अध्यापकका कार्य है। इस बातका सबसे बड़ा उपकरण निरीक्षण है। निरीक्षणमें पुस्तक-अध्ययनके विपरीत वस्तु-अध्ययन होता है। पुस्तक-अध्ययनके कारण ही हमलोग हस्तकौशलकी अपेक्षा, लिखापढ़ीका काम और ग्राम-जीवनकी अपेक्षा नगर-जीवनको अधिक पसन्द करते हैं। निरीक्षण प्रत्यक्षीकरणको अधिक सम्पूर्ण कर देता है, यह उसका दूसरा लाभ है। ऊपर आकाशमें आनेकी अपेक्षा उदय और अस्तके समय चांद अधिक बड़ा लगता है। परन्तु यह प्रत्यक्ष ग़लत है, क्योंकि यह तो सदा समान रहता है।

निरीक्षणकी ऐसी कोई आंतरिक शक्ति नहीं होती जिसे शिक्षित किया जा सके। परन्तु

फिर भी शिक्षणके द्वारा निरीक्षण, चाहे वह विशेष क्षेत्रोंमें ही हो, अधिक योग्यतासे हो सकता है। डॉ० ऐडम ने एक कक्षाके विषयमें कहा है कि उसने उसको निरीक्षण करना इतना सिखा दिया कि जितना निरीक्षण अशिक्षित व्यक्ति दो मिनटमें करते उतना वह ५ सेकंडमें कर लेती। इस प्रकारके शिक्षणके लिए तीन विधियां हैं। पहली सुधार-विधि है। एक तस्वीर दिखाकर हटा ली गई और फिर पूछा गया कि इसमें क्या-क्या था। फिर दुबारा दिखाकर उनकी भूलें और ग़लतियां बताई गईं। फिर अन्य चित्र दिखाकर यही विधि काममें लाई गई। दूसरी नाम देनेकी विधि (naming method) है। इसमें एक चित्रके वर्णन करनेकी कला जैसे रंग, नाप, स्थिति, आकार आदि बता दिये जाते हैं। तीसरी नम्बर देकर 'रुचि उत्पन्न करनेकी विधि' (score-interest method) है। इसमें बालकोंके अन्दर अच्छा काम करनेकी रुचि उत्पन्न की जाती है, परन्तु प्रत्येक वस्तु का इस प्रकारका निरीक्षण सर्वोत्तम नहीं है। निरीक्षणका अर्थ उचित चुनाव है। अपने ध्यानको अन्य वस्तुओं पर से हटाकर कुछ पर जमा लेना। अपने तत्कालीन प्रयोजन के द्वारा यह निश्चय किया जायगा, कि किस पर ध्यान लगाया जाय। जैसे यदि एक जासूस उस स्थानका निरीक्षण करता है जहां हत्या की गई है तो वह वहां की प्रत्येक वस्तु पर नहीं, वरन् विशेष बातों पर ही ध्यान देगा।

निरीक्षणके अन्तर्गत तीन बातें हैं—शुद्ध और सरल निरीक्षण, अनुमान (inference), और ज्ञान। यह पता लगाना कठिन है कि कहां निरीक्षण समाप्त होता है, और अनुमान प्रारम्भ होता है। शारलॉक होम्स की कहानीमें डॉ० वटसन से जासूस कहता है, 'निरीक्षणसे मुझे पता चला कि तुम विगमोर स्ट्रीट के पोस्ट ऑफ़िस गये थे।' उसने उसे पोस्ट ऑफ़िस जाते नहीं देखा, परन्तु उसके जूतेमें एक लाल चिह्न देखा जो पोस्ट आफ़िस के सामने बनती हुई सड़क परसे लग गया था। अत: उसके वहां जाने का अनुमान लगाया गया। ज्ञान निरीक्षणका आवश्यक अंग है। वही अच्छा निरीक्षण कर सकता है जिसके पास विषय-सम्बन्धी पूर्ण संचित ज्ञान है। एक जासूस ने कमरेमें घुसते हुए अजनबीसे कहा कि वह पश्चिमी द्वीपसमूहका पेंशन पाया हुआ कर्मचारी मालूम होता है। उसने देखा कि उसके मुंह पर ऐसे चिह्न थे जो कि जानवर विशेषके काटनेसे होते हैं, और वह जानवर केवल पश्चिमी द्वीप समूहमें ही होता है, इसी ज्ञानसे उसने यह अनुमान लगाया। अत: अच्छा निरीक्षक होनेके लिए, उसके अनुकूल अच्छे ज्ञान की भी आवश्यकता है।

स्कूलके साधारण विषय इस प्रकार पढ़ाये जा सकते हैं कि निरीक्षण का शिक्षण हो:

क्रिया द्वारा शिक्षा (learning by doing) पर ज़ोर देना चाहिए। क्रियाके प्रत्यक्षीकरणकी भूलें सुधर जाती हैं। वेल्टन (Welton) ड्राइंगकी दो कक्षाका वर्णन करता है। एकको सरल और वक्र रेखाओंके द्वारा, दूसरेको पदार्थ सम्मुख करके, ड्राइंग करना सिखाया गया था। दोनोंसे एक सम्मुख खड़ी महिला का चित्र खींचनेको कहा गया। पहली कक्षाका कार्य जंगलियों अथवा अशिक्षित बालकोंका-सा था। और दूसरीका काफ़ी ठीक था। इससे पता चला कि पहले उदाहरणमें प्रत्यक्ष ग़लत बनाया गया और दूसरेकी चित्रकारीने प्रत्यक्षको सुधार लिया और वास्तविकताके अधिक निकट ले आए। पदार्थ पाठ-निरीक्षणको बढ़ाते हैं, क्योंकि उसके द्वारा थोड़ी-सी वस्तुओंकी ठीकसे परीक्षा होती है। ध्यान सम्पूर्ण वस्तुओंकी ओर हो, और ज्ञात वस्तुओंसे उनकी भिन्नता बताई जाय। पहले विशेषताओं और फिर बारीकियों पर ध्यान दिया जाय। निरीक्षित वस्तुओंका बालकों से वर्णन कराया जाय। इसीसे उनके विचार सुलझते हैं। नमूना दिखाकर अध्यापक उसका स्वयं न वर्णन करने लगे, वरन् पदार्थको स्वयं अपने लिए कहनेका अवसर दे। यदि पाठ्य पुस्तक प्रणाली काममें नहीं आ रही हो तो निरीक्षणका विकास करने के लिए प्रारम्भिक विज्ञान सिखाया जा सकता है। वास्तविक पाठके पहले प्रयोग या नमूना आ जाना चाहिए। बालक एक नोटबुक लेकर प्रकृतिको खोजने और समझने जायं। भूगोल भी पास-पड़ोस के प्राकृतिक ज्ञानसे प्रारम्भ की जा सकती है, तत्पश्चात् व्यवसाय और व्यापार आएं और फिर पुस्तकें आनी चाहिएं। पुस्तकों, चित्रों तथा प्रतिमाओं (models) का प्रयोग बहुतायत से होना चाहिए। दूरकी चीज़ोंका उदाहरण पासकी चीज़ोंसे देना चाहिए, प्रत्येक वस्तु साकार विधिसे पढ़ानी चाहिए। व्याकरणसे भी निरीक्षणका विकास होता है, यदि बालक उदाहरणों से नियम बनाए और आगे उनको काममें लाए। इतिहासका प्रारम्भ बालकके वातावरण, सिक्के, चुनाव, पुलीस, म्युनिसिपल हॉल, बाज़ारसे हो, इससे उसकी सामाजिक वातावरण-सम्बन्धी दृष्टि खुल जायगी।

६

पूर्वानुवर्ती ज्ञान

पूर्वानुवर्ती ज्ञान उन आवश्यक वस्तुओंमें से एक वस्तु है जिसका उचित आश्रय लेकर हम अपने अध्यापनको सफल कर सकते हैं। अतः यह क्या है और कैसे प्राप्त हो सकता है, अध्यापकके लिए इसका ज्ञान परमावश्यक है।

प्रत्यक्षीकरण और पूर्वानुवर्ती ज्ञानका अन्तर अवश्य मालूम होना चाहिए। केवल परिभाषासे इसका अन्तर जानना कठिन है। हमने कहा है कि प्रत्यक्ष संवेदना और विचार के कारण होता है। प्रदर्शन तत्वोंसे प्रतिनिधि तत्व, वास्तविक पदार्थोंसे पूर्वप्रतिमा, और बाह्यसे आन्तरिकको मस्तिष्क मिला देता है। मस्तिष्क पर वस्तुकी जो क्रिया होती है और वस्तु पर मस्तिष्ककी जो प्रतिक्रिया होती है, उससे प्रत्यक्षीकरण होता है, जैसे हमारा केला सम्बन्धी प्रत्यक्ष उसके रंग, आकार, स्वाद, गंधके पूर्व विचारोंके वास्तविक संवेदनोंसे बना है। साधारणतया पूर्वानुवर्ती ज्ञान भी लगभग यही है। प्रत्यक्षीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा वर्त्तमान प्रभावोंका पूर्व अनुभवोंसे समीकरण होता है जो मस्तिष्क में प्रत्यय (concepts) की भांति मौजूद हैं। पूर्वानुवर्ती ज्ञान भी पूर्व प्राप्त ज्ञानके द्वारा समझे हुए वर्त्तमान प्रभावोंको कहते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे दोनों शब्दोंका एक ही अर्थ है, परन्तु तर्कसे थोड़ा अन्तर है। जब पूर्वानुवर्ती ज्ञानका वर्णन होता है तब प्रत्यक्षीकरणकी प्रक्रियाको समझने या समीकरण करनेवाली बात पर अधिक ज़ोर दिया जाता है और संवेदनकी थोड़ी अवहेलना होती है। यह एक प्रक्रिया है, संवेदनकी भांति मानसिक परिणाम नहीं। पूर्वानुवर्ती ज्ञान संवेदनाका मानसिक समीकरण है, जिसका परिणाम प्रत्यक्षीकरण होता है। यह अन्तर अमूर्त रूपसे ही नहीं होता वरन् व्यवहारमें भी हो सकता है। बिल्कुल नई वस्तुओंके सम्बन्धमें प्रत्यक्ष तो रहता है, परन्तु पूर्वानुवर्ती

ज्ञान नहीं होता। यह सम्भव है कि वैज्ञानिक पहले तो तथ्योंका निरीक्षण करें और फिर उनको समझनेकी चेष्टा करें। प्रारम्भिक रूपमें इन्द्रिय प्रभावोंका समझना उन्हीं प्रत्ययों के द्वारा होता है जो मस्तिष्कमें पहलेसे एकत्रित हैं। जब हम पूर्वानुवर्ती ज्ञानकी बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य प्रत्यक्षकी शिक्षासे नहीं होता, वरन् प्रत्ययकी शिक्षासे होता है, क्योंकि प्रत्यक्षमें संवेदन भी सम्मिलित है। पूर्वानुवर्ती ज्ञानका सिद्धान्त सिखाता है कि बालक मस्तिष्कमें एकत्रित पूर्व ज्ञानके आधार पर बहुतसे अनुभव प्राप्त कर सकता है। प्रत्यक्ष शरीरसे सम्बन्ध रखता है। प्रत्यक्षीकरणमें ज्ञान अथवा विषय सम्बन्धी प्रदत्त और पूर्वानुवर्ती ज्ञानमें ज्ञाता सम्बन्धी प्रदत्त (data) सर्वोपरि रहता है। जब हम जान पहचानकी चीज़ें देखते हैं तो हमें केवल प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि समझनेवाली बात तो आदत हो जाती है। परन्तु जब हम नई चीज़ देखते हैं तो उसको समझनेके लिए प्रदत्त प्राप्त करनेको सारा मस्तिष्क छान डालते हैं।

यदि अधिक ज्ञान प्राप्तिके लिए पूर्वज्ञानकी आवश्यकता है तो प्रारम्भमें ज्ञान कैसे प्राप्त होता है? इसका उत्तर हमें बाल मस्तिष्कके आदि-ज्ञानमें मिलेगा। बालक जब उत्पन्न होता है तो वह मूल प्रवृत्तियोंके कारण प्रतिक्रियाके लिए तैयार रहता है। वह एक क्रियाशील, गतिशील, चंचल जीव है। वह वातावरणसे सब प्रकारसे सम्बन्ध स्थापित करने और प्रतिक्रिया करनेके योग्य होता है। इस प्रकार बालक आप ही आप कुछ ऐसे अनुभव प्राप्त कर लेता है जो आगे चलकर संवेदनोंको समझानेमें सहायता करते हैं। प्रारम्भमें दूध पीनेके संवेदनका भी उसके लिए कोई अर्थ नहीं। धीरे-धीरे बहुतसे संवेदनों और वेदनाओं (feelings) का एक ढेर निरर्थक इकाइयोंमें बंट जाता है। बालकको दूधकी बोतलसे जो संवेदन प्राप्त होते हैं उन्हें वह पुराने अनुभवके कारण समझता है और उस बोतलको क्षुधा-शान्ति का रूप मानने लगता है। जीवात्माकी आवश्यकतासे सम्बन्धित होनेके कारण ही असम्बद्ध तत्वोंका संयोग सार्थक इकाइयोंमें किया जा सकता है। घड़ी समय देखनेके लिए होती है, कुर्सी बैठनेके लिए और चम्मच खाना खानेके लिए होता है। इससे यह स्पष्ट है कि भाषाके पाठोंमें भी बालकको क्रिया के द्वारा सीखना चाहिए। मौलिक आवश्यकताओंसे निम्न श्रेणीका पूर्वानुवर्ती ज्ञान प्राप्त होता है और अर्जित आवश्यकताएं उच्च श्रेणीके पूर्वानुवर्ती ज्ञानको बढ़ाती हैं। जैसे चाय के प्यालेको यदि फेंक कर मारनेका अस्त्र समझा जाय तो यह पूर्वानुवर्ती ज्ञान निम्न श्रेणी का होगा, चाय पीनेकी वस्तु समझा जाने पर मध्यम श्रेणीका और इसे कलाका एक नमूना मानकर रखने पर उच्च श्रेणीका। इस प्रकारकी प्रतिक्रियाकी प्रवृत्तियां बड़े

समूहोंमें बनकर मनुष्यके सारे जीवनको ढक लेती हैं। जैसे मनुष्यका व्यापारिक क्षेत्र, सामाजिक क्षेत्र, कौटुम्बिक क्षेत्र आदि होते हैं। शिक्षाका कार्य है कि पूर्वानुवर्ती ज्ञान प्रणालियोंको बनाएं और उच्च श्रेणी पूर्वानुवर्ती ज्ञानके द्वारा निम्न श्रेणीके पूर्वानुवर्ती ज्ञानको बिल्कुल ढक दे। हम यह कह चुके हैं कि मस्तिष्कमें प्रत्ययोंके रूपमें एकत्रित पूर्व अनुभवोंके कारण प्रत्यक्षीकरण होता है। पूर्व अनुभवके अवशेषोंके संयोगोंसे पूर्वानुवर्ती ज्ञानके ढेर बनते हैं।

शिक्षाके शुद्ध क्षेत्रमें पूर्वानुवर्ती ज्ञानका सिद्धान्त बहुत मूल्य रखता है। इसकी परिभाषा कई प्रकारसे हुई है, परन्तु जेम्स की परिभाषा सर्वोत्तम है। वह कहता है, 'इसका' अर्थ है 'वस्तुको मनमें ले जाना और कुछ नहीं'। इस प्रकार तो यह विचार सम्बन्ध का परिणाम है। जो भी विचार मस्तिष्कमें आता है उसे अपना सम्बन्ध स्थापित करनेके लिए वहां कुछ मिलना चाहिए, चाहे वह उसके समान हो अथवा विपरीत। प्रत्येक नया विचार मस्तिष्कमें पहुंचकर किसी विशेष दिशामें खिंचकर किसी पुराने अनुभवसे मिल जाता है। इस प्रकार नया विचार पुरानेसे मिल जाता है। हम किसी वस्तुको अपने पुराने विचार-भंडारकी सहायतासे समझते हैं, जिसे हम पूर्वानुवर्ती ज्ञानका ढेर कह सकते हैं। यदि एक वास्तविक जंगली मनुष्य पहली बार मोटर देखेगा तो वह उसे भैंसा कहेगा, क्योंकि यह उसीकी तरह दौड़ती है। यह उन चार अन्धोंकी कहानीसे बड़ी जल्दी समझ में आ जायगा जो पहले पहल हाथी देखने गये थे। यह प्रसिद्ध बात है कि बालक जेब्रा (एक अफ़्रीकी जानवर Zebra) को धारीधार कम्बल ओढ़नेवाला घोड़ा और समुद्रको बड़ा तालाब कहते हैं। इसमें मितव्ययिताका सिद्धान्त काम करता है। हम लोग अपने मानसिक आकारमें बहुत भारी परिवर्त्तन नहीं करना चाहते, अतः नये विचारोंको पुराने से मिलाकर ग्रहण करते हैं। यह अनिच्छा बड़े होते-होते बढ़ती जाती है और हम पुरान-खंडी कहलाने लगते हैं।

हमारा पूर्वानुवर्ती ज्ञान हमारे ऐसे ही विचारों पर आश्रित है। ये पूर्वानुवर्ती ज्ञान सम्बन्धी विचार जितने ही अधिक होंगे हमें उतना ही अधिक बोध होगा। जो बालक सोना और जागना शब्द समझ लेता है, वह छड़ी, फूल, पेड़ सबके लिए इन्हें प्रयोगमें लाता है। छड़ी रख दी जाने पर सोती है, और खड़ीकी जाने पर जग जाती है। यही कारण है एक साधारण बीमारीमें हमारी अपेक्षा डॉक्टर अधिक बातें देख लेता है। इसी प्रकार राजनीतिका विद्यार्थी प्रचलित राजनीतिमें हमारी अपेक्षा अधिक समझ लेता है। अतः अध्यापकका यह कर्तव्य है कि जहां पूर्वानुवर्ती ज्ञानके ढेरकी कमी हो,

वहां उसे विद्यार्थियोंको प्रदान करे।

पूर्वानुवर्ती ज्ञानके परिणामस्वरूप नया भी सुधर जाता है। हमें ऐसा अनुभव कभी नहीं होता, जिसका वर्णन न हो सके। इसका स्वभाव हमारे स्वभावके अनुसार होता है। अतः चन्द्रग्रहण एक ज्योतिषी और जंगलीके मन पर भिन्न प्रकारके प्रभाव डालता है। यदि एक ही बात भिन्न श्रोताओंको बताई जाय तो सब उसे भिन्न प्रकारसे ग्रहण करेंगे। जैसे यदि बन्दर, बिल्ली और कुत्तेको दूध पिलाया जाता है तो वह प्रत्येकमें भिन्न प्रकारकी शारीरिक रचना करता है। केवल नया अनुभव ही नहीं सुधरता वरन् पुराना भी परिवर्तित हो जाता है। एक जर्मन बालक, जिसके यहां मेजें चौकोर ही होती हैं, यह समझता है कि मेज़के चार पांव होते हैं और वह चार कोनोंकी ही होती है। परन्तु जब उसे गोल मेज़ दिखाई पड़ती है तो उसका पुराना विचार बदल जाता है। एक अंग्रेज़ बालक यही समझता है कि मनुष्य सब गोरे होते हैं और जब वह पहली बार किसी काले आदमीको देखता है तो यही समझता है कि यह कोयलेकी कोठरीमें से आ रहा है। पूर्वानुवर्ती ज्ञानके द्वारा समझ भी बढ़ती है। हम एक बातको तभी अच्छी तरह समझते हैं जब इसका वर्गीकरण करके इसे अन्य चीज़ोंसे सम्बद्ध कर लेते हैं। अतः किसी भी नई वस्तु का हमारे लिए तब तक कोई मूल्य नहीं होता जब तक हम यह नहीं जान लेते कि यह कहां की है। पूर्वानुवर्ती ज्ञानका फल रुचि होता है। जिसमें हमारी रुचि हो वह नयेमें पुराना और पुरानेमें नया हो जाता है। बिलकुल नयेके लिए हमें कोई रुचि नहीं होती और बिलकुल पुरानेसे हम थक जाते हैं। पूर्वानुवर्ती ज्ञान हमारे ज्ञानको संयुक्त करके उसका एकीकरण करता है। पुनर्निर्माणके कालकी यह विशेषता है। अन्तमें यही ज्ञान बालकको ज्ञान प्राप्त करनेका कर्त्ता बना देता है। हम कितना ही समय बालकोंकी तरह-तरह की सूचना देनेमें लगा दें परन्तु जब तक हम अवगत बातोंसे उन्हें सम्बद्ध नहीं कर देते, उसका कोई विशेष परिणाम नहीं होगा।

पढ़ानेमें पूर्वानुवर्ती ज्ञानका सिद्धान्त मौलिक विशेषता रखता है। अध्यापक अपने शिष्योंका अध्ययन अवश्य करे, क्योंकि प्रत्येक बालक अपने पूर्वज्ञानके आधार पर ही ज्ञान प्राप्त करता है। अतः अध्यापकका पहला कर्तव्य व्यक्तिगत मस्तिष्कका अध्ययन है, ताकि वह बालकको इस प्रकार पढ़ाए जो वह समझ सके। जो कुछ बालकके मनमें पहलेसे है उससे नई बातोंका सम्बन्ध स्थापित किए बिना शिक्षा संभव नहीं। इस बातका पूरा लाभ उठाना चाहिए। तैयारी (preparation) और पुनरावृत्तिवादका यही महत्त्व है। तैयारीमें हम अवधानके सम्मुख पूर्वानुवर्ती ज्ञानका ढेर लाते हैं, और उसे स्पष्ट करते हैं,

पुनरावृत्तिमें हम पहले दिनके पाठके लिए वर्त्तमानको स्पष्ट करके दूसरे दिनके पाठकी तैयारी करते हैं। नये ज्ञानको पुरानेके रूपमें रखा जाए ताकि मस्तिष्कमें जो कुछ है उसमें उसका समीकरण हो सके। जहां पूर्वानुवर्ती ज्ञानकी सामग्री न हो वहां अध्यापक उसका प्रबन्ध करें। यही व्याख्याका मूल है। बालकोंका अनुभव भी निरीक्षण, चित्र और कहानियोंसे बढ़ाना चाहिए। इस ज्ञानकी आवश्यकताके कारण यह भी स्वाभाविक है, फिर आरम्भमें उन्नति धीरे-धीरे होगी। हमें नये ज्ञानको इतना समय देना चाहिए कि वह पुरानेके साथ अपना स्थान ले ले। यदि जल्दीमें ज्ञानका ढेर लगा दिया गया तो बालकको सोचनेका और उसे अपने पूर्व ज्ञानके साथ ठिकानेसे लगानेका समय नहीं मिलेगा। अतः हमें आरामसे चलना चाहिए परन्तु साथ ही परीक्षाके काफ़ी पहले सब पाठ समाप्त कर लेने चाहिएं। यदि अन्तिम दिनोंमें एकदम बहुत-सा पढ़ाया जायगा तो पूर्व ज्ञानसे कोई सम्बन्ध नहीं स्थापित कर पायगा, अतः उसका समीकरण नहीं हो सकेगा।

७

स्मृति

जब मस्तिष्क अपनी क्रियाशीलताके द्वारा प्राप्त विचारोंको ज्ञात करता, धारण करता और कामके समय सम्मुख ले आता है तो इसे स्मृतिका कार्य कहते हैं। इस प्रकार स्मृतिमें तीन स्पष्ट अवस्थाएं हैं–(१) किसी वस्तु या विचारको ग्रहण करना (apprehension) (२) उसे धारण करना (retention) और (३) उसकी पुनरावृत्ति कर सकना। प्रतिमा वह साधन है जिसके द्वारा मस्तिष्कमें अनुभव एकत्रित किए जाते हैं। जब हम यह याद करनेकी चेष्टा करते हैं कि सन्तरा किस प्रकारका होता है तो विचार आता है कि इसका रंग कुछ पीला-सा और आकार गोल है, तब उसके स्पर्शकी भावना, गन्ध और स्वाद दिमाग़में आ जाते हैं, और इस प्रकार 'सन्तरा विचार' आता है। बहुतसे सन्तरोंकी यादके कारण, हम इस विचारमें गड़बड़ा नहीं सकते। इस प्रकारके विचारको प्रतिमा, एक मानसिक प्रतिमा या प्रतिनिधि प्रतिमा कहते हैं। प्रत्यक्षसे विरोध दिखानेमें इसकी प्रकृति सरलतासे समझमें आ सकती है। प्रत्यक्ष किसी वास्तविक वस्तुके कारण होता है और प्रतिमा बाहरी पदार्थोंसे स्वतंत्र है। प्रत्यक्ष इच्छासे स्वतंत्र है परन्तु प्रतिमा इच्छा पर आश्रित है और इच्छाके कारण ही चेतनामें आती है। प्रत्यक्ष प्रदर्शनात्मक (presentative) होता है और विचार अधिकतर प्रतिनिध्यात्मक (representative)। प्रत्यक्ष और प्रतिमाके बीचके गर्त्तकी पूर्ति बहुत-सी मध्यस्थ मानसिक क्रियाओंके द्वारा होती है। जैसे गेंद पकड़नेके कुछ देर बाद हाथ झनझनाता है। यह प्रत्यक्ष नहीं है क्योंकि वहां शारीरिक उत्तेजना नहीं है। यह प्रतिमा भी नहीं है क्योंकि इसका कारण ऐसी उत्तेजना है। अतः इसे उत्तर-प्रत्यक्ष (after-percept) कहते हैं। एक चलता हुआ गाना जो हमने सुना है हमारे मस्तिष्कमें बार-बार आता रहता है। परन्तु यह उत्तर प्रत्यक्ष

नहीं है, क्योंकि यह शारीरिक उत्तेजनाके कारण नहीं है; और यह शुद्ध प्रतिमा भी नहीं है, क्योंकि यह इच्छाशक्तिके बिना प्रयास किए ही आता है। अतः इसे अस्थायी मानसिक प्रतिमा कहते हैं। हम प्रतिमाको पुनरुज्जीवित (revived) प्रत्यक्ष या प्रत्यक्षोंका समूह कह सकते हैं, और यही स्मृति प्रक्रियाओंमें काम करता है।

स्मृति प्रक्रियाएं दो बातों पर आश्रित हैं—(१) धारण करनेकी शक्ति पर और, (२) सम्बन्ध-संगठनों (organisation of association) की संख्या पर। प्रथम अवस्थामें यह मान लिया जाता है कि सब मानसिक क्रिया नर्वस क्रियासे होती हैं। अतः नर्वस बनावटकी विभिन्नताके साथ ही साथ स्मृतिकी विशेषताएं भी विभिन्न होंगी। अतः अवश्य ही सब व्यक्तियोंकी स्मृति भी भिन्न कोटिकी होगी। स्कॉट, मैकॉले, गटे, ग्लैडस्टन जैसे बढ़िया स्मृतिवालोंकी स्मृतिका भी यही आधार था। उनके नाड़ी-मंडलके प्रकारके आधार पर ही उनकी स्मृतिका प्रकार निश्चित होता है। कुछ स्मृति ग्रहण करनेमें मोम और धारण करनेमें पत्थर होती हैं। एडिसन की 'कैमरा आंखें' थीं। वह कोशको कहीं से खोल लेता और तीन मिनटमें दोनों ओरके विषय पढ़कर और अपनी आंखोंसे उनकी तस्वीर सी खींच लेता और फिर उन दोनों पृष्ठोंके किसी भी शब्दकी स्थिति अथवा परिभाषा सम्बन्धी बातोंका उत्तर दे सकता था। कुछ स्मृतियां ऐसी आश्चर्यजनक होती हैं कि उनको दीर्घकाय कहा जा सकता है। डॉ० लेडन पार्लियामेंटके किसी ऐक्टके केवल एक बार पढ़ने पर पूरा सुना जाते थे। सेनेका (Seneca) १,००० शब्दोंको एक बार सुनकर उसी क्रमसे दोहरा देता था। जेम्स ने एक अमेरिकन अन्धे कृषकके विषयमें लिखा है कि वह पिछले चालीस वर्षोंके दिन और तारीख, मौसम तथा अपने प्रत्येक दिनका काम सुना देता था। फ़्रेज़र ने एक ऐसे व्यक्तिके विषयमें लिखा है, जो एक बार सुनकर ५२ अंकोंकी संख्या सुना देता था। इस प्रकारकी स्मृतियां बनाई नहीं जा सकतीं, वरन् वह ऐसी धारणा-शक्ति सहित उत्पन्न होती हैं। परन्तु साधारणतः मनुष्योंमें सामान्य धारणाशक्ति होती है और जीवन भर इससे ही अधिकसे अधिक लाभ उठाना चाहिए। स्मृति अच्छी बनाए रखनेका एक उपाय यह है कि स्वास्थ्य अच्छा रखा जाय। अच्छी नींद और रुधिर, व्यायाम आदि नाड़ी-मंडलको ठीक रखते हैं, जिससे धारणाशक्तिसे अच्छा काम लिया जा सकता है। आव-श्यकतासे कम या अधिक भोजन और परिश्रम अथवा किसी भी बातके आधिक्यका प्रभाव स्मृति पर पड़ता है। प्रायः अच्छी धारणाशक्ति होने पर भी हम उसे अनुचित भोजन, अधिक कार्य, व्यायामहीनता, अशुद्ध वायु, अनुचित वस्त्र, चिन्ता आदिसे उसे खराब कर देते हैं। अतः मस्तिष्कको प्रत्येक प्रकारकी थकानसे दूर रहना चाहिए।

अच्छी स्मृतिकी अन्य दो बातें, सम्बन्ध और संगठन, स्मृति सम्बन्धी प्रत्ययोंको ग़लत सिद्ध करती हैं। प्राचीनकालमें यह समझा जाता था कि स्मृतिकी आन्तरिक शक्ति (faculty) के कारण हम याद रखते हैं। परन्तु यह कोई व्याख्या नहीं है, इसके द्वारा तो हम जब ही यह याद कर लेते जब कहते 'याद करो।' जब तक हमें यह नहीं बताया जाता कि यह याद करो, तब तक हम कुछ याद नहीं कर पाते। संकेतके बिना हम कुछ भी नहीं याद रख सकते। यदि इसकी कोई आन्तरिक शक्ति होती तो आवश्यकताके समय अवश्य याद रख लेते। यदि स्मृति भगवान्की देन होती तो पुनरावृत्तिकी आवश्यकता न होती। पुरानी-नई सब बातें समान याद रहतीं। यदि हम सम्बन्धों (association) के द्वारा याद रखते हैं तो हम सरलतासे समझ सकते हैं कि नई चीज़ें क्यों अच्छी याद होती हैं, अतः स्मृतिकी आन्तरिक शक्ति वास्तवमें विचार सम्बन्ध (association of ideas) का दूसरा रूप ह। हम सम्बन्धोंके कारण याद रखते हैं। हमारी मानसिक रचनाके अन्तर्गत विचार सम्बन्धोंके असंख्य समूह हैं, जो छत्तेमें मक्खियोंकी भांति एकत्रित होते हैं। जब एक समूहकी एक चीज़ सोची जाती है तो उसी समूहकी सम्बन्धित बातें भी याद आ जाती हैं। प्रत्येक विचार दूसरे विचारके लिए संकेत और सहारा बन जाता है। अच्छी स्मृतिका रहस्य इसीमें है कि प्रत्येक बातके विभिन्न प्रकारके बहुतसे समूह बनानेकी शक्ति हो। जो अपने अनुभव पर विचार करके उसे चेतन सम्बन्धोंके साथ गूंथ लेता है, वही उन्हें सर्वोत्तम प्रकारसे याद रख सकता है। अतः हमारी प्राकृतिक धारणा शक्तिसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण ये सम्बन्ध हैं जो हमसे याद करवाते हैं। प्रायः हमें ऐसे व्यक्ति मिलते हैं जो पहचाने हुए लगते हैं, परन्तु ठीकसे याद नहीं आते। जब वे कोई ऐसी घटना बताते हैं जिसमें हम उनके सम्पर्कमें आए थे, तब स्मरणकी बाढ़-सी आने लगती है। यहां हमारी प्राकृतिक धारणा शक्ति ग़लती पर थी पर हमारे सम्बन्धोंने उसे संभाल लिया। एक दिन एक नौकरने इस बातसे साफ़ इन्कार कर दिया, कि उसने अमुक सज्जन को एक पत्र दिया था। उन्हें सामने देखा तो ऐसा करनेकी बात तुरन्त याद आ गई। इन्हीं बातोंके कारण जेम्स ने कहा है कि हममें सामान्य स्मृति नहीं होती वरन् विशेष बातोंके लिए होती है, जिनके साथ मस्तिष्कमें सम्बन्ध बन गए हैं। कोई ऐतिहासिक बातोंको, दूसरा विज्ञानको, तीसरा बिज़िनेसकी बातोंको अधिक याद रखता है। एक कॉलेजका खिलाड़ी बादके जीवनमें पढ़नेकी बातें भूलकर फ़ुटबॉलकी बातें अब भी यादसे बता सकता था। शायद डार्विन और फ़्रेज़र भी अन्य क्षेत्रोंमें कम स्मृति रखते थे।

वर्तमान प्रयोजनोंके लिए भूतकालके अनुभव याद रखनेके कारण स्मृति लाभदायक

है। अतः अच्छी स्मृतिकी एक पहचान है कि वह सरलतासे स्मरण कर सके। इसके लिए कुछ बातें हैं। यह वह अवस्थाएं हैं जिनमें अनुभव प्राप्त किया गया है। ये पांच हैं, अनुभव की नवीनता (recency), तीव्रता (frequency), प्रधानता (primacy), स्पष्टता (vividness), और सम्बन्ध स्थापित करनेकी योग्यता। प्रयोगके द्वारा इन पांचोंका कार्य समझमें आ सकता है। अपनी कक्षाके बालकोंके सम्मुख १३-१४ शब्द पढ़िए, जो लगभग समान रुचिके हैं, परन्तु एक अधिक रुचिकर हो। उनमेंसे एक शब्द दो-तीन बार कहिए। आप देखेंगे कि पहला, आखिरी, कई बार कहा हुआ और सबसे अधिक रुचिकर शब्द अधिक याद होंगे। पहले तीन अर्थात् नवीनता, प्रधानता और तीव्रता अनुभवके ऐहिक (temporal) रूप हैं और स्पष्टता इसका गुण बताती है। सम्बन्ध स्थापित करने की योग्यता सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

नवीनता. अनुभव जितना ही नवीन होगा उतना ही शीघ्र याद हो सकेगा, यह एक साधारण अनुभवकी बात है। अध्यापनमें यह इसलिए भी विशेष है कि रटनेके कामको कम करता है। परीक्षाके ठीक पहले अपनी स्मृतिको ताजा करना विद्यार्थीके लिए बहुत महत्त्व रखता है। यदि रटनेका समर्थन करें तो इसका ग़लत प्रयोग होगा। रटनेका अर्थ है परीक्षासे ठीक पहले किसी भांति दिमाग़में सब चीज़ोंका भर लेना। इस प्रकार सीखनेसे मनमें सम्बन्ध नहीं बनते। अतः रटनेसे शिक्षाका प्रयोजन सिद्ध नहीं होता और इसलिए परीक्षा योग्यताका खराब टेस्ट हो जाती है। तो यह सबसे मितव्ययी विधिके विचारसे सर्वोत्तम होती (यदि इससे वांछनीय फल मिलें), परन्तु ऐसा नहीं होता। अध्यापककी हैसियतसे नवीनताका नियम हमारे लिए अर्थ रखता है, क्योंकि पाठके अन्तमें जिन बातों पर हम ज़ोर देना चाहते हैं और दूसरे दिनके लिए याद रखना चाहते हैं, उनको दोहरानेका मूल्य इससे मालूम हो जाता है।

प्रधानता. प्रत्येक व्यक्ति प्रथम प्रभावकी शक्तिको मानता है। यह सदा स्थायी होते हैं। नई चीज़ ध्यानको आकर्षित करती है। एक जर्मन व्यक्तिके विषयमें बताते हैं कि अंग्रेज़ी भाषा-भाषी देशका नागरिक बन जानेके बाद उसे जर्मन भाषामें बातचीत करनेमें कठिनाई होने लगी। परन्तु अन्तिम बीमारीमें वह अंग्रेज़ी बिलकुल भूल गया और अपनी देशी जर्मनमें बातचीत करने लगा। वृद्धजन प्रायः नवीन बातोंको भूल जाते हैं परन्तु अपने बचपनकी स्मृतिको बड़ा स्पष्ट रखते हैं। इससे अध्यापक समझ सकता है कि बालकको नई वस्तु आकर्षक होती है, अतः उसे नए विषयकी भूमिकाको बहुत रुचिकर बनाना चाहिए। कुछ लोग किसी विषयके प्रति घृणा करते हैं उसका कारण यह है कि उसके साथ

कोई असुखकर अनुभव सम्बन्धित है।

स्पष्टता. यह संवेदनकी तेज़ी है। पढ़ानेमें इसका तात्पर्य है कि अस्पष्टता और एकस्वरता न हो, वरन् पाठ आकर्षक, स्पष्ट और ज़ोरदार हो। गहरा प्रभाव पक्का होता है। आकृष्ट करनेवाली घटनाका वर्णन हम बड़ी सच्चाईसे याद कर लेते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि हम अपनी शिक्षामें चमत्कारपूर्ण विधियां काममें लाए। परन्तु अध्यापकके तरीक़े हर समय सावधान, सच्चे और प्रयोजनयुक्त होने चाहिएं। उसकी बोली स्पष्ट, तेज़ और प्रभावशाली हो। उसकी परिभाषाएं शुद्ध, उसकी पाठ सामग्री ठीकसे चुनी हुई तथा उसके उदाहरण उचित और प्रकाशपूर्ण हों। हतोत्साह करनेवाला दंड इतना स्पष्ट हो कि भविष्यमें फिर वह काम न हो। निम्न श्रेणीके बालक अपनी इन्द्रियोंके वशीभूत होते हैं, अतः हमें उन्हींकी सरलता लेनी चाहिए।

तीव्रता. अभ्यास व्यक्तिको पूर्ण बनाता है। पढ़ानेमें इसको इस रूपमें कहा जा सकता है कि पुनरावृत्ति सीखनेकी जननी है। यह आदत डालनेमें भी बहुत आवश्यक है, और उच्च शिक्षामें भी कम आवश्यक नहीं। नए अध्यापकमें कदाचित् यह सबसे बड़ा दोष होता है कि वह काफ़ी पुनरावृत्ति नहीं करता।

सीखनेकी प्रक्रिया. नाड़ियोंके कर्षकी कोमलता तथा साकार सामग्रीसे सम्बन्ध होने के कारण उपर्युक्त चार भाग अच्छी तरह काम करते हैं। परन्तु सीखनेमें हम ऐसे अनुभवोंसे नहीं वरन् भाषासे, जो लाक्षणिक है, सम्बन्ध रखते हैं। अतः जो हमें याद करना है वह एक प्रकारसे संक्षिप्त अनुभव है। इस प्रयोजनके लिए सबसे लाभप्रद बात सम्बन्ध या संगठन है। यह विचार सम्बन्धोंके द्वारा निर्णयोंको सामूहिक बनाना है, जो विचारोंके द्वारा गुथ जाते हैं। जब एकबार दो चीज़ें विचारमें सम्बद्ध हो जाती हैं तब वह पुनरावृत्तिकी अपेक्षा मनमें अधिक स्थायी रूपसे स्थान कर लेती है।

इसी कारणसे स्मरणके लिए सम्बन्ध सर्वोपरि है। विचार सम्बन्धके दो नियम हैं—(१) «समानता» का और (२) «तारतम्य» का (contiguity)। (१) समान अनुभव एक-दूसरेका स्मरण कराते और समान विचार एक-दूसरेका संकेत करते हैं। नीले शब्दके प्रयोगमें नीला आकाश, नीला कोट आदि कई विचार मनमें आ सकते हैं। इनमें से प्रत्येक विचार किसी पूर्व विचारकी समानताके कारण आता है। चतुर और काल्पनिक मस्तिष्क समानता जल्दी देख लेते हैं। इस प्रकार उनके मानसिक सम्बन्धोंमें तुल्यता अथवा समानता शृंखला बना देती है। इसका उपनियम विरोधका नियम है, जो बताता है कि परस्पर विरोधी बातें भी एक-दूसरेकी याद दिलाती हैं। जैसे गरमीसे ठंडका संकेत

होता है, लम्बेसे छोटेका, पहाड़से घाटीका, गुणसे दुर्गुणका। यह भिन्नताके प्रत्यक्षके कारण होता है और वास्तवमें वह समानताके नियमका ही एक रूप है। मनुष्य-चरित्रके रूप होनेके कारण गुण और दुर्गुण समान हैं। काला और सफ़ेद रंग हैं, रात-दिन एक ही समान चीजें हैं। समानताके द्वारा स्थापित सम्बन्ध उच्च मस्तिष्ककी निशानी है। मौलिक विचारकों और अन्वेषकोंमें इसका सर्वोत्तम प्रदर्शन होता है। (२) साधारणतः तारतम्य के कारण सम्बन्ध बनते हैं। जिन वस्तुओंका अनुभव एक साथ होता है वह सम्बद्ध हो जाती हैं और एक-दूसरेकी याद दिलाती हैं। सम्बन्ध प्रायः समय और स्थानका होता है। आश्विन कहनेसे कार्तिक और कार्तिकसे कार्तिकेयका ध्यान आ जाता है। जब हम क्रमानुसार बोलकर सीखते हैं तो प्रधानतः तारतम्यके नियमके कारण विचार मनमें सम्बद्ध हो जाते हैं। जैसे क, ख, ग, घ, ङ से च, छ, ज, झ, ञ याद आ जाते हैं। तारतम्य द्वारा स्थापित सम्बन्ध सर्वोत्तम नहीं हैं और इससे कभी-कभी पढ़ानेमें घातक परिणाम हो जाते हैं। जो अध्यापक समझानेके लिए तारतम्य (contiguity) पर आश्रित रहता है वह समय व्यर्थ नष्ट करता है। 'चाय' के ऊपर पदार्थ पाठमें अध्यापक इस प्रकार भूमिका बनाता है, 'आज सुबह तुमने नाश्तेमें क्या पीया ?' कदाचित् बहुतसे बालकोंसे पूछनेके पश्चात् उसे उत्तर मिले'चाय',और कदाचित् यह उत्तर बिल्कुल भी न मिले। यहां अध्यापकन तारतम्य पर भरोसा किया और घुमा-फिराकर ऐसा सवाल पूछा जिसके अनेक सही उत्तर हैं। यदि तारतम्य ही काममें लाना है तो निकटका होना चाहिए। जैसे दूधके बदले, जाड़ेमें तुम्हारी मां नाश्तेमें क्या पीनेको देती है ? तारतम्यका नियम वस्तुओंको स्पर्शमात्र सिखानेका भी उत्तरदायी है। जो अध्यापक असम्बद्ध बात करता है वह वास्तविक पाठसे समय और स्थान सम्बन्धी घटनाओं द्वारा बहक जाता है और हो सकता है कि परिणाम तक कभी न पहुंचे।

सम्बन्धका एक अंग होनेके कारण हेतुत्व (causality) इतना आवश्यक है कि इसे संगठनके अलग नामसे पुकारा गया है। कारण-सम्बद्ध विचारोंमें सहचारिता सम्बद्ध विचारोंसे अन्तर बतानेवाली दो विशेषताएं हैं। पिछले विचार समकालीन होते हैं और पहलेमें परिणामके पूर्व कारण होना चाहिए। दूसरे सहचारिता-सम्बन्धमें नहीं वरन् कारण और परिणाममें आवश्यक है कि एकके बाद दूसरा आए। इस प्रकार कार्य-कारण सम्बन्ध समय और स्थानसे स्वतंत्र और विस्तृत तथा स्थायी होते हैं और मानसिक शिक्षामें बहुत काम आते हैं। वैज्ञानिकसे अवैज्ञानिक और चतुरसे मूर्खका अन्तर करनेवाली योग्यता ही इस प्रकारके सम्बन्ध बनाती है। व्यर्थ बातोंकी अपेक्षा क्रमबद्ध बातोंको कंठस्थ कर लेना

सरल है। विचार-सम्बन्ध बना लेना ही याद कर लेना है। यही कारण है कि हम रटानेकी अपेक्षा तर्कबुद्धि प्रधान (rational) शिक्षा पर अधिक ज़ोर देते हैं। भूगोल, इतिहास, विज्ञान कोई भी विषय हो, कार्य-कारणका क्रम बताकर ज्ञानको मस्तिष्कमें बैठाते हैं। यह हमें इस विचार पर ले जाता है कि विज्ञान चूंकि तर्कबुद्धि-प्रधान प्रणाली है, स्मृति सहायक और श्रम बचानेवाली चीज़ है। बहुतसे उदाहरण देनेके बदले यह उन सबसे एक ऐसा नियम तैयार कर लेता है जो उनमें सम्बन्ध बताता और इस प्रकार मेहनत बचाता है। दार्शनिक प्रणालीको भी, जो कि सब ज्ञानका एकीकरण करती है, मानसिक मितव्ययता अवश्य करनी चाहिए। विचार-क्षमता अच्छी स्मृतिकी कुंजी है, क्योंकि विचारना सम्बन्ध स्थापित करनेका दूसरा नाम है। तथ्योंको मस्तिष्कमें बैठानेके लिए कार्य-कारण सम्बन्ध बताने चाहिएं। पुनरावृत्तिके बदले उन बातोंको सम्बन्ध द्वारा बुद्धिमत्तासे समझाना चाहिए। जब इस प्रकारकी विचार-शक्ति नहीं होती तभी स्मृति भी नहीं होती और असम्बद्ध बातें भूल जाती हैं। यदि अध्यापक प्राकृतिक धारणा-शक्तिके लिए कुछ नहीं कर सकता तो वह सम्बन्ध स्थापित करनेके लिए तो बहुत कुछ कर सकता है और इस प्रकार अच्छी स्मृति बना सकता है।

स्मृति शिक्षण-प्रणालीके रूपमें स्मृतिकी सहायताकी और भी विधि हैं। यह अपनी सफलताके लिए उन कृत्रिम तरीक़ों पर आश्रित है जैसे अनुभवके समूह बनाकर याद दिलानेमें सहायक होना। आजकल स्मृति-प्रणालियां बहुत लोकप्रिय हैं। वह बालकसे एक विशेष ढांचा बनवाते हैं और इसके आधार पर एक विशेष सम्बन्धमें याद करनेकी सब बातें क्रमबद्ध करते हैं। जहां सफलता मिलती है वहां मानना पड़ेगा कि प्राकृतिक देनकी योग्यता क्रमबद्ध करनेवालेने बढ़ा दी। छोटे क्षेत्रमें ध्यान केन्द्रित करनेसे ही जल्दी याद होता है। स्मृति-शिक्षण करनेवालोंकी इच्छा-प्रबलतासे ही समझो आधा युद्ध तो जीत लिया जाता है। स्मृतिकी उन्नति सम्बन्धोंके संगठन पर भी आश्रित है। स्मृति सुधारनेके सिद्धान्त याद करनेवाली वस्तुसे सम्बन्ध स्थापित करना है, उसके बाद वह विचार और अवधानके द्वारा चेतनामें स्थापित की जाती है। जैसे तारीख और नाम याद करनेमें कोई तर्कबुद्धिमूलक विचार-सम्बन्ध तो होता नहीं, अतः स्मृति सहायक सम्बन्धके लिए उसमें कृत्रिम कारण देनेकी चेष्टा करता है। जैसे पाइक्स पीक (Pike's Peak) की ऊंचाई १२,३६५ फ़ीट याद करनेमें कठिनाई न होगी, यदि उसका सम्बन्ध वर्षके १२ महीने और ३६५ दिनसे कर दिया जाय। तारीखें याद करनेमें इतिहासज्ञकी विधि अच्छी है। वह घटनाओंको संयुक्त करना जानता है, अतः घटनाको सरलतासे ठीक

जगह पर लगा देता है। इन तरकीबोंसे मिली सहायता भी अनुचित है, क्योंकि यह हमें रटनेमें लगाती है और विचारोंकी अपेक्षा शब्दों पर अधिक ध्यान देती है। परन्तु कुछ चीज़ें ऐसी हैं जो बालक समझ नहीं सकता, फिर भी उसे कंठस्थ करनी होती हैं। जैसे 'तीस दिनोंका है सेप्टेम्बर'। रागसे सीखनेमें सरलता होती है। यदि हमें मंत्रिमंडलके सदस्योंके नाम याद करने हैं तो उनको ऐसे क्रममें रख लिया जाय कि ध्वनिका कुछ मिलान हो सके। प्रथम अक्षरोंको मिलाकर याद करनेसे भी ठीक रहता है, जैसे पैप्सू (P.E.P.S.U.)।

इससे हम कंठस्थ करनेके प्रश्न पर आते हैं। इस बात पर प्राचीन शिक्षाने आवश्यकता से अधिक ज़ोर दिया और नई शिक्षा इसे आवश्यकतासे अधिक घृणाकी दृष्टिसे देखती है। मॉन्टेगू (Montaigue) का कहना था कि कंठस्थ करना सीखना नहीं है। यह जब हो सकता है जब हम रटने (learning by rote) और कंठस्थ करने (learning by heart) में अन्तर करें। कंठस्थ करनेका अर्थ यह है कि विषयको इतना मान लिया जाय कि वह हमारा एक अंग हो जाय। बातें विचारोंके क्रमसे याद होती हैं और शब्दोंके क्रमसे भी। रटनेमें शब्दोंका ही क्रम ध्यानमें रखा जाता है, विचारोंके क्रमकी अवहेलना होती है। उनके अर्थ पर बिना ध्यान दिए ही तोतेकी तरह रटना होता है। दोनोंका अपना क्षेत्र है। वैसे दोनोंमें से कोई भी बहुत प्रशंसनीय नहीं है, परन्तु रटना और भी खराब है। जब केवल आकार पर ध्यान देना है, तब तो रटना वांछनीय और न्याययुक्त है। एक कविताकी सुन्दरता उसके आकारमें है। यह बड़ा बुरा लगता है, जब कोई व्यक्ति कोई उक्ति कहनेकी कोशिश करता है और बड़ी मुश्किलसे उसके टुकड़े ही याद कर पाता है और अपना जोड़-तोड़ बैठाता है। एक कविता या तो ज्योंकी त्यों सुनाई जाय या उसके अर्थ समझाय जायं। ६-१० वर्षकी आयुमें बालकका मस्तिष्क बहुत कोमल होता है, अतः उस समय कुछ भी धारण कर सकता है। इस समय उसे ऐसी चीज़ें याद करा दी जायं जो उसे आगे जीवनमें लाभदायक हों। वह जो सीखता है, शायद समझ न पाय, पर बाद में समझ जायगा। बात यह है कि उसके मस्तिष्ककी कोमलताका पूरा लाभ उठाया जाय। इतिहासकी तारीखें, भूगोलका प्रदत्त, व्याकरण आदिका कोई अर्थ नहीं, पर याद कराना होता है। साहित्यके सुन्दर खंड, जिनमें उच्च विचार और सुन्दर भाषा हो, कंठस्थ करने चाहिएं। गणितके सूत्र (formulæ) और परिभाषा जो हमारे ज्ञानको संक्षिप्त रूप देती और अस्त्र बना देती है, रट लेने चाहिएं। परन्तु अच्छा तो यह होगा कि वह भी बिना समझे न याद किए जायं। इस प्रकार विशेष बातोंके निरीक्षणसे नियम सीखे जा

सकते हैं, विशेष घटनाओंसे नियम निकालकर और वर्गीकरण करके भी। कुछ बातें ऐसी भी हैं जो कंठस्थ नहीं करनी चाहिएं, जैसे व्याकरणमें अपवादोंकी सूची, या भौगोलिक प्रदात्तकी सूची या आयात-निर्यात, खाड़ी, अन्तरीप आदिकी सूची।

चूंकि कंठस्थ करनेका भी कुछ मूल्य है, हमें ऐसा करनेकी सर्वोत्तम विधि निकालनी चाहिए। इसके तीन तरीक़े हैं, पुनरावृत्ति, एकाग्रता (concentration) और स्मरण (recall)। पुनरावृत्ति तीव्रता (frequency) पर आश्रित होती है। एकाग्रता अवधानसहित पुनरावृत्ति पर। स्मरणमें हम उसी विषयको जितनी बार हो सके दोहराकर स्मरण करनेकी चेष्टा करते और विचार सम्बन्धोंको स्थिर करते हैं। पिछली विधि सर्वोत्तम है, क्योंकि यह पहली दो को मिला लेती है; मितव्ययी भी है, क्योंकि सीखनेवाला जैसे ही सीख लेता है रुक जाता है, स्मरण करके देखता और निश्चय हो जाता है। वह अच्छी आदत डालता और सम्बन्ध तथा संगठनसे काम करता है। सामग्रीका प्रयोग करने की दो विधियां हैं।

पूर्ण और विभाग रीति. विभाग-रीतिमें यह होगा कि कविताकी एक पंक्तिकी पुनरावृत्ति की जाय और जब वह याद हो जाय तब आगे बढ़े। इससे ग़लत सम्बन्ध बन जाते हैं जैसे एक पंक्तिका प्रारम्भ और अन्त सम्बन्धित हो जाते हैं और पूरी कविता सुनानेमें भूलें हो जाती हैं। अनुभवके द्वारा 'पूर्ण रीति' अधिक मितव्ययी समझी गई है। यह ठीक सम्बन्ध बनाती और पूर्ण विचार पर ज़ोर देती है, अतः समय बचाती है। इसमें कुछ दोष भी हैं। जब विषय समान कठिनाईका नहीं होता, तब सब भागों पर समान समय लगाना समय नष्ट करना होगा। दूसरे, पहले कुछ प्रयत्नोंमें सफलता न मिलनेसे सीखने वालेको निरुत्साहित भी होना पड़ता है। स्मरणका प्रयोग करना भी कठिन है। अतः दोनों विधियोंका सम्मिश्रण अच्छा होगा। जैसे यदि एक लम्बी कविता याद करनी है तो पद्य-पद्यमत याद करो, वरन् विचार समूहमें उसे बांट लो। जब ऐसे टुकड़ोंमें याद हो जाय तब पूरा सीखो।

कंठस्थ करनेमें जो समय लगाया जाता है उसका प्रयोग भी पूर्ण या विभाग विधि से हो सकता है। यह अधिक लाभप्रद होता है यदि हम पुनरावृत्तियोंको अधिक समयके अन्दर विभाजित कर दें, इसकी अपेक्षा कि सब एकदमसे करें। इससे धारणा अच्छी होती है। यदि १२ पुनरावृत्तियोंसे याद कर सकते हो तो यह अच्छा होगा कि ३-४ के समूहमें एक-एक बार करो, फिर रुक जाओ। विरामके समय मस्तिष्क अपने आप कुछ सीखता रहता है। डाक्टर बलार्ड ने प्रयोगसे सिद्ध किया है कि दो दिनके बाद सबसे अच्छा याद

होता है। इससे कम समयमें कम याद होता और अधिक समयमें अधिक भूलता है। रोगी की स्मृतिशक्ति एकदमसे नष्ट होने पर, जब वह अच्छा होने लगता है तो पहले बहुत पुरानी बातें याद होतीं और फिर निकट की। इसका अर्थ यह है कि सीखनेमें थोड़ा विराम देनेसे याद होता है। अभ्यास छोड़ देनेसे सम्बन्ध शृंखला पक्की होती है, इसका यह अर्थ नहीं कि वह तैयार होती रहती हैं, बल्कि एक तो विश्रामके कारण थकान मिटनेसे, दूसरे शृंखलाके अधिक पक्की होनेसे और तीसरे अप्रयोगके कारण अवांछनीय शृंखलाओंके निर्बल होनेसे सुधार होता है। कंठस्थ किया जानेवाला विषय बालकोंके सामने इस प्रकार रखा जाय कि सब इन्द्रियां प्रभावित हों। राग भी सहायक होता है। प्रत्येक बालक अपनी गतिसे काम करे और विश्रामके काल भी हों। अध्यापक अर्थ समझाए और खंडके विचार सम्बन्ध बताए।

स्मृति कई प्रकारकी होती है। तात्कालिक (immediate) स्मृति थोड़े समयके लिए होती है। यह वक्ताओं, उपदेशकों, वकीलों और अध्यापकोंके लिए बहुत लाभदायक है। उन्हें थोड़े समयके लिए बहुत बातें याद रखनी होती हैं। स्थायी स्मृति बहुत समयके लिए होती है। यह अधिक मूल्य रखती है। बच्चोंमें तात्कालिक नहीं स्थायी स्मृति होती है। यदि विषयोंके क्रमके अनुसार स्मृतिका विभाजन करें तो (१) असम्बद्ध स्मृति (desultory) में क्रमहीन बातें भी धारणाशक्तिके कारण याद होती हैं। (२) रटनेकी स्मृतिमें सब शब्द ज्योंके त्यों सुना दिए जाते हैं। (३) तार्किक स्मृति उन्हीं शब्दोंको नहीं दोहराती वरन् अर्थ समझा देती है। यह स्मृति अर्थकी है। बच्चोंमें असम्बद्ध और रटनस्मृति बहुत होती है, परन्तु तार्किक बहुत कम। अध्यापक, मुंशी, राजनीतिज्ञ तथा अन्य लोगोंको असम्बद्ध स्मृतिकी बहुत आवश्यकता होती है। रटनस्मृतिकी आवश्यकता नाटक खेलनेवाले, गायकों और संगीतज्ञोंको अधिक होती है। याद करनेकी गतिसे स्मृति तीव्र या मन्द हो सकती है। जल्दी सीखना, जल्दी भूलना सत्य नहीं हैं। जो जल्दी सीख लेते हैं उनमें प्रायः धारणाशक्ति बहुत होती है। सीखनेकी सरलता और धारणाशक्ति आपसमें सम्बद्ध होती हैं, अतः एक व्यक्तिकी अपार धारणाशक्ति उसकी स्मृतिको पक्का करती है, चाहे सीखनेकी विधियां कितनी ही अच्छी हों।

भूली हुई बातका स्मरण करनेमें थोड़ी-सी पुनरावृत्तिकी आवश्यकता होती है। शारीरिक आदतें जैसे साइकिल चलाना, तैरना आदि इतनी जल्दी नहीं भूलतीं जितनी जल्दी भाषाकी आदतें। एक तो मौलिक सम्बन्धोंके कारण दूसरे वह बहुत अधिक सीखा हुआ होता है। भाषाकी आदत कृत्रिम होती है, और अत्यधिक सीखी हुई भी नहीं होती।

५-१० वर्षकी शारीरिक आदतें ५०-९० प्रतिशत भूलतीं और भाषाकी शत प्रतिशत। सार्थक विषय जैसे कविता आदि देर तक याद रहता है, निरर्थक जल्दी ही भूल जाता है। एबिंघौस (Ebbinghaus) ने पता लगाया कि सीखा हुआ विषय २० मिनट बाद ५८ प्रतिशत याद रहता है, एक घंटे बाद ४४ प्रतिशत, नौ घंटे बाद ३९ प्रतिशत, एक दिन के बाद ३४ प्रतिशत, दो दिनके बाद २८ प्रतिशत, ६ दिन बाद २५ प्रतिशत और ३० दिन के बाद २१ प्रतिशत। अतः २४ घंटेके अन्दर सबसे अधिक भूलता और बाक़ी तीन दिन में भूलता है। अतः हमें प्रारम्भिक अवस्थामें ही भूल जानेके पहले पुनरावृत्ति करके पक्का कर लेना चाहिए। उसने यह भी बताया कि भूली चीज़ सीखनेमें जितनी ही देर लगेगी उतनी ही समयकी बचतकी कमी होगी। अप्रयोगसे भूलता है, इसी कारण वर्षके अन्तमें पाठोंको दोहराते हैं। चित्त-विश्लेषण (psychoanalysis) करनेवालोंने बताया है कि विस्मृति केवल निष्क्रिय कार्य नहीं होता। उनके विचारसे यह रक्षा-मंत्र है जिससे दुःखदायक अनुभव दिमाग़को आवृत न किए रहें। हम चेक भुनाना याद रखते हैं बिल चुकाना नहीं। सुखद अनुभव दुखदसे अधिक याद रहते हैं। हमें व्यर्थ बातोंको भूलनेकी कला सीखनी चाहिए, जिससे चेतना इन बातोंसे न भरी रहे।

८

कल्पना

कल्पनाकी परिभाषा इन्द्रियोंके समक्ष न होनेवाले पदार्थोंकी चेतना है। प्रत्यक्षीकरण में संवेदन उत्पन्न करनेवाली उत्तेजना सामने होती है परन्तु स्मृतिमें मौलिक उत्तेजना नहीं रहती। अतः कल्पना और स्मृति दोनों आदर्श प्रतिनिधित्वके उदाहरण हैं, जिनमें पूर्वानुभूत अनुभव प्रतिमाके रूपमें स्मरण किए जाते हैं। स्मृति पूर्वानुभवोंको मौलिक समूहोंमें लानेका प्रयास करती है। हमारी परिभाषाके अनुसार यही कल्पना भी हुई, क्योंकि यह उन पदार्थोंकी चेतना है जो इन्द्रियोंके समक्ष नहीं हैं। परन्तु यह कल्पनाका एक ही अंग है, जिसे पुनरुत्पादक (reproductive) कल्पना कहते हैं। कल्पनाका दूसरा रूप भी है जिसमें पुनरुत्पादक प्रतिमाएं पूर्वानुभूत संवेदनोंका स्मरण ठीकसे कराती हैं। परन्तु उनका समूह दूसरी प्रकारका होता है। स्मरण किए गए प्रत्यक्ष उन्नत, परिवर्तित और फिरसे सम्मिश्रित हो जाते हैं। पूर्वानुभवोंके परिणामस्वरूप जो सामग्री मस्तिष्कमें जमा है उसीसे प्रतिमाएं फिरसे बनती हैं। यद्यपि कोई नई सामग्री प्रयोगमें नहीं आती परन्तु पुरानीका ऐसा सम्मिश्रण हो जाता है कि बिल्कुल नया विचार बन जाता है। अतः इसे उत्पादक या रचनात्मक (constructive) कल्पना कह देते हैं। पुनरुत्पादक कल्पना तो स्मृति ही है अतः जब हम कल्पनाकी बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य रचनात्मक कल्पनासे होता है।

कल्पनाकी विशेषता यह है कि इसमें फिरसे पूर्वानुभूत संवेदनोंका समूह बनानेका प्रयास होता है। जब मस्तिष्क पुराने अनुभवोंका केवल पुनरुत्पादन करता या फिरसे बैठाता है तब मनोवैज्ञानिकोंके कथनानुसार पुनरुत्पादक कल्पनाका कार्य होता है। यदि पूर्वप्राप्त अनुभवोंको मस्तिष्क पहचान ले तो यह स्मृति है। अतः भूतकालके अनुभवोंको

पहचानना और पुनरुत्पादन करना स्मृति है, और दूसरी ओर यदि मस्तिष्क प्रतिमाओंका पुनरुत्पादन करता है और उन्हें नई प्रणालियोंमें एकत्रित कर देता है तो वह रचनात्मक कल्पनाका कार्य होता है। कल्पनाको प्रायः मस्तिष्ककी उत्पादक शक्ति कहा गया है, परन्तु वास्तवमें यह मस्तिष्कके पुराने विचारोंको नए क्रममें डालना है। पुराने अनुभवों को नए सांचेमें ढालना। यह उत्पादक नहीं वरन् रचनात्मक शक्ति है। इसमें बिल्कुल नया तत्व कोई भी नहीं आ सकता। कोई कल्पना ऐसे रंगका चित्र नहीं खींच सकती जो उसने देखा ही न हो। स्थल संसारकी भांति मानसिक संसारमें भी नई रचना करना असम्भव है।

दोनों प्रकारकी कल्पनाके उदाहरण सरलतासे मिल जाते हैं। अध्यापक विद्यार्थियों को निकटकी पहाड़ी पर ले जाता है। वह चढ़नेमें लगा समय, भूमि, उपज, ठंड आदि सब पर ध्यान देते हैं। लौटने पर उनके मस्तिष्कमें स्मृतिके कारण पहाड़ीकी प्रतिमा आती है। यह पुनरुत्पादक कल्पनाका उदाहरण है। अब इस पहाड़ीके विचारके आधार पर अध्यापक पहाड़का विचार बनाना चाहता है। वह ऐसे पहाड़का वर्णन करता है जिस पर चढ़नेमें १३-१४ घंटे लगें, जिसकी चोटी पर कोई उपज नहीं, केवल बर्फ़ और बादल ही हैं। यह पुराने विचारोंका मिश्रण करके बिल्कुल नई वस्तु तैयार करना है। यह उनके पहाड़ीके अनुभवसे बनाया गया।

प्राचीन कालमें लोग यह सोचते थे कि कल्पनाका कोई व्यावहारिक लाभ नहीं, अतः उसका दमन किया जाय। परन्तु अब इसका मूल्य माना जाता है। नये बाग़की योजना बनानेवाला माली चित्रकार, गणितज्ञ, इंजीनियर सबको वह ज्ञान चाहिए जो वहां नहीं है। यह केवल कवि, कहानी लेखक, कलाकार, संगीतज्ञ और अन्वेषकके लिए ही नहीं है वरन् संसारके सब पदार्थोंके पीछे एक विचार है जो उत्पादक है और जो पूर्व विचारोंके सम्मिश्रणसे नया विचार बनाता है, अथवा यों कहा जाये कि यह कल्पनाका कार्य है। स्मृतिका मूल्य इसमें है कि अनुभवकी वैसीकी वैसी पुनरावृत्ति हो जाती है। कल्पना हमें बदलती हुई परिस्थितियोंसे सामना करने योग्य बनाती है, और स्मृति अपरिवर्त्तित परिस्थितियोंसे। हम अपनी पूर्वानुभवकी स्मृतिकी सहायता पर ही नई चीज़के लिए आश्रित नहीं रह सकते। हम बहुतसे तत्वोंको अपने अनुभवसे और कल्पनाके द्वारा दूसरे क्रममें डालनेकी चेष्टा करते हैं जिससे प्रतिक्रियाकी ठीक विधिका पता चल सके। यदि हम ऐसा नहीं करते तो सदा भूतकालके बन्धनमें पड़े रहते हैं। सबसे लाभप्रद बात है बिल्कुल नई परिस्थितियोंकी कल्पना और फिर उन परिस्थितियोंके लिए तैयार रहना।

यह दूरदृष्टि है। आदर्शवादम यह मनुष्यको अच्छा और योग्य बनानेकी चेष्टा करता है, अतः उन्नति इसी पर आश्रित है। विज्ञानमें इससे सिद्धान्त बनते हैं, साधारण जीवनमें यह मनुष्यको चमका देता है।

कल्पनाके कई वर्ग हैं। एक तो यह अनुरूपी (imitative) होता है, जैसे एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिके कार्य, कविता, चित्र, पुस्तक आदिको पसन्द करता है। यह उत्पादक हो सकता है जैसे कविमें, गायकमें, चित्रकारमें। उत्पादक कल्पनाके भी दो प्रकार हैं, यह इस पर आश्रित हैं कि उत्तमताकी मर्यादा मनुष्यके लिए बाह्य है या आन्तरिक। प्रथम बाह्य प्रदर्शन (pragmatic) वाला जैसे पुल, दूसरा कलाका (aesthetic) जैसे कविता, पुस्तक आदि। एक तीसरा प्रकार भी है, जो स्वच्छन्द है और जिसे मनतरंग (tantasy) कहते हैं। यह वही प्रकार है जिसे मैडम मांटेसरी जैसे व्यक्तियोंने नापसन्द किया और वह परियोंकी कहानियोंके विरुद्ध हैं। उत्पादक कल्पनाका दूसरा वर्गीकरण है—मनगढ़न्त (fanciful), वास्तविक (realistic) और आदर्शवादी (idealistic)। मनगढ़न्त कल्पना स्वच्छन्द है, सम्भवकी परवाह नहीं करती और विस्तृत होती है। यह स्वयं अपना परिणाम है और अपनेसे परे कुछ नहीं देखती। छोटे बच्चोंकी कल्पना इसी प्रकारकी होती है। यह उनकी खेलकी दुनियां है। उनकी कल्पना की विचित्रताओंकी तुलना वयस्कोंके स्वप्नसे की जाती है। अनुभवहीनता और प्राकृतिक नियमोंकी अज्ञानताके साथ बालककी कल्पना अपने निकटकी सामग्रीकी सहायतासे इधर-उधर दौड़ लगाती है, जैसे किसी भी डंडेको घोड़ा बना लेना। कुछ बड़े आदमियोंमें भी होती है, जैसे बालिश्तोंकी कहानीका लेखक। हवाई किले बनानेमें सभी वयस्क इस प्रकार की कल्पना करते हैं। वास्तविक कल्पना वास्तविक दशाओंमें ही सीमित रहती है और सम्भवसे व्यवहार रखती है। इसका कुछ प्रयोजन होता है और कुछ प्रयोग भी। इसमें अन्य विभागोंकी भांति बहुत-सा संवेगात्मक (emotional) भाग नहीं होता। यह तर्क और विचार करनेमें बहुत लाभप्रद है। यह नई परिस्थितियोंसे व्यवहार करती और उनकी रचना करती है। उनसे व्यवहार करनेके साधन निकालती और परिणाम पहलेसे बता देती है। यह अन्वेषक, कारीगर, डॉक्टर तथा अध्यापकके काममें आती है। तथा और भी बहुतोंके काममें आती है। परिवर्तनशील क्षेत्रोंमें यह बहुत क्रियाशील है। आदर्शवादी कल्पना बीच की है। न उड़ानवाली और न वास्तविककी सीमाके अन्दर रहनेवाली। यह सम्भवसे, जो हो सकता है पर हुआ नहीं है, उससे व्यवहार करती है। यह सदा भविष्य की ओर देखती है, क्योंकि कार्यरूपमें

परिणत होने पर आदर्शवादी नहीं रहती। इसका आनन्द इसीके लिए है, परन्तु इसीके लिए जीवित नहीं वरन् परिणामकी ओर दृष्टि लगाये रहती है। यह मनुष्य-जीवनसे सम्बन्धित है। इसमें संवेगात्मक भाव होते हैं। यह आदर्शोंका हृदय है। किशोर इसी कल्पनामें रहता है। उसके स्वप्न भविष्य-सम्बन्धी होते हैं, साथियोंकी सेवा, अपनी सफलता आदि। नायक-पूजन (hero-worship) में भी यह होती है और काल्पनिक तथा वास्तविक मनुष्यमें अन्तर करती है।

यह विभाग मनुष्यकी तीन अवस्थाओंके अनुकूल है। (१) बालपनकी कल्पना प्रचुर कही जा सकती है। यह वास्तविकता और कल्पनामें कोई अन्तर नहीं करती। इसकी अतिशयोक्तियां झूठ नहीं होतीं। इसकी विचित्र रचनाएं चेतनाको वास्तविक मालूम होती हैं। यह परियों और शहीदोंकी कहानियोंका काल है। (२) युवावस्थाकी कल्पना आदर्शवादी होती है। भविष्य और अज्ञात सुखद मालूम होता है। जीवनके वास्तविक अनुभव आदर्शवादके युगमें घिसट जाते हैं और मनुष्यप्रकृतिके बड़े-बड़े उदार आदर्श जीवन में वास्तविकताको ढूंढ़ते हैं। यह कहानी, अच्छे इतिहास, कल्पित कथा और साहसिक कार्योंके नायकका काल होता है। (३) वयस्क की कल्पना अनुशासित कहला सकती है। वास्तविकता गम्भीरवर्ण धारण कर लेती है। मनुष्य अपने दूरस्थ उद्देश्यकी ओर सन्तोषसे बढ़ता है। यह समय कलाकार, कवि, अन्वेषक तथा वित्त और उद्यमके नायकों का है। बालककी आश्चर्य पुस्तिका, युवावस्थाके स्वप्न और वयस्कके कार्य, विकासके क्रम मालूम होते हैं।

विशेषकर प्रारम्भिक अवस्थाओंमें यह देखना आवश्यक है कि ऐसी तरकीबें निकाली जायं कि सम्मुख आई सामग्रीसे विचारोंका प्रसंग मिल जाय, अतः बालकोंकी धारणा तर्कयुक्त हो, यह सिखाना चाहिए। यह बाह्य नियंत्रणसे हो सकता है। कुछ प्रायोगिक परिणाम कल्पनाके आश्रय पर बनाए जा सकते हैं। परिणामकी शुद्धता-अशुद्धता अंकुश बन जाती है। बालकसे एक कहानी चित्रित करनेको कहा जा सकता है। उसकी कल्पना के प्रासंगिक होनेकी परीक्षा उन चित्रोंका औचित्य अनौचित्य ही होगा और यह व्यावहारिक आवश्यकताओंसे भी सम्बद्ध होगा। कुछ लोग किसी विशेष विषय पर बहुत से विचार ले आते हैं परन्तु यह अप्रासंगिक होनेसे गड़बड़ा देते हैं। इसका कारण मौलिक प्रभावोंके ग्रहण करनेकी विधि है। कुछ मस्तिष्क उलझे हुए होते हैं और अन्य सुलझे हुए। एक उस मेज़की भांति है जिसमें सब चीज़ें बेतरतीब पड़ी हैं, और दूसरी उसकी भांति जिसमें सब चीज़ें वर्गीकरण करके ठीकसे लगी हैं। अतः यह इस पर आश्रित है कि

मौलिक प्रभाव किस प्रकार ग्रहण हुआ और आवश्यकता पड़ने पर सरलतासे मिल जायगा अथवा नहीं। उन बालकोंको जिन्हें एक नियम सिखा दिया गया है, उनको ऐसे सवाल दिये जा सकते हैं जिनमें विधिका चुनाव हो। जब किसी कल्पनाकी ठीकसे परीक्षा होती है तो पता चलता है कि कल्पना वहां तक लाभप्रद है कि यह व्यावहारिक प्रयोजनकी सहायक हो। इस प्रकारकी व्यावहारिक समस्याएं बालककी आवश्यकता अथवा रुचिसे सम्बन्धित की जा सकती हैं। यह भी वांछनीय नहीं है कि कल्पनाका अकेले शिक्षण हो। फिर भी ऐसे समयमें जब वह छोटे प्रश्न हल कर रहा है, जिसमें कठिन कल्पनाकी अधिक आवश्यकता नहीं तो उसकी कल्पना स्वयं ऊंची उड़ान करती है। अतः कल्पनाके अभ्यास के लिए पर्याप्त अवसर हो, ताकि यह बादमें विचारमें कार्य कर सके और कुछ तरीक़े ऐसे सिखा दे जिससे कुछ उत्पादक कल्पनाओंमें बालकके विचारोंके प्रासंगिक होने पर कुछ नियंत्रण हो सके।

मनुष्य-कल्पनाके सम्बन्धमें आयुका ही अन्तर नहीं है बल्कि मनुष्य भी मनुष्यसे भिन्न होता है। हमारी भिन्नता जिन इन्द्रियोंके द्वारा प्रभाव मिलते हैं उसके कारण होती है। हम अपनी सभी इन्द्रियोंसे प्रभाव प्राप्त करते हैं, परन्तु हम सब एक विशेष इन्द्रियसे प्रभाव लेना अधिक पसन्द करते हैं। जैसे कुछ लोग आंखसे, कानसे, गतिसे, स्पर्शसे ग्रहण करते हैं। एडरिज ग्रीन (Edridge Green) ने एक ऐसे व्यक्तिके विषयमें कहा है जो आंखसे बिल्कुल प्रभाव नहीं ग्रहण करता था। उसकी मां उसके सामने बैठी रहती, परन्तु जब तक वह न बोलती वह उसे अजनबी समझता। कुछ लोग आंखसे, अन्य कानसे, स्पर्शसे सीखते हैं। यद्यपि आजकलका मनोविज्ञान इस प्रकारके 'विशेष प्रकार' में विश्वास नहीं करता, परन्तु यह कहा जा सकता है कि हरेक क्लासमें सब प्रकारके लड़के होंगे। अतः पढ़ाते समय सब इन्द्रियों को आकृष्ट करना चाहिए। बोर्ड पर लिखना और बोलना दोनों होने चाहिएं। बालक जहाँ तक हो नई उत्तेजनाओंको देखे, सुने, हाथमें ले, लिखे और कुछ हालतोंमें चखे और सूंघे भी। कल्पनाके लिए जो सामग्री चाहिए वह भी शिक्षाका एक तथ्य है। कल्पनाकी उड़ानके लिए कुछ ज्ञानवाही सामग्री हो। अतः हमें सब इन्द्रियोंको काममें लाना चाहिए। इन्द्रिय-प्रभावोंकी जितनी संख्या और आधिक्य होगा, कल्पनाका उतना ही अच्छा विकास होगा। आजकी कल्पना कलके इन्द्रिय अनुभवोंका परिणाम होगी। हमारे पढ़ानेमें प्रत्येक वस्तुकी विशेषताएं सामने आ जानी चाहिएं, क्योंकि हम उसकी कल्पना उसकी विशेषताओंके रूपमें ही करते हैं। चाहे हमारी सबकी कल्पना

कितनी ही भिन्न हो घंटीकी कल्पना श्रवण-सम्बन्धी होती है, चित्रकी दृष्टि-सम्बन्धी, मखमलकी स्पर्श सम्बन्धी आदि। हमारी शिक्षा इस विशेषताको बताए।

कल्पनाके शिक्षणमें कुछ कार्य भी सहायक होते हैं। कहानियां चित्रित हों। पढ़ाई में आन्तरिक दृष्टि हो। केवल चित्रित पत्रों और अखबारोंका पढ़ाना ठीक नहीं, क्योंकि कल्पनाका उसमें कोई कार्य नहीं होता। कहानीमें प्राकृतिक दृश्योंके वर्णनकी आन्तरिक कल्पना हो। इतिहासके दृश्य मनमें जीवित हो जायं। ड्राइंग और हस्त-कौशलसे मनका विकास होता है, क्योंकि इसमें मस्तिष्ककी प्रतिमाओंका ठोस रूप बन जाता है। रचनात्मक कल्पना साहित्यके अध्ययनसे शिक्षित होती है। परियोंकी कहानियां और नायक-पूजन (hero-worship) ऐसी उड़ानकी दुनियां तैयार करते हैं कि संसारकी वास्तविकतासे हटकर वहां विश्राम किया जा सकता है। कविता और उच्च कोटिके गद्यके लिए काल्पनिक व्याख्याकी आवश्यकता है। अध्यापक बालक की उत्पादक शक्तियोंको जाग्रत् करे। वह कहानीकी खोज, चित्रकलामें निजी रचना, कविता लिखना, स्कूलके पत्रका सम्पादन करनेको उत्साहित करे। बालकको साहित्यिक आदर्शोंका अनुकरण करने दे। स्कूलमें बाग़ लगवाये और प्रदर्शनी करे। यह प्रतिमाओं के पुनर्मिश्रणमें अभ्यास दिलायंगे। प्रत्येक कल्पनामें दो प्रणाली होती हैं, अनुभवको अलग करना, और पुनर्मिश्रण कराना। मिश्रितमें से कुछ बातें अलग करनी होती हैं। प्रत्यय पढ़ते समय हम देखेंगे कि यह कैसे होता है। इन्हें अलग करना जितना ही पूर्णतासे होता है, विचारोंका मिश्रण उतना ही सरल हो जाता है। परियोंकी कहानी पढ़ते समय भूतप्रेत, और राक्षसोंके विषयको हटा देना चाहिए। इससे असम्बद्ध कल्पना दूर हो जायगी। इतिहास, भूगोल घरसे प्रारम्भ हों। ज्ञातसे अज्ञातकी ओर ले जायं। नमूने और चित्र बड़े लाभकारी होते हैं। इसी प्रकार यदि अध्यापकके शब्द-चित्र अच्छे हों तो लाभप्रद होते हैं। कुछ अध्यापक बहुत अधिक समझाते हैं, वह कल्पनाकी उड़ानके लिए कुछ भी नहीं छोड़ते।

६

चिन्तनकी ओर परिवर्तन

बौद्धिक जीवनमें कल्पनाकी केन्द्रीय स्थिति है। एक रूपमें यह स्मृतिसे मिलती है और दूसरेमें चिन्तन (thinking) में सम्मिलित हो जाती है। एकमें पहलेके इन्द्रिय-अनुभवोंका स्मरण दिलाती और दूसरेमें नए आकार उत्पन्न करनेके लिए उन्हीं अनुभवों को एकत्र करती, और इस प्रकार चिन्तनके निकट आ जाती है। प्राचीन मनोवैज्ञानिकों का विचार था कि मनुष्यका सम्पूर्ण मानसिक जीवन एकता और भिन्नताके प्रत्यक्षीकरण, धारणा-शक्ति और दो प्रकारके सम्बन्धों—समानता और सहचारिता—से बना है, और बुद्धिका अर्थ यही सब था। उनका कहना था कि सम्बन्ध (association) के नियम प्रत्येक विचार-शृंखलाको समझा सकते हैं। हर्बार्ट ने सम्बन्धको विचारोंकी सकारण (causal) शृंखला समझकर इसे इस काममें लिया, जिससे विचारों और सम्बन्धों तथा उनके उतार-चढ़ावकी वास्तविक यंत्र-रचना हो सके। यह कहा गया था कि यह नियम मस्तिष्कको चालू रखते और इच्छाशक्तिको उत्पन्न करते हैं। हम पहले ही देख चुके हैं कि हर्बार्ट के अनुयायियोंने संवेग पर अधिक ध्यान नहीं दिया। विचार केवल परस्पर ही आश्रित नहीं होते। बहुत बार वह हमारी अस्थायी उमंग (mood) और सांवेगिक अवस्था पर भी आश्रित होते हैं। हर्बार्ट का यांत्रिकताका विचार ज्योंका त्यों नहीं माना जा सकता। मनुष्यमें अपने सम्बन्धोंको नियन्त्रित करनेकी सीमित शक्ति होती है और यही शक्ति है जो विचार करनेवाले और तर्क-बुद्धिवाले मनुष्य और पशुमें अन्तर करती है। सोचनेका अर्थ केवल यही नहीं है कि सम्बन्ध-विचारोंका क्रम बंधा हो। यदि ऐसा होता तो उच्च-कोटिके पशु भी सोच सकते होते। लॉर्ड मॉर्गन के कुत्तेका उदाहरण है जब वह अपने मालिककी सीटी सुनता तो कमरेसे बाहर बगीचेमें जाकर अर्गला खोलता

और बाहर ही उससे मिलता था। सहचारिताके कारण सीटीकी आवाज़से उसको मालिक का स्मरण होता था। उसने सुखद अनुभवको सीटीकी आवाज़से सम्बद्ध कर रखा था। यह कुत्तेका विचार है और उसका तर्क बहुत कुछ मनुष्य तर्कके समान है। यह अभ्यस्त (habitual) या सम्बद्ध विचार है। फिर भी अर्गला खोलना एक उच्चकोटि का विचार है। छानबीन करनेसे वह भी एक सम्बद्ध विचार हो जाता है। शायद किसी दिन दरवाज़े पर नाक रगड़नेसे कुत्तेसे अर्गला खुल गई होगी। अर्गला, नाक रगड़ना, खुलना आदिके सम्बद्ध विचारोंकी उत्तेजनाने कुत्तेको स्वतंत्र कर दिया। लड़का इसी परिस्थितिमें पड़कर दूसरी प्रकारका व्यवहार करेगा। लड़केका चिन्तन आदत पर आश्रित है। दरवाज़ा खोलनेके सम्बन्धमें लड़के और कुत्तेमें विभिन्न मानसिक क्रिया होती है। कुत्तेका कार्य अपने-आप होता है और लड़केका मौलिक और रचनात्मक। यदि अर्गलाके बदले चटखनी हो तो कुत्ता मुश्किलमें पड़ जायगा। परन्तु बालक सोचेगा कि दरवाज़ा तो खुलनेके लिए होता है। समान परिस्थितियोंके पूर्व अनुभवसे वह उन विघ्नों को ढूंढ़ता है जो दरवाज़ेको बन्द रखते हैं। यदि चटखनी है तो घसीटता है, और पत्थर है तो लुढ़का देता है। उसके सम्बन्ध उत्पादक होते हैं। वह उसको विभिन्न परिस्थितियोंमें अनुकूल होना सिखा देते हैं। पशुकी शिक्षा प्रत्यक्ष-सम्बन्धी और बालककी प्रत्यय-सम्बन्धी कहलाती है। पशु समय बीतने पर, अभ्यास के कारण कार्य करनेमें कम समय लगाता है, परन्तु उसमें यदि थोड़ा भी अन्तर कर दिया जाय तो उसे फिरसे सीखनेकी आवश्यकता होती है। परन्तु बालक अपने पहले अनुभवके कारण परिवर्तनको और भी जल्दी सीख लेता है।

अतः विचार दो प्रकारके होते हैं, एक तो सम्बद्ध विचार जो पशुमें भी होते हैं, जिससे पता चलता है कि चीजें "हैं", और वह मतलबकी बातें पहचान लेता है; और दूसरा वह है जो पशुओंमें नहीं होता और जिससे इन्द्रियोंके द्वारा ज्ञात बातोंसे मस्तिष्क परिणाम निकाल लेता है। पिछलेको हम विचार बुद्धि (reasoning) कहते हैं। अध्यापकका यह विशेष कार्य है कि बालकोंको विचार करना और ठीकसे तर्क करना तथा अर्थ निकालना समझा दे।

हम बता चुके हैं कि परिवर्तित परिस्थितियोंमें हम विचारके ही द्वारा अपनेको व्यवस्थित कर लेते हैं। अभ्यस्त व्यवस्था (habitual adjustment) का सार यह है कि स्वयं हो जाय। यह बिना चेतनाके हो जाता है। इसका कारण यह है कि पुनरावृत्तिसे कार्य मशीनकी भांति होता है। कुछ ऐसी अवस्थाएं भी होती हैं जिनकी

इस प्रकार पुनरावृत्ति नहीं हो सकती, अत: उसमें मशीनकी भांति कार्य नहीं हो सकता वरन् हर बार विचार-शक्तिके द्वारा यह व्यवस्था की जाती है। इसका अर्थ यह है कि समान परिस्थितियोंमें आदत और परिवर्तनशीलमें विचारशक्ति व्यवस्था करती है। एक साइकिल चलानेवाला अभ्याससे सन्तुलन करना सीखकर अपने आप चलाता है, परन्तु जब सन्तुलनकी गड़बड़ी होती है तब चेतनाका काम होता है। जहाजका कप्तान ९९ प्रतिशत अवस्थाओंमें नित्यका काम आदतके अनुसार करता है, परन्तु तूफ़ानके समय या रास्ता भूल जाने पर उसके उच्चपदका उत्तरदायित्व सामने आता है। यह शायद उसके जीवनमें एक ही बार हो। वहां उसकी आदत उसकी सहायता नहीं करेगी। वह अपने तथा समान व्यक्तियोंके जीवनके समान अनुभवों तथा सिद्धान्तोंको याद करे और विशेष अवस्थाकी आवश्यकताके लिए कोई तरक़ीब निकाले। यही कारण है कि उत्तरदायी पदों पर स्थित व्यक्तियोंको अधिक वेतन दिया जाता है। उनकी परीक्षा कदाचित् जीवनमें एक ही बार होती है, पर उन्हें असफल नहीं होना चाहिए। सेनापतिका मूल्य रुपये आनेमें नहीं आंका जा सकता। ऐसे व्यक्ति अद्वितीय अवस्थाओंका सामना करते हैं और उन्हीं पर महान् परिणाम आश्रित रहते हैं। ऐसे व्यक्ति पदाक्रान्त मार्ग पर नहीं चलते, वरन् नया मार्ग खोज निकालते हैं। वह यह सब चिन्तनके द्वारा करते हैं।

अत: ऐसे भी अवसर आते हैं जब मूलप्रवृत्ति और आदतकी व्यवस्थायें पर्याप्त नहीं होतीं। मूलप्रवृत्तिमूलक व्यवस्था एक प्रकारकी प्रतिक्रिया है, जो जातीय इतिहासके द्वारा चुनी गई और जीवनके लिए सबसे अच्छी है। जब बहुत जोरकी आवाज सुनाई पड़ती है तो हमारा मुंह खुल जाता है और हमारे हाथ हमारे कान पर चले जाते हैं। इस प्रकार हम बिना सोचे ही अपने कानके पर्देकी रक्षा कर लेते हैं। तेज प्रकाशको देखकर हम अपने आप ही आंख बन्द कर लेते हैं। बहुत-सी अवस्थाओंमें इस प्रकारकी मूलप्रवृत्ति-मूलक व्यवस्था ठीक रहती है। अन्य अवस्थाओंकी पुनरावृत्ति जीवनमें होती रहती हैं। उनकी आदत पड़ना अच्छा है। एक व्यक्ति बिना सोचे अपनी कमीजके बटन बन्द करता है। इस प्रकारके कार्योंमें चेतनामें बिना केन्द्रीभूत हुए ही प्रतिक्रिया होती है। नई परिस्थितियोंकी प्रतिक्रिया विचारके द्वारा होती है। इस प्रकारकी प्रतिक्रियाको निर्णय (judgement) कहते हैं, और निर्णय वह है जो एक दी हुई परिस्थितिका सामना करने पर प्राप्त होता है। इसमें समस्याका हल करनेके लिए भूतकालके अनुभव काममें लाये जाते हैं। यह वह काम है जो कुछ अवस्थाओंके द्वारा उत्तेजित किया जाता है और जिसमें पुन: व्यवस्थाकी आवश्यकता होती है। इसका फल वह पुनर्व्यवस्था (readjustment)

हैं जिसकी सिद्धिका पता इसके औचित्यसे लगता है। चिन्तनमें हम इन्द्रियोंके द्वारा प्राप्त से अप्राप्त तक पहुंचते हैं। दृष्टिसे अन्तर्दृष्टिको और ज्ञातसे अज्ञातकी ओर जाते हैं। इससे अन्धकारमें कूदना होता है। अतः यह उत्पादक है। हम दो प्रकारके भूतकालके अनुभवोंको नई परिस्थितियोंके काममें ला सकते हैं, वास्तविकतासे जैसे व्यावहारिक निर्णयमें और संक्षेपमें जैसे प्रत्ययमूलक निर्णयमें।

व्यावहारिक निर्णय. नई परिस्थिति की कुछ बातें समान पूर्वपरिस्थितिका स्मरण दिलाती हैं। इससे मस्तिष्कमें पुरानी प्रतिक्रिया आती और उसीके आधार पर नई होती है। मान लो कोई बुरी तरह जल गया। निकटमें कोई सहायता नहीं है, परन्तु वहां एक व्यक्ति ऐसा है जिसने पहले डॉक्टर को जले हुए की ड्रेसिंग करते देखा है। वह उसी तरह पट्टी बांध देता है। एक पिछली परिस्थिति याद आकर अब काम कर देती है। इसमें कुछ मानसिक क्रिया होती है। कोई भी दो परिस्थितियां बिल्कुल एक-सी नहीं होतीं। अतः इन अनुभवोंका पारस्परिक सम्बन्ध इनका विश्लेषण करने और सम्बन्ध देखनेकी योग्यता पर आश्रित है। ऐसा होने पर वर्तमान परिस्थिति पर प्रभाव डालनेवाली बातोंका संयोग होता है। इसमें तुलना और विचारोंका पृथक्करण भी होता है; दो या अधिक तत्त्वोंकी तुलना और एकीकरण होता है। व्यावहारिक निर्णयके अपने लाभ भी हैं। आदत और मूलप्रवृत्तिमूलक व्यवस्थाओंमें ह्रास बहुत होता है। इसमें जातीय या व्यक्तिगत असंख्य अनुभवोंकी आवश्यकता होती है। व्यावहारिक निर्णयमें एक ही अनुभव ठीक प्रतिक्रिया करा देता है। इसकी सीमा बद्धता यही है कि जीवनमें कदाचित् ही ऐसी दो समान घटनाएं मिलतीं हैं जो सब तरह से एक-सी हों और ऐसा अनुभव ज्योंका त्यों स्मरण करना होता है। पशु और बालकोंमें यही निर्णय होता है।

प्रत्ययमूलक निर्णय. डॉक्टरका नौकर ड्रेस कर लेता है, इसका उदाहरण लो। दो समान परिस्थिति होनेके कारण नीम हकीम कोई ग़लती नहीं करता। परन्तु यदि समानता केवल दिखावटी ही होती और वास्तवमें अन्तर होता तो भारी ग़लती हो जाती। डॉक्टर उसे अच्छी तरह देखता और समझता, इसलिए नहीं कि उसे अधिक अनुभव है, अतः परिस्थितिके अनुकूल चुनाव कर लेता। परन्तु बहुतसे उदाहरण इस प्रकार मिले हुए और परस्पर सम्बन्धित हैं कि डॉक्टर ठीक सिद्धान्त निकाल लेगा। इस नियमको बनाने में उसका व्यक्तिगत अनुभव नहीं वरन् सम्पूर्ण जातिका अनुभव काम करता है।

अतः अनुभवके कृतकार्य होनेके लिए संक्षेपमें उसका मस्तिष्क तक पहुंचना आवश्यक

है। बहुतसे अनुभवोंके लिए विस्तारकी आवश्यकता है, जिसमें से कुछ बेकार भी हैं। कदाचित् आवश्यक बात बहुत जंजालमें पड़ी हो। समानता शायद ऊपर नहीं वरन् गहराई में हो। इसे सिद्धान्त या सार कहते हैं। प्रत्यय बनानेसे संक्षेप होता है।

१०

प्रत्यय

ठोस अनुभवोंके संक्षेपमें विशेष तथा आवश्यक बातोंका चुनाव तथा निरर्थकका त्याग भी सम्मिलित है। यह संयोग और विश्लेषणकी विधिसे होता है। विश्लेषण अनुभवको विभाजित कर देता है। तुलना और विरोधसे उचित भागोंको चुनता और शेषको त्याग देता है। इस प्रणालीसे उस 'सम्बन्ध'कापता चलता है,जिस पर संयोग विचारका वह रूप बनाता है जिसमें वह मस्तिष्क तक ले जाया जाता है। यह रूप-पृथक्करण और सामान्यत: वह सार या आकार प्रदर्शित करते हैं जिसे प्रत्यय कहते हैं। प्रत्यय-निर्माणकी प्रकृति कुछ समझमें आ सकती है, यदि हम प्रत्ययके दो वर्गोंका अध्ययन करें–(१) एकत्रित (collective), इसके उदाहरण जातिवाचक संज्ञाओंमें मिलेंगे। कुछ पदार्थोंमें ऐसी साधारण बातें होती हैं कि वह एक समूहमें एकत्रित किए जा सकते हैं। इस साधारण गुणको सम्बन्धकी दृष्टि से देखते और कुछ नाम दे देते हैं। हम समूहमें से कुछ पृथक् करके उसको नाम दे देते हैं, जैसे मनुष्य, जिसका पृथक्करण हम चीनी, जापानी, अंग्रेज, भारतीय सबमें से करते हैं। पदार्थोंकी संख्या जितनी ही अधिक होगी साधारण गुण उतने ही कम होंगे और सम्बन्ध अधिक अव्यावहारिक होगा। (२) व्यक्तिगत अनुभव, उपर्युक्तसे पता चला कि प्रत्यय वह है जो बहुतसे पदार्थोंमें से निकलता है, अनुभवोंमें से नहीं। परन्तु यह अनिवार्य नहीं है। हमारा पदार्थ-सम्बन्धी ज्ञान हमारे उस सम्बन्धी अनुभवोंकी संख्याके अनुसार बदलता है। जैसे हमारा मित्र-सम्बन्धी प्रत्यय उसके साथ अनुभव होनेसे बनता है। हम उसे दफ्तरमें, खेलमें, घरमें, क्लबमें, सब जगह मिलते हैं। विस्तार छूटकर स्थायी बातें ही रह जाती हैं।

अब हम विस्तार देखेंगे कि कुत्तेका प्रत्यय कैसे बनता है। बालक पहले सम्पूर्ण कुत्तेकी ओर देखता है, फिर वह कुत्ते-सम्बन्धी अनुभवोंके बढ़नेके कारण विस्तार पर ध्यान देता और उसका ज्ञान बढ़ता है। पहले वह शायद बहुत बड़े सफ़ेद कुत्तेको देखता है। वह जानता है, यह दौड़ता है, भौंकता है, चार पैर हैं, खाल सफ़ेद है। फिर वह उसी आकारके काले कुत्तेको देखता है। काले रंगके अतिरिक्त सब बातें वैसी ही हैं। इसके बाद वह कुछ साधारण बातें जैसे दौड़ना, भौंकना, चार पैर होना, बड़ा होना आदि जान लेता है फिर वह छोटा कुत्ता देखता है और नया विचार मिलता है। अब फिर समान बातें मिला ली गईं और आकारकी असमानता छूट गई।

यह विचार प्रत्यक्ष नहीं है, क्योंकि यह किसी बाहरी पदार्थको नहीं बताता। यह कोई पुनरुज्जीवित प्रतिमा नहीं है, क्योंकि इसका कोई प्रत्यक्ष नहीं। यह निर्मित प्रतिमा या कल्पनाकी वस्तु भी नहीं है, क्योंकि प्रतिमाएं विभिन्न प्रत्यक्षोंसे बनती हैं। यह उन चीज़ों का प्रत्यक्ष है जिनमें बहुत-सी समानताएं हैं। बालकने कुत्तोंके तीन प्रत्यक्षोंको मिलाकर एक बना लिया। प्रत्यक्ष वह विचार-शक्ति है जो व्यक्तियोंको जातिमें, विशेषताओंको सामान्यतामें और अनेकको एकमें करती है। प्रत्यय निवारक (exclusive) की अपेक्षा मिलानेवाला (inclusive) अधिक होता है। जैसे बिल्ली-वंशका प्रत्यय बिल्ली, शेर, बाघ, चीते आदिके हमारे प्रत्यक्षोंमें सबसे बड़ी चीज़ है। प्रत्ययके बननेमें कुछ बातों पर ध्यान देना चाहिए। प्रत्ययका आधार संवेदन है। संवेदन प्रत्यक्ष बनाता, जिससे प्रतिमा तैयार होती और प्रतिमासे प्रत्यय। प्रत्ययके लिए प्रत्यक्ष आवश्यक है। प्रत्यय-विधिके लिए वस्तुओंका ज्ञान आवश्यक है। ज्ञान पहले व्यक्तिगत और ठोस है फिर सामान्य और विशेष। प्रत्यय हमारे बढ़ते हुए ज्ञानसे बनते हैं।

प्रत्यय बनानेमें कई अवस्थाएं हैं। पहली निरीक्षण। दो या उससे अधिक मिलती हुई वस्तुएं सामने आतीं और निरीक्षण होता है। दूसरी अवस्था तुलनाकी है। इनकी तुलना की जाती है। तीसरी अवस्था पृथक्करण की है, जिसमें समानताएं छांटकर प्रत्यय बनानेके लिए एकत्रित की जाती हैं। अन्तमें प्रत्यय मस्तिष्कमें स्पष्ट हो जाता है। दूसरे समानतावाले व्यक्ति भी इसीके साथ आ जाते हैं और होते-होते हम ऐसी जातिको पहुंचते हैं जिसके सदस्योंमें कुछ साधारण गुण हों। अतः प्रत्ययमें सदा दो विशेषताएं होती हैं— पहली इसके निर्माणसे सम्बन्ध रखनेवाली और दूसरी इसके प्रयोगसे। इस दृष्टिसे हम प्रत्ययकी परिभाषा कर सकते हैं, 'जब एक तत्व जो अनेक अनुभवोंमें साधारण हैं, केवल दिखता ही नहीं वरन् (१) बिना प्रत्यक्ष हुए ही विचारमें आता है और (२) विचारमें और

तत्वोंसे मिल सकता है, तब यह सामान्य प्रत्यय होता है। सामान्य प्रत्यय होनेके लिए प्रत्यक्षीकरणके अतिरिक्त तत्व-चेतनाके लिए भी कुछ हो, और एक विभिन्न स्थितिके लिए लागू हो।' यह प्रत्ययों या मस्तिष्क-स्थित नमूनोंसे ही होता है कि हम नए अनुभवोंको समझ सकें। यह प्रत्ययकी प्रायोगिक बात है।

मानसिक जीवनमें प्रत्यय-निर्माण सर्वाधिक आवश्यक है। सब विचार प्रत्ययों पर आश्रित होते और उसीमें समाप्त होते हैं। व्यक्तिगत बातोंके निरीक्षणसे हम प्रत्यय बनाते, प्रत्ययोंको मिलाकर निर्णय करते और निर्णयसे तर्क-बुद्धि और सामान्य नियमों को आते हैं, जिससे विज्ञानका शरीर बनता है। जो सामान्य नियम हम निकालते हैं उसकी सिद्धि प्रत्ययकी सम्पूर्णता और सच्चाई पर आश्रित होती है। यह वह ईंट है जिस पर हमारे मानसिक जीवनका क़िला बना है। प्रत्ययका उत्कर्ष करनेसे उच्च विचार सम्भव हो जाता है। उच्च विचार जातियोंसे सम्बन्ध रखता है न कि इकाइयोंसे। जो प्रत्यय जातियोंसे सम्बन्ध रखता है वह तर्ककी प्रथम अवस्था है। अतः यह स्वाभाविक है कि प्रत्ययका उत्कर्ष मानसिक क्रियाओंकी संख्या और प्रबलता दोनोंको बढ़ाता है, क्योंकि बहुत-सी मानसिक आन्तरिक शक्तियां प्रत्ययमें सम्मिलित होती हैं। प्रत्ययका उत्कर्ष मानसिक शक्तिका मितव्यय कराता है, क्योंकि यह कई बातोंको एक साथ सोचनेकी शक्ति है। यदि हममें यह शक्ति न होती तो हम अपने मस्तिष्कको सदा असंख्य बातोंसे लदा हुआ पाते। अध्यापकको प्रत्यय-निर्माणमें अधिक रुचि क्यों रखनी चाहिए, इसके अनेक कारण हैं। इसमें परिश्रम किए बिना बालकोंके मस्तिष्कमें अस्पष्ट प्रत्यय बने रहते हैं। जैसे बालक हरएकको 'दादा' कह दे, या निरीक्षणकी कमीके कारण बहुतसे ह्वेलको भी मछली कह देते हैं, या अपूर्ण पृथक्करण, जैसे बालक जब अंगूठीके लिए गोला शब्द प्रयोग करते हैं, या भाषाका ढीला प्रयोग करते हैं। इससे स्मृति प्रत्ययकी विशेषताओंको भूल जाती है। इन दोषोंको दूर करना और अच्छे प्रत्यय बनाना, जिसका आधार ठोस उदाहरण और विस्तृत अनुभव हो तथा वह निश्चित और इतने स्पष्ट हों कि अन्यसे मिल न जायं, यह सब अध्यापकका कार्य है।

अध्यापकका कार्य अधिकतर प्रत्ययको भरना है। पहले यह देखें कि बालकके मस्तिष्कमें सन्तरेका प्रत्यय कैसे बनता है। वह पहले सन्तरा देखता है जिससे उसके मस्तिष्कमें सन्तरेके लिए अस्पष्ट प्रत्यय बनता है। यह उसका तत्सम्बन्धी प्रथम विचार है। यदि इसको पुनरुज्जीवित किया जाए, या यह सन्तरेकी अनुपस्थितिमें भी मस्तिष्क में बना रहे तो हमें सन्तरेका प्रत्यय है। यदि बालकका सन्तरेसे फिर कोई सम्पर्क न

हो तो प्रत्यय लगभग रिक्त रहेगा। प्राय: हमारा वयस्क प्रत्यय भी इससे अधिक पूर्ण नहीं होता। जब बालकका इससे अधिक सम्पर्क होता है तो प्रत्यय अधिक पुष्ट हो जाता है। सन्तरा छुआ जाता है, उठाया जाता है, इसमें बोझ होता है। इसका आकार गोल है। आंखके निकट लानेसे पता चलता है कि इसका छिलका चिकना नहीं है। इसका स्वाद लिया और सूंघा जाता है। इस जटिल प्रत्ययको सन्तरा कहते हैं। अत: यह काफ़ी स्पष्ट है कि विभिन्न व्यक्तियोंको इसके नामसे विभिन्न अर्थ-पूर्णता होगी। किसी नाममें पाए गुणोंको अनुमान (connotation) कहते हैं।

प्रत्यय-निर्माणके लिए हमें विशेषसे सामान्यकी ओर जाना चाहिए। यह अच्छी शिक्षाके मूल पर है। यह कहता है कि सीखनेके लिए कोई राजसी मार्ग नहीं बना है; सिवाय संक्षेपकी बहुत-सी अवस्थाओंमें से होकर। यह आवश्यक नहीं है कि संक्षेप विशेष पदार्थोंसे हो, यह विशेष अनुभवसे भी हो सकता है। इसका विस्तारसे समूह तक होना भी आवश्यक नहीं। मस्तिष्क विस्तारसे समूहकी ओर नहीं चलता है, वरन् एक अस्पष्ट और एक ही प्रकारके समूहसे विश्लेषण और संयोगके द्वारा एक विशेष भिन्नताकी ओर। और फिर यह भी आवश्यक नहीं कि हम सदा विशेष बातोंसे ही सामान्य नियमों की ओर जायं। प्राय: हम कम सामान्य नियमोंसे अधिक सामान्य नियमोंकी ओर जाते हैं। और इस बातसे कि गर्म पानीसे शीशा टूट जाता है हम 'उष्णतासे बढ़ावके नियम' को जान लेते हैं। केप्लर ने नक्षत्र-गतिके नियमोंका अन्वेषण करके अपने निरीक्षणकी विशेष बातोंको सामान्य नियमोंके अन्तर्गत कर दिया। न्यूटन इन नियमोंको अपने अधिक व्यापक आकर्षणशक्तिके नियमके अन्तर्गत ले आया। अत: विज्ञानकी सारी उन्नति विशेष तथ्योंको सामान्य नियमोंके अन्तर्गत लानेमें, और सामान्यको अधिक सामान्य नियमोंके अन्तर्गत लानेमें है। यह व्याप्तिमूलक (inductive) विधिसे अध्ययन करने की आवश्यकता पर ज़ोर देता है।

हमने कहा है कि जैसे-जैसे हम बड़े होते जाते हैं हम अधिक भावपूर्ण होते जाते हैं। अत: शिक्षाका प्रकार अवस्थानुकूल होना चाहिए। बालपनके प्रथम सात-आठ वर्षमें मन स्थूल वस्तुओंके लौकिक गुणोंमें अधिक रुचि रखता है। रचनाकी मूलप्रवृत्ति शारीरिक प्रत्ययोंका एक ढेर इकट्ठा कर लेता है। पदार्थ-शिक्षा और हस्तकौशल इस क्षेत्रको चतुरतासे बढ़ा देते हैं। किशोरावस्थाके पहले तक मन भावयुक्त बातोंको ग्रहण नहीं कर सकता, छिपे सम्बन्धोंको नहीं समझ सकता। समानता और विभिन्नता तथा आकस्मिक सम्बन्धोंको नहीं समझता। इस समय तर्क बुद्धिपूर्ण ज्ञान और विज्ञान

कदाचित् ग्रहण कर सके। बिलकुल भावपूर्ण सम्बन्धों, दार्शनिक और नैतिक विचारोंके लिए मन बहुत देरसे सजग होता है। हमें गर्म लोहे पर ही चोट करनी चाहिए। प्रत्येक अवस्थामें उचित अध्ययन होना चाहिए। अतः उसके बिना मस्तिष्क रिक्त रहेगा और यदि कोई अध्ययन समयसे पहले आ गया तो असफल हो सकता है।

प्रत्ययकी उन्नतिके लिए स्कूलके पाठ काममें लाए जा सकते हैं। पदार्थ-पाठ लाभप्रद होते हैं। सान्निध्य (juxtaposition) के उपायको काममें लाना चाहिए, ताकि बालक तुलना कर सके और जाति तथा सम्बन्ध निकाल सके। प्रत्यक्ष शिक्षण पदार्थ-पाठका प्रथम उद्देश्य है, परन्तु यदि वह केवल प्रत्यक्षीकरण पर ही समाप्त हो जाते हैं तब तो परिश्रम बेकार गया। इससे प्रत्यय उत्पन्न होने चाहिएं। प्रारम्भिक विज्ञान जैसे वनस्पतिशास्त्र वर्गीकरणकी शक्ति बढ़ानेके लिए बहुत अच्छा है। बालकसे स्वयं वर्गीकरण कराना चाहिए। यदि अध्यापक उसके लिए कर देता है तो यह उसी प्रकार है जैसे दूसरेके लिए खाना पचा देना। प्रत्यय बनानेके लिए निबन्ध अच्छी चीज है। यह वाक्य-निर्माणकी सहायतासे होता है, जब कि बालक शब्दोंका वास्तविक अर्थ जाननेका पूर्ण प्रयास करता है।

शब्द-प्रयोग

हम कह चुके हैं कि प्रत्यय-निर्माण अनुभवोंके जमावसे होता है। उसमें से ठोस कल्पनाको त्याग देते और शब्दको विचारका प्रतिनिधि अधिकसे अधिक बनाते जाते हैं। खोजसे पता चलता है कि लोग जैसे-जैसे बड़े होते जाते हैं, वह ठोस कल्पना छोड़ते जाते और भावपूर्ण शब्दोंका प्रयोग बढ़ाते जाते हैं। भावुक व्यक्तियोंके साथ यह और भी अधिक होता है। जैसा कि गॉल्टन (Galton) ने खोजकर निकाला है—वह विचार में ठोस कल्पनाका प्रयोग कम और शाब्दिक सामग्रीका अधिक करते हैं। इससे यह पता चलता है कि शब्द-शिक्षाकी गाड़ीका चलाना बढ़ता जाता है। इस कारण और भी आवश्यक है कि सीखे हुए शब्दोंके ठीक अर्थ ज्ञात हों। प्रायः ऐसा नहीं होता और बालक शब्द ही जानते हैं उनका अर्थ नहीं। प्रायः देखा गया है कि बालक परिभाषा रट लेते हैं और उसका तात्पर्य नहीं समझते। यदि तात्पर्य समझ जायं तो उस बात को कैसे भी पूछा जाय उसका उत्तर दे सकते हैं। जैसे संज्ञाकी परिभाषा है, संज्ञा किसी वस्तु, स्थान, या व्यक्तिके नामको कहते हैं। यदि उनको बताया जाता है कि 'बुढ़ापा', 'बुराई'

सामग्रीका सांकेतिक स्वभाव पाठ्य पुस्तकके द्वारा, जो कि शिक्षाका केन्द्र होती है, प्रभाव डालता है। भाषा बहुत ही सांकेतिक होती है और जैसा कि ऊपर कहा गया है, यदि शब्दार्थ ठीकसे नहीं समझे गए हैं तो बालकोंके मनमें ग़लत धारणाएं बन जाती हैं। यदि बालकोंको सार्थक शब्द सीखने हैं तो उन्हें शब्दगत वास्तविकताका ज्ञान होना चाहिए। अपनी अकर्मण्यताके कारण बालक अध्यापककी भाषा पर आश्रित रहता है। नए क्रियाशील कार्यक्रममें यह दोष नहीं है। शब्द-प्रयोगके ऊपर विजय पानेके लिए अध्यापककी योग्यता और धारणा विशेषता रखते हैं। अध्यापक वैरागीका जीवन व्यतीत न करके मनुष्य और वस्तुओंके सम्पर्कमें आए। अपने उद्यमके अतिरिक्त भी उसकी कुछ रुचि होनी चाहिए। उसे सदा बालकोंके मनमें शाब्दिक मिथ्याबोध न होने देनेके लिए सचेत रहना चाहिए। प्रश्नोंके द्वारा विषयको उनके सामने रखकर और पदार्थ दिखाकर तथा समझाकर उनकी ग़लत धारणाओंको शुद्ध करे।

११

निर्णय

निर्णयको कार्यशील बुद्धि कहा गया है। हमारे पास कितना भी ज्ञान हो यह मृतप्राय है, यदि यह जीवनकी परिस्थितियोंका ठीकसे सामना करनेमें सहायता नहीं करता। जब हम इस प्रकार नैतिक परिस्थितियोंका सामना करके अपनी प्रतिक्रियाओंको उसी दृष्टि से ठीक बना लेते हैं तब उसे निर्णयका कार्य कहते हैं। "यदि किसी स्कूलके बच्चे उस मानसिक धारणासे निकलते हैं जो किसी भी कार्य-क्षेत्रमें, जिसमें बालक रखे गए हैं, अच्छे निर्णयको बढ़ानेवाला है तो उन स्कूलोंने अधिक कार्य कर लिया है, उनकी अपेक्षा जो बालकोंमें ढेर-सा ज्ञान भर देते अथवा विशेष विषयोंमें उच्च दक्षता दे देते हैं।"—ड्यूई।

जब कभी किसी कार्यमें हां या ना करना होता है, तभी हमें निर्णय करना होता है। निर्णयकी तीन विशेषताएं हैं—(१) एक ही परिस्थितिमें विपरीत अधिकार सम्बन्धी विवाद हो, (२) इन अधिकारोंको समझने और विस्तृत करनेकी प्रणाली और उनका समर्थन करनेवाली बातें हों, (३) अन्तिम निर्णय, जो उस विषयको समाप्त कर दे तथा भविष्यकी समान बातोंका निर्णय करनेके लिए नियम बना दे। (१) अनिश्चय होना बहुत आवश्यक है, अन्यथा एकदमसे प्रत्यक्षीकरण हो जायगा। यदि बिलकुल अन्धकार-मय होगा तो रहस्य होनेके कारण कोई निर्णय न हो सकेगा। परन्तु यदि यह परस्पर विरोधी अर्थ बतायगा तब जजके सामने जैसी बात होगी। हमें दूर पर एक धब्बा-सा दिखाई देता है। वह क्या है? पेड़? धूल? आदमी? इनमें से एक ठीक हो सकता है। परन्तु फिर भी सबके पक्षमें कुछ न कुछ समझमें आता ही है। प्रत्यक्षीकरणको कैसे समझें? ऐसी परिस्थितिमें निर्णय होता है। (२) तब मुक़दमा होता है, जिसमें दोनों ओरकी

गवाहियोंका सन्तुलन होता है। प्रश्न ये हैं—(क) सार्थक बातें क्या-क्या हैं? इसका अर्थ चुनना और त्यागना हुआ। इसको ठीकसे करनेके लिए कुशलता, युक्ति, चतुरता, अन्तर्दृष्टि और दूरदृष्टिकी आवश्यकता है। यही एक विशेषज्ञ, ज्ञाता और जजकी पहचान है। अभ्यासमें यह ठीक हो जाता है। मिल एक क़िस्सा बताता है कि एक स्कॉट कारीगर ने एक ऐसे रंगरेज़को नौकर रखा, जो रंग बनानेमें प्रसिद्ध था। वह चाहता था कि वह अपनी कला अन्य कार्यकर्त्ताओंको सिखा दे। वह यह न कर सका, क्योंकि वह तौल-तौल कर रंग नहीं मिलाता था वरन् हाथमें भर-भरकर मिलाता था। इसे अन्तर्ज्ञान (intuitiveness) कह सकते हैं। परन्तु साधारण चुनाव और त्यागसे मार्गका पता चल जाता है और वह सावधानी, लचीलेपन, उत्सुकता और निर्णयको रोक रखनेकी योग्यता पर आश्रित रहता है। (ख) ठीक अर्थ चुनकर उसे बढ़ा देने और परिस्थितिको समझनेके काममें लाया जाता है। (ग) प्रत्येक निर्णय एक निश्चयमें समाप्त होता है और यदि यह निश्चय सत्य सिद्ध हो जाय तो प्रायः भविष्यकी परिस्थितियों पर भी इसी प्रकार निर्णय करनेकी प्रवृत्ति हो जाती है।

जब कोई निर्णय शब्दोंमें व्यक्त किया जाता है तो उसे कर्त्तव्य-निर्देश (proposition) कहते हैं। प्रत्येक प्रकारका ज्ञान और विश्वास निर्णय अथवा मानसिक निश्चय के रूपमें रहता है। हम निर्णयको कर्त्तव्य-निर्देशके रूपमें ही पाते हैं। अतः यह आवश्यक है कि हम याद रखें कि निर्णय मानसिक कार्य है, न कि शब्द अथवा कर्त्तव्य-निर्देश, जिस से वह आवृत्त है। प्रायः निर्णयके शब्द वास्तविक अर्थ समझानेमें असफल होते हैं। हमें दूसरोंसे मिला प्रत्येक निर्णय समझना होता है। शब्दोंके पीछे जाकर और वास्तविक अर्थ निश्चय करके हम इसे ग्रहण करते अथवा अपना निर्णय रोक देते हैं। अतः पहले दो उदाहरणोंमें हमने निर्णयके और भी कार्य किए। मानसिक क्रियाके रूपमें निर्णय सदा सत्य होनेका अधिकार रखता है। झूठ बातका निर्णय नहीं किया जा सकता। निर्णय झूठा हो सकता है परन्तु निर्णय करनेवाला उसे उस समय झूठ नहीं समझता। अतः निर्णयमें तो असत्यता हो सकती है पर यह असत्य कभी नहीं हो सकता। जो निर्णय करता है वह इसे झूठ सोच सकता है, पर हमें इससे क्या मतलब कि वह क्या सोचता है, परन्तु वास्तवमें क्या है। क्योंकि प्रत्येक वाक्य सत्य ही नहीं बताता और हरएक वाक्य निर्णय नहीं होता। जैसे एक वाक्य इच्छा या आज्ञा प्रकट कर सकता है, अतः वह निर्णय नहीं है, जैसे शाम यहां आओ। प्रश्न भी निर्णय नहीं हो सकता। दूसरे निर्णय ही झूठ या सच हो सकता है, क्योंकि तथ्य (fact) का अर्थ जगत्में होनेवाली बात नहीं वरन् वह जो ज्ञात

हो और जिस पर निर्णय हो सकता हो। जब हम निर्णय करते हैं, तब हम इसे सच ही विश्वास करते हैं और यह निश्चय उच्छृंखल नहीं है, वरन् पर्याप्त कारणों पर आश्रित है, जो प्रत्येक तर्क-बुद्धिवाले व्यक्तिसे वही निर्णय करायगा। यह कहना कि निर्णय सत्य है, इस कहनेके बराबर है कि इसमें वास्तविकता है, परन्तु वास्तविकता मनुष्यके लिए तभी तक रहती है जब कि वह इसे जानता है। अतः प्रत्येक निर्णय अनुभवसे होता है। ऐसा अनुभव उस ज्ञानसे समरूप कर देता है जो हमारे पास शब्द अथवा विचारमें है।

प्रत्येक निर्णय विश्लेषण और संयोगकी क्रिया है। जिस अनुभवके भागको हम अपने निर्णय द्वारा समझते हैं, वह पूर्ण अनुभव नहीं है वरन् अवधानके लिए चुना हुआ अंग है। अतः जब मैं कहता हूं, 'यह पानी गरम है', तब अनुभवका केवल एक अंग सम्मुख आता है। अतः निर्णय विश्लेषण और चुनावकी ही एक क्रिया है। फिर तापमान और अधिक तापमानमें विचार-विश्लेषण होता है। 'घोड़ा तैरना' इसके दो भाग हैं, अनुभव एक ही है। घोड़ेकी और बहुत-सी बातें होती हैं और घोड़ेके अतिरिक्त और बहुत-सी चीजें तैरती हैं। अतः निर्णय एक संयोगका कार्य है, जब कि यह घोड़े और तैरनेका विचार एक साथ ले आता है। एक तो निर्णय कर्त्तव्य-निर्देशके शब्दोंमें व्यक्त किया जाता है और दूसरे दो अनुभव साथ लाए जाते हैं, अतः संयोगका विचार विश्लेषणसे प्रमुख है। निर्णयके तीन अंग हैं—उद्देश्य, विधेय और क्रियापद। उद्देश्य अनुभवका वह अंग है जिससे विचार निकलते, और विधेयका अर्थ है विचारकी आगेकी गति जो अनुभवको अधिक व्यक्त कर देती है। क्रियापद संयोजक मालूम होता है। परन्तु इसे इस प्रकार नहीं सोचना है, क्योंकि यह विश्लेषणकी अपेक्षा संयोग पर अधिक ज़ोर देता है। कर्त्तव्य-निर्देशमें इसका कार्य यह बताना है कि निर्णय हो चुका। क्रियापद शृंखला नहीं वरन् निर्णय का चिह्न है। जैसे भूखा जल्दी खाता है। भूखा उद्देश्य है और विधेय जल्दी खाना, और क्रियापद भूखेका जल्दी खाना। किसी-किसी उदाहरणमें विश्लेषण प्रमुख होता है, और किसीमें संयोग, जैसे ३ + ५ = ८ = ५ + ३।

हम अपने निर्णय सदा ताज़े नहीं बनाते हैं। हम समाजमें उत्पन्न होते और बहुत-से तैयार निर्णय कुल क्रमसे प्राप्त कर लेते हैं। कभी यह जीवित निर्णय रहे होंगे, परन्तु अब तो मृत हैं। कभी यह भी काफ़ी तर्कके पश्चात् प्राप्त हुए होंगे, परन्तु अब वह समाजमें प्रचलित हैं। जैसे सामाजिक संगठन, धर्म, नीति, वैज्ञानिक सिद्धान्तोंको कार्य-रूपमें परिणत करना आदिके सम्बन्धमें हम प्रायः निर्णयोंको वंशक्रमसे प्राप्त कर लेते हैं।

इनको प्राप्त करनेमें हमारे पूर्वजोंने काफ़ी कष्ट उठाया होगा। एक विपरीत प्रकारका भी निर्णय होता है जो तर्कके द्वारा प्राचीन अनुभवोंसे ताज़ा प्राप्त किया जाता है। निर्णयों के इन दो छोरके बीच, जो या तो आदतकी तरह स्वयं चालू रहते हैं या नए बनाए जाते हैं, वह निर्णय हैं जो परिस्थिति आते ही एक क्षणमें बनाए जाते हैं, जहां चेतन विश्लेषण और संयोग कमसे कम होता है। इनको अन्तर्ज्ञान (intuitive) के निर्णय कहते हैं और दूसरे वह हैं जो बहुत सोच-विचारके पश्चात् प्राप्त होते हैं, अतः विचारपूर्ण निर्णय कहलाते हैं। समाजसे प्राप्त किए अधिकांश निर्णय इसी प्रकारके होते हैं। इस क्षेत्रमें छोटे बालकों और जंगलियोंको छोड़कर हम सब विशेषज्ञ होते हैं। निर्णयकी शिक्षा और उन्नतिके सम्बन्धमें दो प्राकृतिक प्रकार निकलते हैं। अध्यापककी मानसिक धारणा बालकसे भिन्न होती है। अध्यापक अपना नया-पुराना संग्रह सामने लाता और कुछको त्यागकर अन्य बातें रख लेता है। बालक विचारोंको प्राप्त करता और ग्रहण करता है। नएको पुरानेसे संयुक्त करता है। अध्यापक त्यागने और रखनेकी क्रियामें निर्णयका प्रयोग करता है और बालक तुलना करने और ग्रहण करनेमें करता है। अध्यापकके निर्णय अधिकांश विश्लेषण-युक्त होते हैं और बालकके संयुक्त। अतः विश्लेषण-युक्त निर्णय वह हैं जो पहलेसे बने हुए हैं और संयुक्त पहले प्रयोगमें लाए जाते हैं और नए अनुभवके परिणामस्वरूप हैं। संयोगका निर्णय हमारे ज्ञानको बढ़ाता है और विश्लेषण-युक्त हमारे ज्ञानको स्पष्ट करता है।

निर्णयको प्रत्ययकी दृष्टिसे समझनेके लिए दो प्रत्ययोंको जोड़नेवाला समझना चाहिए। हमारे प्रत्यय हमारे आचरणको अच्छा बनाएं, यह निर्णयके द्वारा करते हैं। दो प्रत्ययोंका आपसमें कुछ सम्बन्ध है, निर्णय इसका एक प्रमाण है। हमारे प्रत्यय सबल या निर्बल जैसे भी हों, उसी प्रकार सार्थक और कम सार्थक हमारी उपपत्ति (proposition) होंगी। जैसे 'गोपाल मर गया' यह कम अर्थ रखता है 'मनुष्य मर्त्य है' की अपेक्षा। पहला 'एकाकी उपपत्ति' (singular proposition) है और दूसरा सार्वजनिक निर्णय (universal judgements), क्योंकि पहलेमें व्यक्तिगत और दूसरेमें सार्वजनिक बात की ओर संकेत है। प्रत्ययकी भांति उपपत्तिमें भी अध्यापकका कर्त्तव्य इसको पूर्ण करना और सार्थक बनाना है। दूसरे शब्दोंमें, हमारा कर्त्तव्य है कि बालकको सार्वजनिक उपपत्तिकी ओर ले जायं। अतः आवश्यक है कि हम सार्थकताके आधार पर भिन्न प्रकार के अनुभवोंको जानें। सबसे सरल निर्णय अकर्तृक (impersonal) होता है। जैसे 'पानी बरसता है', 'चोट लगती है', यहां उद्देश्य ऐसे अनुभवके ढेरका प्रतिनिधित्व करता

है, जिसका विश्लेषण नहीं हुआ है, और सारा जोर विधेय पर ही पड़ता है। दूसरे वर्गमें वास्तविकता बताई जाती है, उसका नाम नहीं बताया जाता। उद्देश्यको वह, यह, यहां, आदि शब्दोंसे समझा देते हैं, जैसे 'यह मद्रास है', यह स्कूल है। इसे निर्देशक (demonstrative) निर्णय कहते हैं।

आगेके उच्च प्रकारके निर्णयमें विश्लेषण आगे बढ़ गया है और दो नाम निकले हैं— 'विशेष सम्बन्धका निर्णय' जैसे यह पुस्तक उससे भारी है, और ऐतिहासिक एकाकी निर्णय (historical singular judgement) जैसे अशोक ने कलिंग जीता। अशोक एक व्यक्तिका नाम है जिसने बहुतसे काम किए, जिनका एकीकरण उसके जीवनमें हुआ। अतः सार्वजनिक है। इस प्रकारके निर्णयमें व्यक्तिगत और सार्वजनिक दोनों प्रकारकी प्रकृति है। इसके बाद गणनाका निर्णय (judgement of enumeration) आता है। यह तब होता है जब कि कोई वर्तमान अनुभव पिछले अनेकों अनुभवोंसे मिलता हुआ हो। जैसे मेरी पिछली पांच छुट्टियां शिक्षा-सम्मेलनमें ही निकलीं। परन्तु वर्तमान और भूतकालके सारे अनुभव भी भविष्यके लिए कैसे निर्णय कर सकते हैं। जैसे हम कहें कि सब गायें घास खाती हैं। पहले भी खाती थीं और अब भी। परन्तु हम भविष्यकी गायोंके लिए यह बात निश्चयसे कैसे कह सकते हैं। हमारा अनुभव कितना भी गहरा हो पर इसका तार्किक औचित्य (logical justification) तो नहीं हो सकता। जैसे आॅस्ट्रेलियाकी खोजके बाद यह बात ग़लत सिद्ध हुई कि सब हंस श्वेत होते हैं। अतः औचित्य केवल विचारमें ही है परन्तु इन्द्रिय-अनुभवमें नहीं। अतः हम केवल निरीक्षणके ही द्वारा यह नहीं कह सकते कि अर्द्धवृत्तके अन्दरका त्रिभुज, जिसका आधार व्यास है, समकोण त्रिभुज होगा, क्योंकि इस प्रकारके अनगिनती त्रिभुज होंगे। हम केवल ज्ञात त्रिभुजों और अर्द्धवृत्त के कारण ही कह सकते हैं। सार्वजनिक निर्णय इसीलिए सत्य है कि वह उदाहरणकी प्रकृतिसे आवश्यक सम्बन्ध स्थापित करता है। इसे व्यापक (generic) निर्णय कहते हैं। जब हम यहां पहुंच जाते हैं तो वास्तविकताकी अवस्थासे परे पहुंच जाते हैं, क्योंकि व्यापक निर्णय स्थूल और भावमय दोनों प्रकारका होता है। यह भावमय है क्योंकि यह ऐसा सार्वजनिक सम्बन्ध बताता है जिसमें ऐसे उदाहरणोंका अभाव है, जिसमें वे सम्बन्ध वास्तव में प्रदर्शित हों। स्थूल तब होता है जब वे उदाहरण इसमें सम्मिलित हो जाते हैं।

यदि हम व्यापक निर्णयके भावमय विचारका विकास करते हैं तो हम कल्पित (hypothetical) निर्णय पर पहुंच जाते हैं। व्यापक निर्णयसे पता चलता है कि वास्तविकताकी प्रकृतिकी ही कोई बात इस सम्बन्धको आवश्यक बना देती है। इस बात

को कल्पित निर्णय व्यक्त कर देता है। जैसे पानी यदि ३२° फ़० पर रखा जाय तो जम जाता है। इस प्रकार शुद्ध स्पष्ट निर्णय (categorical judgement) में वास्तविकता का सम्बन्ध साक्षात् होता है और व्यापकमें परोक्ष। कल्पित निर्णयमें स्थूल सम्बन्ध ग़ायब हो जाता और फिर निर्णय बिलकुल भावमय रह जाता है। यह तब होता है जब विधेय सदा उद्देश्यके साथ रहता है तब व्यापक निर्णय सर्वोत्तम प्रकारका होता है। अतः 'सब समकोण त्रिभुज अर्द्धवृत्तके अन्दर खिंच सकते हैं' का उल्टा भी उतना ही सत्य होना चाहिए। कल्पित निर्णय दो बातोंमें सम्बन्ध व्यक्त करता है जिससे शर्तवाली बात भी व्यक्त हो जाती है। परन्तु यह शर्तें कहां समाप्त होंगी? जैसे पानी ३२° फ़० पर जमता है इसके साथ यह शर्त है कि जब इतने तापमान पर रखा जाय, दूसरे नार्मल एटमॉस्फ़ेरिकल दबाव (normal atmospherical pressure) हो, इत्यादि-इत्यादि। इस प्रकारकी शर्तें अनगिनती होंगी और कदाचित् विश्व पर ही समाप्त हों, अतः जब सारे विश्वकी व्याख्या हो तभी सम्पूर्ण व्याख्या हो सकती है। यह असम्भव है। अतः हमारे प्रयोजनके लिए इतना ही काफ़ी होगा कि हम विश्वको विभाजित करनेवालीकी छोटी प्रणालियोंमें एक की ही ठीक व्याख्या ज्ञात कर लें। इस प्रणालीका परिमाण व्यक्त करना वियोगी (disjunctive) निर्णयका कार्य है। इससे एक प्रणालीकी पूर्ण व्याख्या हो जाती है, जैसे लखनऊ विश्वविद्यालयमें कला, विज्ञान, कानून-शिक्षा या आयुर्वेदमें शिक्षा दी जाती है। यदि इसमें सब विभागोंके नाम ले लिए गए तो समस्या व्यक्त हो गई।

अशुद्ध निर्णयके अनेकों कारण होते हैं। शुद्ध और पर्याप्त विचारोंकी कमी इसका आधार है। विचारोंकी, अर्थात् प्रत्ययों, प्रतिमाओं और प्रत्यक्षोंकी तुलना निर्णय करने का एक खंड है। यह जितने ही अधिक और शुद्ध होंगे, निर्णय उतना ही अच्छा होगा। बालकोंका निर्णय दोषपूर्ण होता है क्योंकि उनके विचार थोड़े और असत्यतापूर्ण होते हैं। प्रायः समयकी कमीके कारण विचारोंका ठीक परीक्षण न होनेसे ग़लत निर्णय हो जाते हैं। दो विचार आए नहीं कि मस्तिष्कने झटपट निर्णय किया। यही कारण है कि दोबारा किया निर्णय अधिक अच्छा होता है। यदि हम दूसरोंके शब्दोंको ठीकसे समझे बिना निर्णय करते हैं तो प्रायः वह निर्णय ग़लत होता है। यह निष्ठा, विश्वास और आज्ञापालनका आधार है। यह एक अच्छा प्रश्न है कि बालकोंको अपनी धारणा कहां तक आलोचनात्मक रखनी चाहिए, और कहां तक उन्हें बिना प्रश्न किए हुए ही बड़ोंका आज्ञापालन कर लेना चाहिए। बालकको विश्वास पर सब मान लेने दो और देखो वह कैसा ग़रीब ग़ुलाम हो जाता है। बालकके साथ हरएक बात पर तर्क करो और देखो वह कैसा शेर हो जाता है। प्रायः

हमारी भावनाएं हमसे ग़लत निर्णय कराती हैं। जो हम चाहते हैं मस्तिष्क वही सोचता है। मस्तिष्क भावना द्वारा ठीक मार्गसे हटा दिया जाता है। जैसे डा० वुडबर्न ने एक अंग्रेजीके अध्यापकके विषयमें लिखा है कि वह अंग्रेज और वेल्शमें अंग्रेजको अधिक नम्बर देता था, कापियों पर नाम बदल देनेसे उसे अधिक नम्बर मिल जाते थे। निर्णयको शिक्षित करना सम्भव है यदि हम तथ्योंके ज्ञानसे तथ्योंके निर्णयको बड़ा मान लें। ज्ञानको प्रयोग करने की योग्यता ज्ञान प्राप्तिसे अधिक विशेषता रखती है। तथ्योंके आधार, सम्बन्ध तथा प्रयोग का पता लगाकर यह योग्यता बढ़ाई भी जा सकती है। स्वतंत्र चिन्तनका विकास और मौलिकताका प्रोत्साहन होना चाहिए। स्वतंत्र मतको हम सहानुभूतिकी दृष्टिसे देखें और कड़ाई से उसे दबा न दें। हमें चिन्तनको ठीक रास्ते पर लाना और जांचकी भावनाका पोषण करना चाहिए। सिखाना बताना नहीं वरन् चिन्तनको प्रोत्साहन देना है। इसकी प्राप्ति के लिए सत्यको ढूंढना इसकी प्राप्तिसे कहीं अच्छा है। पाठ्यपुस्तकको सत्योंका एक तैयार सरल संक्षेप समझकर याद कर लेना ठीक नहीं वरन् इसको सत्यकी खोजमें मार्गदर्शककी भांति काममें लाना चाहिए। चाहे इतिहास हो अथवा जीवन कथा, हमें प्रत्येक पाठमें निर्णयका अभ्यास करना चाहिए। इतिहासमें बालकसे एक घटनाका कारण ढूंढ़नेको कहा जा सकता है और जीवन-कथामें व्यक्तिके चरित्रका निरूपण (estimate) करनेको कहा जा सकता है। विज्ञान और कलामें भी इसी प्रकार निर्णयकी शिक्षा दी जा सकती है।

१२

विचार और विवेक
(Thinking and Reasoning)

जिस प्रणालीके विषयमें हम अब तक कहते आये हैं उसे अस्पष्टत: विचार कहा है। अब समय आ गया है कि हम विचारको ठीकसे समझें, विशेषकर इसलिए कि हम इसे विवेकसे अलग समझ सकें। विचार शब्दका प्रयोग हम चार अवसरों पर करते हैं। पहले हम उन सब बातोंके लिए इसका प्रयोग करते हैं जो हमारे मस्तिष्कमें आती हैं। इस प्रकार दिवास्वप्न, हवाई क़िले बनाना आदि सभी विचारके अन्तर्गत हैं। यदि यह सत्य होता तो हरेक सोच सकता, क्योंकि हमारे मस्तिष्कमें बातोंका सदा एक क्रम बना रहता है। दूसरे, इसका प्रयोग उन चीज़ोंके लिए होता है जो मस्तिष्कमें होती हैं, परन्तु इन्द्रियोंके सम्पर्कमें नहीं आतीं। कहा जाता है कि काल्पनिक कहानी वास्तविक जीवनमें नहीं होती वरन् केवल अन्वेषकके द्वारा सोची हुई होती है। तीसरे, इसे 'विश्वास' के लिए प्रयोगमें लाते हैं, जिसमें इसका आधार नहीं बताया जाता। जैसे हम कहते हैं, 'मनुष्य सोचा करते थे कि दुनियां चपटी है', 'मैंने सोचा कि तुम मेरे घर गये थे'। पिछले उदाहरण में शब्दका प्रयोग प्रणालीका वर्णन करनेके लिए किया गया है जिससे विश्वासका आधार जान-बूझकर ढूंढ़ा गया है, और विश्वासका समर्थन करनेके लिए इसकी वास्तविकता की जांच की गई है। इस प्रणालीको चिन्तन-युक्त (reflective) विचार कहते हैं, और केवल यह ही शिक्षा-सम्बन्धी है। जैसे जब तक दुनियांको कोलम्बस ने गोल नहीं सोचा लोग इसे चपटी समझते रहे। पहला विचार विश्वास था और पिछला विवेक-युक्त परिणाम। उसका समर्थन करनेवाले कारणोंके आधार पर किसी भी विश्वास या माने हुए ज्ञानके रूपका लगातार और सावधानीसे किया विचार और इससे होने

वाला परिणाम चिन्तन-युक्त विचार बनाता है। यह केवल विचारोंका क्रम ही नहीं है। और क्रम आकस्मिक नहीं वरन् एक संगठित और शासित चुनाव और त्यागके परिणामका फल है, जिससे एक विशेष उद्देश्यको पहुंच सकें। यह केवल किसी बातको सोच लेना ही नहीं है वरन् विचारसे विश्वास उत्तेजित होना चाहिए। यह पर्याप्त नहीं है कि हम विश्वास करें वरन् हमें सत्यमें पूरी प्रतीति हो जानी चाहिए अथवा विश्वासका सत्य स्वयंसिद्ध हो।

यदि हम चिन्तनयुक्त विचारकी कुछ विशेषताओं पर भी ध्यान दे लें तो अधिक समझ मे आ जायगा। सब प्रकारके विचारोंमें एक साधारण तत्त्व होता है। निरीक्षित वस्तु ऐसी वस्तुओंको संकेत करती है जिनका निरीक्षण नहीं हो रहा है, और पहली चीज़ दूसरीके विश्वासका आधार हो जाती है। जैसे एक जाते हुए व्यक्तिको कुछ सर्दी-सी लगती है, ऊपर दृष्टि जाने पर बादल दिखाई पड़ते हैं, और वह सोचता है कि पानी बरसने वाला है। दृष्टिसे वह अन्तर्दृष्टि पर पहुंच जाता है। जो चीज़ें इन्द्रियोंके सम्पर्कमें आती हैं, उनके द्वारा अन्य बातें समझमें आती हैं और उनका विश्वास किया जाता है, जो इन्द्रियोंके सम्पर्कमें नहीं आतीं। विचारके साथमें शंका, सन्देह, अनिश्चय आदि पहले से सम्मिलित हैं। सरल और अवगत परिस्थितियोंको मूलप्रवृत्ति, आदत और स्मृतिके आधार पर प्रतिक्रिया मिलती है। नई परिस्थितियोंमें भी आवश्यक नहीं है कि प्रतिक्रिया विचारके आधार पर हो। मूलप्रवृत्ति, अनुकरण, प्रयत्न और मूल तथा तुल्यता (analogy) द्वारा एकीकरण (adjustment) हो सकता है। केवल किसी समस्याके आने पर ही विचार उठता है। यह आवश्यक नहीं कि विचार सदा सफल ही हो। बहुतसे व्यक्तियों ने कुछ समस्याओं पर जीवन भर परिश्रम किया और कुछ ग़लत सूचनाओं या उचित प्रदात्तके अभाव आदिके कारण ग़लत रहे। बहुत-सी बातोंका हमारा ज्ञान अपूर्ण है, यद्यपि अभी तत्सम्बन्धी खोज हो रही है। इन सब बातोंमें तीव्रतासे विचार हो रहा है, परन्तु या तो ग़लत परिणाम निकलते हैं या निकलते ही नहीं हैं। विचार एक प्रणाली है, अतः प्रत्यक्षीकरणकी भांति इसका वर्णन परिणामके रूपमें नहीं किया जा सकता। कठिन प्रणाली होते हुए भी विचार करना केवल वयस्कोंका ही काम नहीं है। तीन वर्षसे छोटे बच्चे भी इसे प्रदर्शित करते हैं, और मनुष्य-प्रकृतिमें इसकी जड़ें बड़ी गहरी जमी हैं। एक खिलौनेका खोना, या मित्रकी अनुपस्थिति, प्यालेका टूटना, सबमें विचार प्रारम्भ हो जाता है। परिणाम अशुद्ध हो सकते हैं, परन्तु शक्ति तो है। अतः यदि हम युवावस्थामें उच्च प्रकारकी विचार-शक्ति चाहते हैं तो बचपनसे ही इसका पूरा लाभ उठाना चाहिए।

किसी भी समस्याके सम्बन्धमें कार्य-कारणका सम्बन्ध बनानेमें विचार होता है। यह अनेक मानसिक क्रियाओंमें होता है। जब आदतसे काम नहीं चलता, जब मनुष्य छोटा मार्ग ढूंढ़ता है, जब वह उन्नतिके लिए उत्साह चाहता है, तभी विचार करनेकी परिस्थिति उत्पन्न हो सकती है। पूर्वानुवर्ती ज्ञान और समीकरणमें यह होता है। अध्ययन और स्मरणमें, कल्पना और विवेकमें भी।

विचार-प्रणालीकी तीन विशेषताएं हैं—सन्देहकी अवस्था; जो उद्देश्य प्राप्त करना है उसको दृष्टिमें रखकर मानसिक अवस्थाका संगठन और शासन; और संकेतोंका चुनाव और त्याग करनेवाली आलोचनात्मक धारणा। समस्याकी परिस्थिति और अयोग्यता की भावनाका यह अर्थ नहीं कि विशेष आवश्यकताके समय ही विचार आते हैं। बहुतसे लोग यहां तक कि बच्चे भी सोचनेके लिए ही सोचनेमें आनन्द लेते हैं। यह प्रायः प्रखर बुद्धिवाले होते हैं। कोई चीज़, जिससे उनकी उत्सुकता जाग्रत् हो या उनके स्वामित्वके भावको अच्छी लगे, वही काफ़ी समस्या है। विचारकके सामने जब ऐसी परिस्थिति आती है कि उसका वर्तमान ज्ञान अपर्याप्त हो जाता है तब वह निर्णयको छोड़कर विचार करना प्रारम्भ कर देता है। ऐसा करनेके लिए वह अपने विचारों पर अंकुश रखे और उनको भागने न दे; या दूसरे शब्दोंमें यह कि वह आलोचनात्मक धारणा रखे। जो संकेत मिलें उन्हें चुन ले या त्याग दे और सन्देहकी अवस्था चालू रखे, और ठीकसे छानबीन जारी रखे। उद्देश्यको दृष्टिमें रखकर संकेतोंका चुनाव हो। इसमें संकेतोंका विश्लेषण सम्मिलित है। जो अंग प्रासंगिक हो उसे छांट ले। हम विचारकी क्रिया में यह सब तत्त्व देखेंगे।

हम तीन उदाहरण लें, (१) एक बार एक राहगीरने घड़ी देखी और पता चला कि बारह बजकर बीस मिनट हैं। इससे उसे याद आया कि दूर पर उसे १ बजे कुछ काम है। उसने सोचा कि ट्रामसे जानेमें उस रास्तेसे उसे एक घंटा लगेगा। अतः बिजलीकी ट्रेन और छोटे रास्तेका विचार किया। परन्तु उस ट्रेनका कोई ऐसा स्टेशन न सोच पाया जो कामकी जगहसे निकट हो। छोटा रास्ता एक ऐसा था, अतः उसने उसीसे जानेको सोचा। (२) एक बार एक सज्जनने अपने घरके पास मेढकोंका एक समूह देखा। उसे बड़ा विस्मय हुआ और उसने सोचा कि क्या यह भोजनके लिए यहां आये हैं, या कहीं और जा रहे हैं और वर्षाकी प्रतीक्षामें हैं। कुछ दिनों बाद वही व्यक्ति संध्या समय अपने घरमें बैठा था, उसने देखा कि ढेरसे कीड़े ज़मीनसे निकल कर उड़ रहे हैं। चमगादड़ोंने उड़नेवाले और मेढकोंने ज़मीनवाले कीड़े खा लिए, और इस प्रकार ढेरसे मेढक

वहां आ गए। तब उस व्यक्तिन विश्वास किया कि पहले दिन भी मेढक इसी भोजनके लिए आए होंगे। तीसरे अवसर पर यह और भी निश्चय हो गया। एक छोटे मकान पर दिन में नया छप्पर डाला गया था और मिट्टीका ढेर जमीन पर पड़ा था, उसमें कीड़े, मच्छर थे। शामको फिर वहां मेढकोंका ढेर इकट्ठा हो गया। सोच-विचारके पश्चात् उस व्यक्तिको याद आया कि पहले अवसर पर भी एक बढ़ईकी दुकान तोड़ी गई थी और छप्परके टुकड़े जमीन पर पड़े हुए थे, तभी मेढक आये थे। (३) साबुनके गरम पानीमें गिलास धोने और उनको उल्टा करके प्लेट पर रखनेसे बुलबुले पहले बाहर होते और फिर अन्दर चले जाते हैं। क्यों? बुलबुलेका अर्थ हवा और झाग है। हवा बाहर क्यों आती है? गर्मीके कारण या दबावकी कमीके कारण, और दोनोंके ही कारण क्या यह फैलती है? परन्तु अन्दरकी हवा तो पहले ही गर्म थी, अतः गिलास जब निकाले गए तब ठंडी हवा अवश्य अन्दर चली गई होगी। यह हम प्रयोगसे निश्चित कर लेते हैं। एक गिलासमें थोड़ी ठंडी हवा भर लो, उसे प्लेट पर रखनेसे बुलबुले निकलेंगे। परन्तु शीशेके टुकड़ेसे बन्द गिलास लो, और उसी प्रकार रखो तब बुलबुले नहीं होंगे। अतः बुलबुले अवश्य ही ठंडी हवाके बढ़नेके कारण थे। तब फिर बुलबुले अन्दर क्यों चले गये? गिलास ठंडा हो गया। ठंडसे अन्दरकी हवा सिकुड़ गई और बाहरकी हवा उस रिक्त स्थानको भरनेके लिए अन्दर पहुंची। एक बर्फ़का टुकड़ा बाहर रखनेसे यह पता चल जायगा और बुलबुले एकदम उलट जायंगे।

यह तीन उदाहरण प्रारम्भिकसे लेकर जटिल चिन्तन तकके उदाहरण हैं। प्रथम उस प्रकारका विचार है जो प्रत्येक व्यक्ति नित्य करता है, और पिछले केवल उन लोगोंके लिए ही सम्भव हैं जिनको कुछ प्रारम्भिक वैज्ञानिक शिक्षण मिल चुका है। दूस रा बीच का है। यह अविशेष अनुभवके अन्तर्गत आता है परन्तु नित्यके जीवनमें नहीं आता, अतः कुछ सैद्धान्तिक रुचिका है। इन तीन उदाहरणोंकी परीक्षासे विचारकी एक ही क्रियामें पांच विभिन्न अवस्थाओंका पता चलता है--(१) एक कठिनाईका मालूम होना, (२) कठिनाईकी परिभाषा और स्थापन, (३) एक सम्भव हल का संकेत, (४) सांकेतिक हल के प्रभाव पर विवेक, (५) आगेका निरीक्षण और परीक्षण, जिससे हल को ग्रहण किया जाय या त्यागा जाय। पहले दो एक-दूसरेको संयुक्त करते हैं। यदि प्राप्त समस्या काफ़ी निश्चित है तो मस्तिष्क तुरन्त तीसरी अवस्थाको पहुंच जाता है। परन्तु जब कठिनाई काफ़ी विस्तारमें फंसी हुई है तब समस्याका स्थापन (locate) करना बहुत आवश्यक है। डॉक्टर बीमारीके पता लगानेमें यही करता है। तीसरी चीज़ संकेत है।

यह उन बातोंको बताता है जो इन्द्रियोंके समक्ष उपस्थित नहीं हैं, जैसे मेढकसे भोजन-सम्बन्धी विचार आना। संकेत अनुमान (inference) की जान है। दृष्टिसे अदृष्ट तक पहुंच होती है। अत: यह काल्पनिक (speculative) है, साथ ही साहसिक और सावधान है। सांकेतिक विचार एक अनुमान, अटकल उपपत्ति सिद्धान्त होता है। पूर्वैतिहासिक कालसे पानी खींचनेके पम्प काममें आते थे, परन्तु गैलीलियो आदि अनेक इस समस्या से परेशान थे कि यह ३२ फ़ीटसे अधिक पानी नहीं खींचता। गैलीलियोका शिष्य टॉरीसेली (Toricelli) को शक हुआ कि हवामें भार है, यह भार केवल ३२ फ़ीट पानीको वहन कर सकता है। उसने इससे अन्दाज़ लगाया कि यदि ऐसा है कि यदि हवा ३२ फ़ीट ऊंचे रिक्तमें पानी वहन कर सकती है तो यह ३० इंचके लगभग पारा भी उठा सकती है। उसने ३६ इंचकी शीशेकी नली ली, इसे पारेसे भर लिया और फिर उसे पारे से भरे प्यालेमें उलट दिया। उसे यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि ३० इंच पारा नलीमें बैठ गया। चौथी अवस्था विवेक की है और इसमें समस्या-सम्बन्धी विचारों की बारीकियोंकी जांच होती है। संकेतको देखा जाता है और पता लगाया जाता है कि इससे सम्पूर्ण तुष्टि हो जायगी अथवा नहीं। जब हमने चीज़ोंके विस्तार (expansion) का नियम ध्यानमें लिया तभी पता चला कि गिलास-सम्बन्धी सब समस्याओंका इससे हल हो जाता है। विवेकसे पता चलता है कि यदि विचार ग्रहण कर लिया जाय तो उसके कुछ परिणाम होते हैं। अन्तिम अवस्थामें परीक्षण अथवा अधिक निरीक्षणसे पुष्टि होती है।

अत: विवेक एक प्रकारका विचार है, परन्तु हमें इसकी विशेष पहचान भी जान लेनी चाहिए। यह सबसे उच्च प्रकारका विचार है और इसकी कुछ विशेष आवश्यकता ह। विवेक एक निग्रहपूर्ण विचार है, जिसमें नियमोंका निग्रह और उच्च कलाकी आवश्यकता है। यह कल्पना, स्मृति, पूर्वानुवर्त्ती ज्ञानसे, जिन सबमें विचारना होता है, भिन्न है। इसमें नियम और सिद्धान्त हैं। हिज्जे करने और पढ़नेमें विचार होता है, विवेक नहीं। इसकी दूसरी विशेषता विशेषकलाका होना है। इसके दो भाग हैं।

(१) इसमें कुछ मानसिक अवस्थाएं होती हैं। मस्तिष्कमें रचनात्मक और सांकेतिक कल्पना, तार्किक प्रत्यय और स्पष्ट निर्णय होने चाहिएं। तार्किक सम्बन्ध आकस्मिक अवस्थाओंसे स्वतंत्र होते हैं, परन्तु ऐसे सम्बन्धोंमें, जैसे समानता विरोध, कार्यकारण, उद्देश्य विधेय, बराबरी अन्तवर्त्ती (inherent) रहते हैं। तार्किक प्रत्यय उस विचारका परिणाम होता है, जिसका अर्थ परिभाषाके लिए स्पष्ट हो गया है। बालक का वृक्ष-सम्बन्धी विचार एक तार्किक प्रत्यय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें विशेष

अर्थ तथा आवश्यक गुणोंका अभाव है। स्पष्ट निर्णय वह है जिसके अन्दर अनुमानके लिए कारण मौजूद हैं, जैसे धोखा देना बुरा है। वास्तवमें प्रत्यक्षीकरण, पूर्वानुवर्त्ती ज्ञान, निर्णय, अनुमान और तार्किक विचार उसी प्रणालीकी सब विभिन्न अवस्थाएं हैं। यह पुराने शब्दोंमें नयेको समझना है, संकुचित अनुभवका साधारण अनुभवके अन्तर्गत होना है। प्रत्यक्षीकरणमें पूर्वानुभवका स्पष्ट स्वरूप सामने नहीं दीखता। पूर्वानुवर्त्ती ज्ञानमें यह अलग किया जा सकता है। प्रत्ययमें यह चेतनतासे और निश्चित रूपमें कार्य करता है, परन्तु अनुमान और तार्किक विचारमें इस प्रकारके पूर्वानुभव स्पष्ट निर्णयके रूपमें दिखाई पड़ते हैं। जैसे कि वियोजन (deduction) में हम विशेषको सामान्यके अन्तर्गत लाते हैं, अतः वहां सामान्यका होना बहुत आवश्यक है। ऐसे सामान्य नियम जैसे 'बीजोंका विस्तारका नियम' बालकको अवश्य आने चाहिएं।

(२) विशेषकला (technique) की दूसरी विशेषता वियोजक (deductive) अथवा व्याप्तिमूलक (inductive) प्रणालीका प्रयोग है। हम इसकी कार्यप्रणाली दिखाने के लिए एक-एक उदाहरण देंगे। अध्यापक एक ऐसी लोहेकी गोली लेता है जो अंगूठीमें से निकल जाती है। वह गोलीको गर्म करता है और वह अंगूठीमें से नहीं निकलती। उष्णताने इसे बढ़ा दिया है। यह प्रयोग पीतल, तांबा, सीसाके साथ किया जाता और परिणाम नोट किया जाता है। यह सब ठोस हैं, अतः ठोस उष्णतासे बढ़ते हैं। तब अध्यापक पानीसे भरा एक बर्तन लेता है, जिसमें कसकर डाट लगी है और एक नली अन्दर जाती है। पानी गर्म किये जाने पर नलीमें से निकलने लगता है। यही प्रयोग शराब, दूध आदिके साथ किया जाता है और पता चलता है कि द्रव पदार्थ भी गर्मीसे बढ़ते हैं। फिर हम एक हवा भरे हुए बैगको गर्माते हैं। यह बढ़ता है और यही बात विभिन्न प्रकारकी गैसके साथ होती है, तो हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि गर्मी से गैस बढ़ती है। परन्तु पदार्थके तीन रूप हैं—ठोस, द्रव और गैस। तो हम कहते हैं गर्मी से पदार्थ बढ़ता है। यह व्याप्तिमूलक बात है। वियोजनमें हम उल्टी तरफ़से चलते हैं। पदार्थ गर्मीसे बढ़ता है, ठोस एक प्रकारका पदार्थ है और लोहा ठोस होता है, अतः लोहा गर्मीसे बढ़ता है। परीक्षणसे इसका सत्य प्रमाणित किया जा सकता है। इसी प्रकार द्रव और गैसके साथ है। व्याप्तिमूलमें समस्याकी आवश्यकता, इसको हल करनेके तथ्यों की खोज, तुलना, और परिणाम होता है। व्याप्तिमूल (induction) एक साधारण उपपत्ति स्थापित कर देता है, जो विशेष उदाहरणोंके आधार पर होती है। वियोजन वह प्रणाली है जिसमें सामान्य प्रस्तावनासे विशेष समस्याओं पर आते हैं। दोनोंके बीच

एक रेखा खींच दी गई है, परन्तु दोनोंमें अनेकों समानताएं हैं। दोनोंमें विवेक, विश्लेषण, पृथक्करण (abstraction), खोज और तुलना है। दोनों प्रत्येक विवेकमें सम्मिलित रहते हैं। उदाहरणके लिए उस व्यक्तिको लो जो लौटकर अपने कमरेमें तमाम गड़बड़ी देखता है। एकदम डकैतीका ध्यान आता है, फिर बच्चोंकी शैतानीका। यह व्याप्ति-मूल है और फिर वियोजन प्रारम्भ होता है। निरीक्षण की हुई बातें नियमोंके अन्दर लाई जाती हैं। यदि डाकू आते तो चांदीका सामान ग़ायब होता। फिर वह एक सामान्य नियम लगाता है, जो स्वयं व्याप्तिमूलक रूपमें आता है और विशेष बातों पर आता है। फिर भी अन्तर बताना आवश्यक है। व्याप्तिमूल एक ऊपरकी ओर गति है और वियोजन नीचेकी ओर। व्याप्तिमूलसे परिभाषा, नियम, सिद्धान्त, उपपत्ति पर आते हैं और वियोजनसे इनको अच्छी तरह समझा जाता है। व्याप्तिमूलसे नया ज्ञान प्राप्त होता है। यह खोजका तरीक़ा है, और वियोजन प्रमाणित करने और समझनेका।

पढ़ानेमें व्याप्तिमूल शिक्षित करने और वियोजन सिखाने (instruct) का तरीक़ा है। व्याप्तिमूल मन्द और वियोजन शीघ्रगामी है। व्याप्तिमूल एक प्राकृतिक प्रणालीका आनुगामी है, क्योंकि वास्तविक क्रम प्रत्यक्षीकरण, प्रत्यय और निर्णय है। क्रम उल्टा होनेके कारण वियोजन प्राकृतिक नहीं है। व्याप्तिमूल शिक्षामें निश्चित प्रणाली है, क्योंकि यह धीरे-धीरे बढ़ती और इस प्रकार नियम बनाती है; वियोजन निश्चित विधि नहीं है क्योंकि बालक बहुतसे नियम नहीं समझ सकेंगे। व्याप्तिमूलक प्रणालीसे अपने पर भरोसा हो जाता है, परन्तु वियोजन दूसरों पर आश्रित रहनेको उत्साहित करता है। हम देख चुके हैं कि सब विचारमें व्याप्तिमूलक और नियोजक दोनों आते हैं। अतः सबसे अच्छी विधि यही है जिससे मस्तिष्क जल्दी सीख सके, अर्थात् दोनोंकी मिली हुई। अतः सच्चा तरीक़ा मनोवैज्ञानिक अथवा विश्लेषण-संयोगका या व्याप्तिमूलक-वियोजकका है। ऊपर दिये कारणोंसे शिक्षामें व्याप्तिमूलक विधिके अच्छा होनेका पता चलता है, यद्यपि इसमें भी वियोजकके बिना हम कुछ नहीं कर सकते।

बालकोंमें विचारको प्रोत्साहित करनेमें अध्यापक क्यों असफल होते हैं इसके बहुत कारण हैं, जैसे मस्तिष्ककी निर्बलता, निर्बल स्मृतिके कारण कम ज्ञान या अनुभव होना, ध्यान लगाने और आलोचना करनेकी आदतोंकी कमी, बौद्धिक रुचियोंकी कमी और निर्बल शिक्षणके कारण स्वतंत्र कार्य करनेकी इच्छाकी कमी। पाठ्यपुस्तकों, प्रयोग-शालाओं तथा भाषणों पर बालकों और अध्यापकोंका अधिक आश्रित रहना हमारे स्कूलों की सबसे बड़ी कमज़ोरी है। बालकोंको वास्तविक क्रियाशीलताके सम्पर्कमें अधिक आना

और निरीक्षणोंका सुचारु रूपसे संगठन करना चाहिए। यह विशेषकर प्रकृति पाठ (nature study) और भूगोलके लिए बहुत आवश्यक है। अध्यापक ध्यानाकृष्ट करनेवाली समस्याएं बालकोंके सम्मुख रक्खे। अतः अध्यापकको विशेष विषयोंके अन्तर्गत शिक्षा-संगठन करके बालकोंको सामग्री इकट्ठा करनेके लिए भेजना चाहिए। उद्देश्य स्पष्ट और व्यक्त होना चाहिए, जैसे भूगोलमें बालक यह सोच सकते हैं कि बड़े शहर बड़ी नदियों, समुद्र, झीलों आदिके पास क्यों बसे हैं। इतिहासमें बालकोंसे घटनाओंका कारण बतानेको कहा जाय। स्वतंत्र विवादके लिए अवसर मिलना चाहिए। अपनी उन्नतिकी परीक्षा लेकर, प्रश्न करनेकी सुविधा देकर और सन्देह प्रकट करनेकी स्वतंत्रता देकर उसकी आलोचनात्मक भावनाको उत्साहित करे। प्रदात्त की पर्याप्ति होना, नियमों का लागू होना, ग़लत भावनाओंका उनके मस्तिष्कमें प्रवेश होनेकी सम्भावना आदि पर स्वयं ही प्रश्न करके बालक तार्किक धारणाकी आदत डाले। बांसर (Bonser) ने संकेतके प्रसंगकी उन्नति करनेके लिए एक तरीक़ा निकाला है। उसने एक कार्डमें बहुत-से कारण लिख दिये कि न्यूयॉर्क बॉस्टनसे बड़ा शहर क्यों हो गया, और बालकोंसे उन कारणों पर निशान लगानेको कहा गया जिन्हें वह ठीक समझते थे। वह स्वतंत्र मस्तिष्क बनायें, अपने परिणाम विस्तृत प्रदात्त पर आश्रित करें और स्वतंत्र कार्य करें। पिछली बात संख्या सम्बन्धी कार्यकी भी विशेषता बताती है, जिससे सवालोंका हल भी हो सके। बालकोंको मशीनकी तरह हिसाब करना सिखाया जा सकता है, परन्तु जब उन्हें कोई नया सवाल दिया जायेगा तब वह असफल होंगे। वह अंदाज़ लगायेंगे कि जोड़ना, घटाना, गुणा अथवा भाग करना है। अध्यापक इस कठिनाईको दूर करनेके लिए इसको विशेष सवालों द्वारा पहलेसे समझा देते हैं। तेज़ लड़कोंकी सहायतासे बालक कठिनाई हल कर लेते हैं। इन सब उदाहरणोंमें विवेक दूसरेके द्वारा होता है और बालक केवल यांत्रिक रूपसे हिसाब करता है। बहुतसे अध्यापक प्रणालीकी अपेक्षा जो अधिक आवश्यक है उत्तरकी अधिक परवाह करते हैं। अतः सवाल दे दिये जाय और बालक स्वयं उनको करनेकी चेष्टा करें, चाहे उत्तर ग़लत ही आयें। मां-बाप प्रायः ऐसे परीक्षककी शिकायत करते हैं जो असाधारण सवाल देकर बालकको डगमगा देते हैं। परीक्षककी इसमें ग़लती नहीं है, क्योंकि सवालोंको हल करनेमें हम तो यह चाहते हैं कि बालकमें हल सोचनेकी शक्ति है या नहीं, अतः सवाल करना इतनी विशेषता नहीं रखता, जितना उसमें विवेक लगाना। अतः अध्यापक सवाल करना सिखानेमें अपनी शक्ति नष्ट करनेके बदले शक्तिको ऐसे सवाल ढूंढ़नेमें लगाये जिसमें बालकोंको विवेक-शक्तिकी आवश्यकता पड़े। वह ऐसी

समस्याएं ढूंढ़े जो बालकके ज्ञानकी सीमाके अन्दर हो। सवाल जीवित हों, काल्पनिक नहीं प्रदात्त और शब्दोंके अर्थ स्पष्ट हों। दूसरे बालकको इसमें काफ़ी रुचि हो, ताकि अपनी पूरी शक्ति लगा दे। यदि तुम उसे एक काल्पनिक कमरेकी दीवारों पर कितना कागज़ लगेगा यह निकालनेको दोगे, तो इसमें बनावटी रुचि लानी होगी, जैसे अधिक नम्बर पानेकी और अध्यापकको खुश रखनेकी। और यदि ऐसे डिब्बेके विषयमें निकालता हो जो उसने स्वयं बनाया हो तो उसे वास्तविक रुचि होगी।

स्कूलोंमें विचार पर अधिकतर तीन बातोंका प्रभाव पड़ता है, (१) अध्यापकका प्रभाव सबसे आवश्यक है। उपदेशसे उदाहरण अधिक अच्छा होता है, अतः हमारे अध्यापकोंकी मानसिक आदतें और व्यक्तिगत विशेषताएं हमारे ऊपर उनकी शिक्षाकी अपेक्षा अधिक प्रभाव डालती हैं। उत्तेजनाकी समस्या और प्रतिक्रिया अनुकरणका एक रूप है। अध्यापक जो भी करता और जिस प्रकार भी करता है बालक कोई-न-कोई प्रतिक्रिया अवश्य करता है। बिना ध्यान दिये बोलनेकी चाहे जैसी आदत फूहड़पनेसे बिना सोचे-समझे ग्रहण कर लेनेसे फिर धारणाएं आदतका रूप धारण कर लेती हैं। (२) अध्ययनका प्रभाव—अध्ययन तीन प्रकारके समझे जा सकते हैं। एक तो वह जिसमें कुछ दक्षताकी आवश्यकता है, दूसरा जिसमें ज्ञानकी आवश्यकता है, और तीसरा अनुशासन सिखानेवाला अध्ययन। पहले प्रकारके अध्ययनमें मशीनकी तरह काम बहुत होता है, अतः यह विचारको रोकता है। दूसरी श्रेणी पांडित्य के आश्रयसे सूचना बढ़ाती है। 'सूचना' ज्ञानका एकत्रित किया हुआ रूप है और पांडित्य क्रियाशील ज्ञान है। इस प्रकार सूचनामें कोई बुद्धि प्रखरताका होना आवश्यक नहीं है। परन्तु पांडित्य सर्वोच्च बुद्धि प्रखरता है। यह विचार ग़लत है कि बेकार इकट्ठी की गई सूचना जीवनमें कभी काम आ जायेगी। तीसरी श्रेणीमें तार्किक अध्ययन है, यह दोष सबसे बड़ा है क्योंकि यह जीवनसे अलग रहता है। (३) परीक्षा आदर्श, जिसमें वाह्य विषय-सामग्री तथा प्रभुत्वके कारण विचार गला घोटनेवाला सा हो जाता है। हमें अपने विद्यार्थियोंका स्वमताभिमान हिलाकर उनमें उसी प्रकारकी बौद्धिक अशान्ति जागृत कर देनी चाहिए, जैसे सुकरातने अपने प्रश्नों द्वारा की थी, और सत्यके लिए वास्तविक प्रेम उत्पन्न कराना चाहिए। यह सब उनकी विचार-शक्ति पर प्रभाव डालेगा।

तुल्यता (analogy)—बहुतसे लोग तुल्यताको विवेकका एक रूप मानते हैं। यह न्याययुक्त नहीं है। उपर्युक्त उदाहरणमें हमने केवल कुछ ठोस गरम किये थे और यह परिणाम निकला कि गरम करने पर सब ठोस बढ़ते हैं। जो साधारण नियम इसमें संकेत

किया गया है वह एक प्रकारका अनुमान है विवेक नहीं। इसका कोई कारण नहीं कि सब ठोस बढ़ेंगे ही। यह अधिकसे अधिक प्रस्तावना या संकेत हो सकता है, जिसे आगे सिद्ध या प्रमाणित किया जा सकता है। इसी कारण बहुतसे व्यक्तियोंने सिद्धान्तको बेकार कर दिया है, क्योंकि वह मन भर सिद्धान्तकी अपेक्षा तोला भर सत्य लेनेके अधिक इच्छुक हैं। हम निश्चयसे नहीं कह सकते कि यदि दो चीजें एक या अधिक रूपमें आपसमें मिलती हैं तो वह प्रस्तावना (proposition) जो एकके लिए ठीक है दूसरेके लिए भी ठीक होगी। इस प्रकार दो चीजें जो आकार, रूप और रंगमें एक सी दिखती हैं शायद पानी पर उतरा न सकें। यह बात काटी जा सकती है कि वह उतरा सकेंगी, परन्तु यदि हम यह जान सकें कि दोनोंमें समान विशिष्ट गुरुत्व (specific gravity) है तो हम कारण सहित कह सकते हैं कि दोनों उतरायेंगी भी। कुछ भी हो तुल्यता शिक्षाकी बहुत बढ़िया विधि है। इससे अज्ञात ज्ञातके क्षेत्रमें आ जाता है। जैसे प्रकृति-पाठ (nature study) में हम देखते हैं कि मिट्टीका ढेर पानीके तेज़ बहावके कारण होता है, और बलुआ पत्थर पानीके धीरे बहनेके कारण और शेल (shale–एक प्रकारका पत्थर) रुके पानीके कारण होता है तो अध्यापक इसे सोदाहरण समझा सकता है, पत्थर, बालू और बारीक मिट्टी शीशेके बर्तनमें पानीके अन्दर डालकर और तेज़ीसे इसे घुमाकर दिखा सकता है। फिर उस मिश्रणको ठहरा दे, पहले पत्थर नीचे बैठेंगे, उसके बाद बालू और फिर मिट्टी। यह समझानेकी अच्छी विधि होगी, परन्तु सत्यका प्रमाण नहीं होगा। अरस्तू तुल्यताको गुरुत्वके अनुपातमें देखता है, जिसमें सम्बन्ध (ratio) की बराबरी होती है। जैसे क:ख : : ग:घ, यदि क:ख का पता हो तो अध्यापक इसके साथ ग:घ भी समझा सकता है। जैसे एक व्यक्ति एक नौकरानीसे की गई लार्ड की शादीका विरोध इस प्रकार कर सकता है कि तुम एक टाटमें से रेशमी रूमाल नहीं बना सकते। यद्यपि दोनों परिस्थिति बिल्कुल भिन्न हैं परन्तु उसने अपना तात्पर्य तो समझा ही दिया। उसने इस प्रकार तुल्यता की टाट : रेशमी रुमाल : : नौकरानी : लार्ड। तुल्यता में सचाई दिखानेके लिए रूपकसे बड़ा काम बनता है। यह थोड़ी जानी हुई बातको अधिक जानी हुई बातके द्वारा समझाना है। तुल्यता 'विशेषसे विशेषकी ओर विवेक है' अतः विश्वसनीय नहीं है। ठीक तुल्यताओंमें समानताकी ऐसी बातें होनी चाहिए जो मूल हों, वास्तवकि हों, काल्पनिक नहीं। तुल्यता अच्छी चीज है परन्तु इसको बहुत दूर तक नहीं ले जाना चाहिए। जैसे जेम्स ने चेतना की तुलना नदीसे की। यह यहां तक ठीक थी कि यह हमारी मानसिक अवस्थाकी गति बताती है, परन्तु तुल्यतामें सारूप्य (identity) नहीं है। हमारे विचार

मस्तिष्कमें केवल एक बार ही नहीं आते। उनमें पुनर्जीवन आ सकता है, जो पानीसे नहीं हो सकता। अतः रूपकको सीमाके अन्दर ही रखना चाहिए, इसके लिए वह अन्य रूपकोंसे सन्तुलित हो। अतः चेतनाके सम्बन्धमें गुम्बद, कुंए, सादे काग़ज़, रंगभूमि, तस्वीरकी प्लेट आदिसे तुलना जेम्स के एकतरफ़ापन को ठीक कर देती है। तुलनाकी कुंजी भी हमें दे देनी चाहिए नहीं तो वह एक समस्या बन जाती है, अतः उपमेय और उपमान एक साथ दे देने चाहिए। यदि ठीक प्रभाव डालना है तो तुल्यता ठीकसे प्रदर्शित की जाए। जिसका उदाहरण दिया जा रहा है वह और उदाहरण क्रमसे एक दूसरेके बाद आवें नहीं तो बालक यह नहीं समझ पायेगा कि क्या चीज़ उदाहरणके द्वारा समझाई जा रही है। उदाहरणमें भी एक प्रकारकी तुल्यता है। प्रायः अस्थूल नियमों का यह सबसे अच्छा स्थूल प्रदर्शन होता है।

१३

ज्ञानकी सामान्य प्रकृति

अध्यापनके दो रूप हैं। एक ओर शिष्य और दूसरी ओर विषयका ध्यान। इन दोनों के बीच अध्यापन वह सम्बन्ध स्थापित करनेकी चेष्टा करता है, जिसे हम ज्ञान कहते हैं। अतः अध्यापनका उद्देश्य बालकको ज्ञान प्राप्तिकी ओर ले जाना और उसमें उस ज्ञानको प्रयोग करने और बढ़ानेकी शक्तिका विकास करना है। अब तक हम उस प्रणाली पर ध्यान दे रहे थे जिससे ज्ञान प्राप्त किया जाता है; अब हम उसकी वास्तविक उपज और ज्ञानकी प्रकृति पर ध्यान देंगे कि यह मस्तिष्क और जातिमें कैसे बढ़ती है।

ज्ञान मनुष्य विचारका वह अंग है जो सत्यसिद्ध हो और मनुष्य विचार तभी सत्य सिद्ध होता है जब यह दुनियांकी वास्तविकताओंके अनुकूल हो। इस प्रकार सभी ज्ञान सत्यका ग्रहण है। हम सम्पूर्ण सत्य कभी नहीं जान सकते, क्योंकि वह विश्वके साथ व्यापक है, अतः अनन्त है और हमारी सीमित बुद्धिके द्वारा समझाया नहीं जा सकता। फिर भी यह निर्विवाद है कि यह अधिकसे अधिक बढ़ता और अन्धविश्वासका क्षेत्र उतना ही संकुचित होता जाता है। अन्धविश्वाससे विरोध दिखानेसे ज्ञानकी प्रकृति स्पष्ट हो जायगी। यद्यपि अन्धविश्वाससे ज्ञान बहुत भिन्न है, परन्तु यह निकलता उसीसे है। प्राचीनकालमें प्रायः मनुष्यका आचरण अन्धविश्वाससे ही निश्चित किया जाता था, परन्तु जैसे-जैसे ज्ञान बढ़ता गया उसी क्रमसे अन्धविश्वासकी सीमा संकुचित होती गई। अब भी जीवनके कुछ थोड़े भागोंमें मनुष्य जाति अन्धविश्वास पर चलती है, परन्तु अधिकांश उदाहरणोंमें यह विचार पर चलती है। इसी कारण कहा जाता है कि शिक्षाने अन्धकार को नष्ट कर दिया। अन्धविश्वास मनुष्यकी भावना और कल्पनाका परिणाम है और ज्ञान विचार तथा अन्वेषणका।

(१) यह हमें इस विचार पर लाता है कि सब विश्वास ज्ञान नहीं हैं। 'विश्वास' मस्तिष्क द्वारा बिना प्रश्न किए ग्रहण की हुई बात है। ज्ञान और विश्वास दोनोंमें इस प्रकारकी मानसिक अवस्था प्रदर्शित होती है। जादू पर जितना विश्वास जंगलीका होता है उतना ही सभ्यका आकर्षण-शक्ति पर। बहुत-सा विश्वास खोखला होता है और अनुभवसे झूठ निकलता है, परन्तु मानसिक आलस्यवश मनुष्य विश्वासको ग्रहण किए ही जाता है। जब अन्वेषणकी भावना जाग्रत होती है तभी व्यक्ति इसके झूठ-सचका पता लगाता और इसे ग्रहण करता अथवा त्याग देता है। इस प्रकार यद्यपि ज्ञान और विश्वास इस बातमें समान हैं कि दोनों ऐसी मानसिक अवस्थाएं हैं जिसमें उपस्थित सत्य पर विश्वास किया जाता है, परन्तु ज्ञानमें वह सत्य बाह्य प्रमाणों द्वारा प्रमाणित भी किया जा सकता है। जैसे एक जंगली भूचालको देवताओंके क्रोधका कारण उसी तरह समझता है जैसे एक पूर्ण शिक्षित व्यक्ति विश्वास करता है कि यह प्राकृतिक नियमों और शक्तियोंकी कार्य-प्रणाली के अन्तर्गत आता है। शिक्षित व्यक्ति अपनी बात सिद्ध कर सकता है, परन्तु जंगली अपने विश्वासकी सत्यता दिखा नहीं सकता। (२) बहुतसे व्यक्ति एक-सा विश्वास रख सकते हैं, परन्तु विश्वास सर्वगत नहीं व्यक्तिगत होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए विश्वास करता है, परन्तु अपने विश्वासका संचार (communicate) नहीं कर सकता। इस प्रकार विश्वास साररूपमें विशेष होता है। ज्ञान सार्वलौकिक होता है, जैसे यह कितने ही मस्तिष्कोंमें एक-सा होता है। यह वास्तविकताको ग्रहण करता है, अतः वास्तविकता पर आश्रित है, व्यक्तिगत मस्तिष्क पर नहीं। यह सबमें फैलाया जा सकता है, क्योंकि जिन प्रमाणों पर वह आश्रित है वह स्पष्ट किए जा सकते हैं। ज्ञान केवल वही नहीं है जिसमें विश्वास कर लिया जाय, वरन् उसमें विश्वास करना अनिवार्य है, क्योंकि यह सत्यसिद्ध हो चुका है। (३) विश्वास प्रायः झूठ और ज्ञान सत्यसिद्ध होता है। इससे यह पता चलता है कि बहुत-सी बातें, जो सच मान ली गई थीं, बादमें सिद्ध नहीं हुईं। इस प्रकार सब ज्ञान विश्वास है परन्तु सब विश्वास ज्ञान नहीं है।

सब ज्ञान अन्वेषणकी भावनासे प्रारम्भ होता है। जीवित रहनेके लिए जंगलियोंको बड़ी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा, अतः आस-पासकी वास्तविकताकी प्रकृतिके सम्बन्धमें प्रश्न करनेका अवसर कहां। परन्तु फिर भी जीवित रहनेके लिए उन्हें कुछ बातों पर ध्यान देना पड़ा। उसने एक बेर खाया और वह बीमार पड़ गया। वह एक पत्थर पर चला और ज़मीन पर उसने अपनी लम्बाई नापी। यदि इसके लिए उसने कोई व्याख्या की तो वह उसके जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाली थी। जंगलीपनसे निकलकर जीवित रहनेके लिए

अधिक कठिनाइयोंका सामना नहीं करना था। आस-पासकी चीज़ोंमें उसे उत्सुकता होने लगी। फिर भी उसने अपनेको विश्वका केन्द्र माना और जो भी स्थूल वस्तु उसकी चेतना में आई, उसने उसे अपने ही सम्बन्धमें समझा। वह यह नहीं समझता कि पारस्परिक सम्बन्ध भी कुछ मूल्य रखते हैं। इस अवस्थाको हीगल (Hegel) ने प्रत्यक्षीकरणकी अवस्था कहा है। दुनियां उन वस्तुओंका जोड़ कही जाती थी जिनका आपसी सम्बन्ध भाग्यवश हो गया है। अतः जंगलीने सोचा कि इन सम्बन्धोंका क्रम बदला जा सकता है, यही जादूका लक्ष्य था। यह सम्बन्ध-क्रम परियोंकी कहानियों और क़िस्सोंमें बदला गया। प्राचीन (जंगली) व्यक्तिका जादूकी शक्ति और प्राकृतिक वस्तुओं पर इसके प्रभावमें बड़ा विश्वास था। जादूके काम जैसे वर्षाके लिए आदमीके पुतलेको पीटा जाता था। इस अवस्थाके लिए अकर्त्तृक (impersonal), निर्देशिक (demonstrative), गणनीय (enumerative), ऐतिहासिक और विशेष सम्बन्धके निर्णय युक्त हैं।

जब कि जादू और झूठमूठके विज्ञानका राज्य था और वास्तविकता पर कल्पनाका प्रभाव था। इस अवस्थाका शिक्षा-सम्बन्धी लाभ, सारांश सिद्धान्त (recapitulation theory) की दृष्टिसे है। यह कहा जाता है कि नाटक करना, विचित्र कल्पना, परियोंकी कहानियां आदि बालककी विकासकी अवस्थाके लिए ठीक हैं। अतः बालककी प्रारम्भिक शिक्षामें इसको पूरा अवसर देना चाहिए। इस विचारका विरोध भी हुआ है और यह पूरा विषय विवादग्रस्त है। स्टर्न (Stern) मांटेसरी प्रणालीको इसलिए बुरा कहता है कि इसका आधार बौद्धिक है, इस अर्थमें कि इन्द्रिय-शिक्षण पर अधिक ज़ोर दिया गया है और भाषा, चित्रकारी, गुड़ियोंके खेल, गाने, चित्र आदिके द्वारा काल्पनिक कार्यशीलताकी अवज्ञा की गई है। दूसरोंका कहना है कि सारी मानुषिक कार्यशीलता मनोराज्य (fantasy) से खेलके रूपमें प्रारम्भ होती है और धीरे-धीरे वास्तविकताके सम्पर्कमें आनेसे वह कार्य हो जाती है, तथा व्यक्तित्वका विकास कराती है। अपनी प्रबोधक (didactic) सामग्री तथा तैयार वातावरणके द्वारा मांटेसरी बालकके खेल-मनोराज्यको समाप्त कर देती और इस प्रकार आन्तरिक विकासको रोक देती है, क्योंकि मांटेसरी प्रणालीके खेल उन उद्देश्योंके कारण नहीं होते जो आन्तरिक हैं, वरन् जो बाहरसे थोपे गए हैं।

मांटेसरी प्रणालीका समर्थन करनेके लिए भी बहुतसे कारण दिए जाते हैं। शरीरमें इस प्रकारकी आन्तरिक क्रियाएं जैसे सांस लेना, खाना पचाना आदि मौलिक रूपमें चेतना के द्वारा होती थीं, परन्तु जब मस्तिष्क बाहरी बातोंमें संलग्न हो गया, यह प्रणालियां लघु-

चेतना (sub-conscious) को दे दी गई। इसी प्रकार मनोराज्यकी अवस्था जाति के बालपन की हैं, जब कि जंगली को कार्यकारणका कोई ज्ञान नहीं था और घटनाका होना जादूका चमत्कार समझा जाता था। यह अवस्था अस्थिर थी। अतः इसका दमन करना चाहिए। इस पर विजय पानेके लिए शिक्षा बालककी सहायता करे। इसके बदले मां-बाप और अध्यापक परियोंकी कहानियों द्वारा उसमें जंगलीपन भरते तथा ज़बर्दस्ती उससे जादू और चमत्कारकी बातोंका ध्यान करवाते हैं। मनोविश्लेषणसे पता चलता है कि बालक समय और स्थानकी रुकावटों, तथा बड़े लोगोंकी रोकोंसे घिरा हुआ कल्पना-जगत्में निकल जाता है, जहाँ उसकी इच्छानुसार बातें होती हैं और वहां वही सबका स्वामी है। यदि यह आदत चालू रहती है, तो बालक वास्तविक व्यवहार करनेके अयोग्य होकर दिन में स्वप्न देखता है। इससे निद्रा-भ्रमण (somnambulism), दोहरा व्यक्तित्व तथा हिस्टीरिया हो जाता है। मांटेसरीका आदर्श इस 'दुनियांसे इस प्रकारकी स्वतंत्रता' नहीं वरन् इस 'दुनियामें स्वतंत्रता' है। ब्रूस (Bruce's Handicaps to Childhood) ने बहुतसे ऐसे उदाहरण बताए हैं जहां परियोंकी विचित्र कहानियां अत्यधिक पढ़नेसे बालक में बड़ेपनके नर्वस अव्यवस्थाके बीज जम गए हैं। उसका तो यहां तक कहना है कि पिछले युद्धमें वर्तमान लोगों पर जो खून चढ़ा था वह उसीका परिणाम था जो बच्चोंकी प्रारम्भिक शिक्षामें परियोंकी कहानियों द्वारा मार डालना और खून बहाना खूब पढ़ाया गया था। अतः यह निर्विवाद है कि जो भी परियोंकी कहानियां पढ़ाई जायं उनकी अच्छी तरह जांच हो और बालक जल्दी ही 'प्राचीन (primitive) विज्ञानके अवशेषसे निकलकर वर्तमान विज्ञानकी वास्तविकताके सम्बन्धमें अपनी कल्पनाका अभ्यास करनेमें आनन्द लेने लगे।'

ज्ञानकी अगली अवस्थाको हीगल विधि (law) प्रणाली कहता है। यह दुनियांको विधियों (laws) के द्वारा स्पष्ट करनेका प्रयास करती है। मनुष्यने अपने चारों ओर परिवर्तन देखा। बर्फ़ पिघली, बादल हवाके आगे दौड़े, अचल पर्वत भी उतने निश्चल न रहे जैसे कि पहले थे। वर्षा, आंधी, तूफ़ान, ग्लेशियर सब बराबर काम करते रहे। इस परिवर्तनका कारण दो में से एक ही हो सकता है, या तो कोई बाह्यकर्त्ताके कारण या वस्तु के आन्तरिक विकासके कारण। पहले यह समझा गया कि परिवर्तनको बाह्य कारण ही पूर्णतया निश्चित करते हैं। परन्तु शीघ्र ही यह पता लग गया कि वह सब कुछ नहीं समझा सकते। यदि शाहबलूत तथा अनाज एक साथ बोकर उनके साथ बाह्य क्रियाएं समान की जायं, तब भी परिणाम भिन्न निकलेंगे। वृक्षकी अपेक्षा जीवधारियों पर बाह्य अवस्थाओं

का प्रभाव कम पड़ता है और मनुष्य आत्म-निर्धारित (self-determined) व्यक्ति होता है, जो अपने विवेक और इच्छा (will) के कारण अपने वातावरणमें पूर्ण स्वतंत्र हो जाता है। इसी कारण उसमें परिवर्तन लानेके लिए उसकी आन्तरिक प्रवृत्ति उतनी ही उत्तरदायी है जैसे बाह्य प्रभाव। इसी कारण हम यह विश्वास करते हैं कि जो कुछ होता है वह आवश्यक है। बाह्य परिस्थितियोंमें बाधा डालकर हम परिवर्तनको नहीं रोक सकते। कुछ परिस्थितियोंके होने पर फलस्वरूप कुछ परिवर्तन अवश्य होते हैं। अतः प्रकृतिकी प्रत्येक वस्तु अन्य वस्तुओंके सम्बन्धमें स्पष्ट होनी चाहिए, और यही बात है कि प्रकृति नियमबद्ध है। हम प्रत्येक वस्तुको, जो अपने अन्तर्गत सम्बन्धों द्वारा वास्तविकताका अंग बन जाती है, नियमकी अवस्थामें उसे स्पष्ट करनेकी चेष्टा करते हैं। यह वैज्ञानिक अवस्था है। इस अवस्थाके लिए कल्पित कल्पना (hypothetical) का निर्णय उचित है।

जब हम उनके सम्बन्धों द्वारा वस्तुओंकी व्याख्या करते चले जाते हैं तब हम व्याख्या की श्रेणियों पर पहुंच जाते हैं, इनका अन्त तभी हो सकता है जब सारे विश्वकी व्याख्या कर दी जाय। जब हम परिवर्तनोंकी व्याख्या करते हैं तो हम संसार-प्रणाली (world process) को पृथक् करते हैं, जो स्वयं पृथक् नहीं है। जैसा कि मैश (Mach) ने कहा है, 'प्रकृतिमें कोई कारण या कार्य नहीं होता है। इसका एक व्यक्तिगत अस्तित्व है; प्रकृति है। प्रकृतिका अर्थ विश्व है, जो किसीके सम्बन्धमें स्पष्ट नहीं किया जा सकता, क्योंकि और कोई चीज़ है ही नहीं। इस प्रकार हम विज्ञानकी अवस्थासे दर्शनकी अवस्था को और नियमकी अवस्थासे पद्धतिकी अवस्थाको पहुंच जाते हैं। पद्धतिके रूपमें विश्व को एक सम्पूर्ण मानना चाहिए, जिसमें परिवर्तन अपनी निजी क्रियाओंके कारण होते हैं, परन्तु आत्मोत्पन्न (self-originating) क्रिया तो केवल विचार और इच्छाकी ही है। अतः हम विश्वकी व्याख्याके लिए सर्वशक्तिमान्‌की विवेकमय क्रियाकी ओर ही देखें। हम घड़ीके उदाहरणसे पद्धतिको समझ सकते हैं। घड़ीके पुर्ज़े तभी काम करते हैं जब उनको एक विशेष क्रमसे लगाया जाता है, अतः घड़ी पुर्ज़ोंका एक समूह नहीं है। इसके पुर्ज़ोंका एक-दूसरेसे एक निश्चित सम्बन्ध होना चाहिए। प्रत्येक अंगका अर्थ इसके सम्बन्धों पर आश्रित है। इस प्रकार इसके एकसे दूसरे पुर्ज़ोंके सम्बन्ध-ज्ञानके द्वारा हम यह समझ सकेंगे कि यह पुर्ज़ा किस तरह काम करता है, या दूसरे शब्दोंमें इसका कार्य समझ में आ जायगा। इसी प्रकारकी व्याख्या नियमकी अवस्थाके लिए ठीक है। यह काम क्यों किया जाता है, इस प्रश्नका उत्तर तभी दिया जा सकता है जब हम सारी क्रियाके अस्तित्व

का प्रयोजन जानें। यह व्याख्या-पद्धतिकी अवस्थाके लिए ठीक है। हम पद्धतिको स्पष्ट इसलिए नहीं कर सकते कि हम इसके होनेका कारण नहीं जानते। परन्तु दर्शन सारे विज्ञानोंको एक समूहमें लानेका प्रयास करता है, और एक-एकको सम्पूर्णके सम्बन्धमें स्पष्ट करनेकी चेष्टा करता है।

. यह क्रम—वस्तु, नियम, पद्धति——व्यक्तिके मस्तिष्क तथा जातिके इतिहासमें ज्ञान के विकासका आकार बता देता है। "व्यक्तिके मस्तिष्कमें सच्चा ज्ञान एक पद्धति है, जिसके चेतनायुक्त अंग एक-दूसरेसे सम्बद्ध होते हैं। आदर्श ज्ञान एक सम्पूर्ण ऐकिक पद्धति है, जो इस पद्धतिके योग्य नहीं है। वह वास्तवमें ज्ञान नहीं है। आदर्श तो यह है कि व्यक्तिगत बुद्धिकी सम्पूर्ण क्रियाशीलता एक पद्धतिमें परिणत हो, परन्तु वास्तवमें यह कम या अधिक अनुरूप पद्धतियोंकी ओर अग्रसर करती है।" इस प्रकार ज्ञान-पद्धति के द्वारा अपना चक्र चालू रखता है, हम यह सिद्ध करनेका प्रयास करेंगे। हम कह चुके हैं कि ज्ञान हमारे वास्तविक संसारकी चीज है। हम अपने इन्द्रिय प्रत्यक्षोंके द्वारा हर क्षण इस दुनियांके सम्पर्कमें आते रहते हैं। हम जानते हैं कि जो कुछ हम देखते हैं वह हमारी इच्छाओंके परे है। हम सुनते हैं और इस सुननेको हम रोक नहीं सकते। अतः हमें चारों ओरसे वास्तविकता परवश किये रहती है और यह इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होती है। हमें प्रभाव केवल मिलते ही नहीं वरन् हम अपनी स्मृति द्वारा उन्हें पुनर्जीवित भी कर लेते हैं। इस प्रकार हमारे भूतकालके अनुभव भी वास्तविक हो जाते हैं। परन्तु न तो वर्तमान इन्द्रिय अनुभव और न भूतकालकी स्मृति हमें ज्ञान देती है, वरन् ज्ञानकी सामग्री देती है। संवेदनमें भी जो कुछ इन्द्रियोंको मिलता है वह विचारके द्वारा समझा जाता है। जैसे जो हम 'देखते हैं' वह तो पीला गोल है, परन्तु हम इसको 'नीबू' जानते हैं। इन्द्रिय-अनुभव, स्मृति-अनुभव आदिमें जो कुछ भी हमें मिलता है उसे विचारके द्वारा समझते हैं। एक दूसरी विधिसे भी विचार उत्पादक (productive) हो सकता है। यह अनुमानमें देखा जाता है। और फिर हमारे इन्द्रिय-अनुभवके छिद्र विचारके द्वारा भरे जाते हैं। मैं देखता हूं कि एक घर खड़ा है, चला जाता हूं लौटकर भी देखता हूं कि यह खड़ा है, तो जान लेता हूं कि मेरे पीछेसे भी यह ऐसा ही खड़ा होगा। यह इन्द्रियोंसे बिल्कुल अलग, केवल विचारके ही द्वारा मैं जान लेता हूं। इस प्रकार सब ज्ञान में अन्तिम तथ्य विचार ही है। प्रत्येक उदाहरणमें विचारके द्वारा इन्द्रिय प्रभाव समझाए जाते हैं, तब उसके अर्थ निकलते हैं, और अर्थके बिना वह ज्ञानमें प्रवेश नहीं कर सकते। यह अर्थ यही है कि वर्तमान अनुभवका भूतकालके अनुभवसे एकीकरण करना, पुरानेके

साथ नयेको लाना और संकुचितको उदारके अन्तर्गत करना। इसका अर्थ यह हुआ कि सत्यकी परीक्षा अन्य ज्ञानके साथ अनुकूलतामें है। इसीलिए हम कहते हैं कि ज्ञान वह **पद्धति** है जो अपने ही अन्दर उचित प्रबन्ध बनाये हुए है और इसी दृष्टिसे हम दुनियांको मानसिक सृष्टि कहते हैं। प्रत्येक व्यक्तिका वास्तविकता-सम्बन्धी विचार उसके विचारों द्वारा सार्थक होकर उसे मिलता है। इसी कारण व्यक्तिके मस्तिष्कके ज्ञानको हम पद्धति कहते हैं।

क एक संवेदन है

ख एक ऐसा संवेदन है जिसकी व्याख्या क ने की है

ग ,, ,, ,, ,, क + ख ने की है

घ ,, ,, ,, ,, क + ख + ग ने की है

ङ ,, ,, ,, ,, क + ख + ग + घ ने की है।

इस प्रकार प्रत्येक ज्ञान एक-दूसरेके साथ संयुक्त और एकीकृत होता है। हम पद्धति को दिखानेके लिए एक ठोस उदाहरण लेंगे। प्रत्येक मस्तिष्कमें ज्ञानका समान विकास होता है, जब तक कि ज्ञानमें कुछ सार्वलौकिक विशेषताएं होती हैं। दो व्यक्ति क और ख मिलते तथा उनमें बातचीत होती है। क, 'तुम बम्बईके विषयमें जानते हो ?' ख, 'अवश्य, मैं बहुत अच्छी तरह जानता हूं. वहां मैंने एक पूरी गर्मी बिताई है।' और फिर ख उसके स्टेशन, बाजार, समुद्र तट आदिका वर्णन करता है। क, 'इससे ज्ञात होता है कि तुम बम्बई जानते हो, परन्तु तुम कलकत्ताके विषयमें भी जानते हो क्या ?' ख, 'नहीं, मैं वहां कभी नहीं रहा। एक बार कुछ समयके लिए रुका था। परन्तु मैंने इसके विषयमें पढ़ा है।' क, 'तो तुम्हें इसके विषयमें भी कुछ ज्ञान है। ख,' 'यदि तुम इसे ज्ञान कहते हो, तो अवश्य मुझे इसका ज्ञान है।' इन दो नगरोंके सम्बन्धमें ख के मस्तिष्ककी विवेचना करनेसे निम्न बातें निकलती हैं—(१) इन दो स्थानोंके सम्बन्धमें उसके ज्ञानके मौलिक उद्गम व्यक्तिगत निरीक्षण पर आश्रित हैं, देखना, सुनना, स्पर्श करना, सूंघना, स्वाद लेना आदि। दूसरा स्थान कलकत्ता उसने नहीं देखा, पर वह 'जानता' है। इन्द्रिय प्रत्यक्षों पर आश्रित उसके पास बहुतसे विचार हैं, जिससे वह जो कुछ उसने पढ़ा या दूसरोंसे सुना है उसकी व्याख्या कर सकता है। इससे यह पता चलता है कि सारा ज्ञान इन्द्रियोंसे प्रारम्भ होता है। (२) इन्द्रिय प्रत्यक्षोंकी प्रारम्भिक क्रियाएं पृथक्-पृथक् थीं, परन्तु मस्तिष्कने उनको सम्बद्ध किया। उसने केवल स्टेशन और बाजार देखा था। विचारके द्वारा इनका समूह बना। अतः हम यह कहनेमें न्याययुक्त हैं कि ज्ञानके अन्दर

विचारोंके समूहोंमें तुलना, और सम्बन्धोंका एकीकरण होता है। बम्बईके विषयमें सोचना एक बड़ी सरल बात मालूम होती है, परन्तु बम्बईका विचार बहुत जटिल है, क्योंकि इसमें अनेक प्रभाव हैं, कुछ स्वयं प्राप्त किए, कुछ बातचीतसे, पढ़नेसे, यहां-वहां, ऐसी विधि जो कई वर्षके दायरेमें फैली हुई है। कोई भी विचार पृथक् नहीं है, वरन् दूसरोंसे मिला हुआ है और जटिल विचार बना रहा है। (३) ज्ञान केवल व्यक्तिगत वस्तुओंका ही नहीं होता वरन् वस्तुओंकी जाति, प्रकार और गुणोंका होता है। बम्बई एक बन्दरगाह है, स्थानकी जातिमें है। बन्दरगाह-सम्बन्धी जानकारीसे मैं कहता हूं कि इनके सम्बन्धमें मेरा एक अस्थूल (abstract) विचार है, जिसमें कुछ सामान्य गुण हैं। कलकत्ता सम्बन्धी मेरा अधिकतर ज्ञान इसी विचार पर आश्रित है। कदाचित् मेरा करांची, रंगून, मद्रास सम्बन्धी ज्ञान इस विचारके परे नहीं जाता। यह दूसरे प्रकारका ज्ञान है, जिसमें गुणोंका एकीकरण करके एक अलग सम्पूर्ण बनाता है। इसका बाह्य प्रदर्शन 'भाषा' है। इस प्रकार ज्ञानके बहुतसे रूप होते हैं—प्रत्यक्षीकरण, प्रत्यय, निर्णय। (४) सब ज्ञानमें एक ज्ञाता-सम्बन्धी रूप भी होता है। ख को रातको सवारी न मिलनेके दुखद अनुभवके कारण कलकत्ता न पसन्द हो, या नैनीतालमें झील पर सुखद समय व्यतीत करनेके कारण वह उसे पसन्द हो। 'यह नगर (Bristol) मेरे मनके अनुसार है। इसमें सब बातें मेरे पक्षमें हैं। मेरा जुकाम अच्छा हो गया, अतः मुझे प्रसन्नता है। (अभी कुछ छींक आ जाय तो यही बुरा लगने लगे) मैं अपनी यात्राके प्रारम्भमें हूं अतः थका नहीं हूं, कदाचित् इसी कारणसे मैं इस स्थानकी प्रशंसा कर रहा हूं।' (Priestley–English Journey P. 27) (५) जिस प्रयोगमें ज्ञान लाया गया है उस दृष्टिमें यह भिन्नता बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है। एक व्यक्ति बम्बईका प्रयोग व्यापारके लिए करता है, दूसरा कलाके लिए, तीसरा आनन्दके लिए। इस प्रकार एक ज्ञान दूसरे ज्ञानकी प्राप्तिके लिए प्रयोगमें लाया जाता है, या प्रायोगिक सेवाके लिए, तात्कालिक हो अथवा दूरवर्ती। यह गुण ज्ञान को दृढ़ करते हैं। यदि इसका सम्बन्ध दूसरी वस्तुओंसे भरपूर हो, यदि यह विकसित होते हुए विचारोंका छिद्र भर दे, यदि यह लाभप्रद हो, यदि यह सन्तोषकारी हो, तब यह दृढ़ हो जाता है।

१४

ज्ञान और भाषा

अब हम सारांशमें दोहरा लें कि प्रत्यय कैसे बनते हैं। यह वह प्रणाली है जिसके द्वारा हम विशेषको जातिके रूपमें सोचने लगते हैं। हमारा एक या उससे अधिक कुत्तोंका अनुभव कुत्तेके विषयमें विचार बनाता है, जो किसी एक विशेष कुत्तेके विषयमें नहीं होता, वरन् सब कुत्तोंसे सम्बन्ध रखता है, क्योंकि इसमें सब कुत्तोंके सामान्य गुणोंका समावेश होता है। इस प्रकार कुत्ता-सम्बन्धी भाव (notion) एक विचार है जिसमें कुत्तोंकी विभिन्नताएं हटा दी गई हैं, केवल समानता ही देखी गई और एकीकृत हुई हैं। यह प्रतिमा नहीं है। जब हम कुत्ता शब्द कहते हैं तो एक प्रतिमा बन सकती है, परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि हमारा विचार इस प्रतिमाके समान ही हो। अतः इसके पहले कि इस पर किसी शक्तिने काम किया हो हम एक पदार्थकी प्रतिमा बना सकते हैं। हम शक्तिके विषयमें सोच सकते, परन्तु इसकी प्रतिमा नहीं बना सकते। अतः 'विचार' होनेके लिए वास्तवमें या मानसिक प्रतिमाके रूपमें देखना ही नहीं वरन् इसके विषयमें सोचना है। अतः विचार केवल एक मानसिक सृष्टि है और मस्तिष्कमें विचारोंके रूपमें ही वास्तविकताका ग्रहण होता है।

हम जानते हैं कि ज्ञान अनुभवका अर्थ निकालने और ठीकसे समझनेमें ही है। 'इन्द्रिय-अनुभव' ज्ञान नहीं हो सकता; यद्यपि यह हमें वह कच्चा माल देता है जिससे ज्ञान निकल सकता है। प्रत्यक्षीकरण स्वयं ज्ञान नहीं है, क्योंकि ज्ञानके अन्दर विशेषोंको सामान्य बनाना और उनमें सामान्य अर्थ लाना सम्मिलित है। जो हमने कहा है उसका अर्थ केवल वर्तमान अनुभवोंका भूतकालके अनुभवोंसे एकीकरण और नयेको पुरानेके

अन्तर्गत लाना है। अभी हमने देखा कि हमारे पूर्वानुभव मस्तिष्कमें विचारके रूपमें एकत्रित रहते हैं। अतः समझनेका अर्थ यह है कि नये अनुभवको उस विचार या विचारों के अन्तर्गत लाना जो मस्तिष्कमें उपस्थित हैं।

यह 'विचार', जो ज्ञानके विकासके लिए बहुत विशेषता रखते हैं, किसी चिह्नसे प्रदर्शित किये जा सकते हैं। चिह्नोंकी ऐसी ही एक प्रणाली भाषा है। इस प्रकारकी चिह्न-प्रणालीका दोहरा प्रभाव है। यह विचार-भावनाको बढ़ाती और सन्देश देने-लेनेमें सहायक होती है। जितनी ही सरलतासे यह विचार एक-दूसरेसे सम्बन्धित होता उतनी ही सरलता विचारको हो जाती है। चिह्न-प्रणाली निश्चित हो जाने पर सन्देश सम्भव हो जाता है, क्योंकि वास्तविकताके निर्देश (reference) की मर्यादा निश्चित हो जाती है। भाषा और विचार सम्बन्धोंके लिए तीन प्रकार विचार प्रस्तुत किये गये हैं। मैक्सम्यूलर ने कहा कि यह दोनों एक ही हैं। गॉल्टन ने कहा कि दोनों स्वतंत्र हैं, भाषा विचारकी पोशाक है, और भाषा विचार नहीं है पर विचार तथा संचार (communication) के लिए आवश्यक है। यदि हम आंख बन्द करके युद्धके परिणामोंको खूब कल्पना के साथ, जैसे जहाज़ोंसे बम्ब गिराना, बढ़ती हुई फ़ौजें आदि, सोचने लगें तो हमारे मस्तिष्कमें आनेवाले शब्दोंकी हमें चेतना है, जैसे फ़ौजमें ज़बर्दस्ती भरती किये जाना, युद्धके बुरे परिणाम आदि। यह शब्द अन्दर मनमें ही बोले, देखे और सुने जा सकते हैं। परन्तु यहां भाषामें संकेत, चित्र, गति, दृष्टि-प्रतिमाएं, उंगलियोंकी गति आदि सम्मिलित हैं। चिह्नोंकी सब प्रणालियोंमें बोलनेकी भाषा सर्वोत्तम है, जैसे बादलसे वर्षाका अर्थ प्रगट होता है, पद-चिह्नसे खेल या शत्रु, बाहर निकलती हुई चट्टानसे खान आदि। परन्तु इन उदाहरणोंमें (१) शारीरिक अस्तित्व अस्थूल (abstract) अर्थकी ओरसे ध्यान हटा देता है, अर्थात् हम चिह्नोंको उसके अर्थके बदले उसी रूपमें समझ लेते हैं। यह एक साधारण अनुभव है कि यदि आप कुत्तेको अपनी उंगलीसे कुछ प्रदर्शित करते हैं तो वह उस वस्तु की ओर न देखकर आपकी उंगलीकी ही ओर देखता है। (२) प्राकृतिक चिह्नोंका उत्पादन शब्दोंकी भांति सरल नहीं है। (३) वह चिह्न भारी, बड़े और कष्टकारक हैं। संकेतोंमें कुछ हानि भी है। जैसे कुछ असभ्य, जिनकी भाषा कम विकसित है, बहुत-सा काम संकेतके द्वारा करते हैं। अतः अन्धकारमें वह एक-दूसरेको संकेत नहीं कर सकते। संकेतमें दृष्टि प्रतिमाओंकी भांति यह दोष है कि वह बाह्य और दिखने वाले गुण ही प्रदर्शित कर सकते हैं, और यह गुण प्रायः बहुत विशेषता नहीं रखते। संकेत अपने निर्देश में प्रायः सन्देहात्मक भी होते हैं, जैसे हाथोंका फड़फड़ाना, चिड़िया और उड़ना दोनोंका

द्योतक होता है। इन्द्रिय प्रत्यक्षीकरणकी अवस्थामें भी सांकेतिक भाषाके साथ विचारका विकास कम होता है।

भाषा बहुतसे इन दोषोंसे मुक्त है। यह सरलतासे उत्पन्न हो सकती है। यह संचार के माध्यमकी भांति प्रयुक्त हो सकती है, प्रकाश और अन्धकारमें तथा व्यक्ति थोड़ी दूर हो तब भी। कृत्रिमताके कारण भाषाके संकेत बहुत उच्च अस्थूल अर्थ भी रख सकते हैं। यह ठोस होते हैं। शब्दोंकी इस प्रणालीकी उपयोगिता लिखनेके अन्वेषणके कारण असीम बढ़ गई है। वर्त्तमान और भूतकालके मस्तिष्कोंसे भी सम्पर्क हो जाता है। लिखने के ही द्वारा व्यक्तिका ज्ञान जातिके ज्ञानमें सहयोग देता है और शुद्ध भी किया जाता रहता है। व्यक्तिगत अनुभव बदलते रहते हैं और विभिन्न व्यक्तियोंके अनुभवोंकी तुलना करनेसे सत्यका पता चलता है। यह लिखित भाषाके ही द्वारा सम्भव है। एक बोलने का चिह्न, (१) अस्पष्टतामेंसे चुनकर अर्थ निकाल लेता है। जो अर्थ अस्पष्ट और कपटी होते हैं, नाम दिये जाने पर निश्चित और स्थिर हो जाते हैं। इस प्रकार हमारे चारों ओर की वस्तुएं नाम दिये जाने पर संकेतयुक्त हो जाती हैं और उनके अर्थ निश्चित हो जाते हैं। इन नामोंको बालक तुतलाकर सीख लेते हैं और फिर वह शब्द उनके लिए ठोस व्यक्ति बन जाते हैं। भाववाचक प्रत्यय जैसे अच्छाई, सुन्दरता, न्याय आदि उनमें इस प्रकार स्थानीय अस्तित्व पा लेते हैं। (२) एक चिह्न एक अर्थ रखता है। परन्तु भाषाके चिह्नके द्वारा निश्चत अर्थ भविष्यके प्रयोगके लिए भी रक्षित हो जाता है। इस प्रकार जो लुप्त हो गई है, वह भी हम जानते हैं। (३) चिह्न एक निर्देशसे दूसरेमें ले जाया जा सकता है और न्याय तथा संदर्भ (context) अनुमानके लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। जैसे स्पीयरमैन कहता है कि जैसे गले हुए सुवर्णको सिक्कोंके सांचोंमें डाला जाता है तो उसमें से वे क़ानूनी सिक्के होकर निकलते हैं, उसी प्रकार भाषा हमारे प्रयत्नोंको ढालती है और वह बहुतसे प्रयोगोंमें आ सकते हैं। अतः भाषा विचारका अस्त्र बन जाती है।

भाषा शिक्षाको सम्भव बनाती है। यद्यपि बालकका फूल-सम्बन्धी ज्ञान इतना सम्पूर्ण नहीं है जितना कि एक वैज्ञानिकका, और चूंकि दोनों एक ही वास्तविकताकी ओर निर्देश करते हैं अतः वैज्ञानिक बालकको सिखा सकता है। वैज्ञानिक यह ऐसे शब्दोंके प्रयोग से करता है जिससे मस्तिष्कमें निश्चित विचार आ जाते हैं। इसी भांति बालकको वास्तविकताके उन भागोंको सिखाना भी सम्भव है जिनका उसने कभी अनुभव नहीं किया। जैसे, हम उसे शब्दोंके माध्यमके द्वारा पारे के विषयमें समझा सकते हैं। चाहे उसने इस धातुको कभी न देखा हो हम कह सकते हैं कि यह कांसीकी भांति चमक-

दार, पानीकी तरह द्रव, सीसेसे भी भारी और चांदीकी भांति प्रतिबिम्बित होता है। इन विचारोंको संकलित करके वह पारे का एक विचार बना सकता है, जो लगभग ठीक होगा। यह ज्ञान अन्तमें साक्षात् ज्ञान पर आश्रित होता है। अतः यह आवश्यक है कि बालकोंके विचार पहले वस्तुओंसे साक्षात् सम्पर्कसे प्राप्त किये जायं। यह भाषा पर उस सम्पूर्ण शासनकी नींव है जिसके बिना सब मानसिक कार्य असम्भव हैं।

विचार और भाषाका संचार उसी प्रकारके विचारोंके अस्तित्व पर आश्रित होता है। इसका अर्थ यह है कि विचार उसी वास्तविकताको निर्दिष्ट करें, और वही अर्थ दें। विभिन्न व्यक्तियोंके विभिन्न विचार होते हैं, क्योंकि वह विभिन्न अनुभवोंसे उत्पन्न होते हैं। यह अर्थ कैसे प्रारम्भ हो जाते हैं यह एक रहस्य है। बालकका मस्तिष्क एक बड़ा भनभनाता हुआ गड़बड़झाला है। नये वातावरणमें वयस्कका भी यही हाल होता है। वह नये घरमें बिल्लीके समान है। जैसे एक अजनबीके लिए भेड़के समूहमें सब भेड़ एक-सी हैं, परन्तु गड़रियेके लिए वह सब व्यक्तिगत हैं, अर्थात् उसके लिए प्रत्येक अलग अर्थ रखती है। इसी प्रकार जिस दुनियांमें हम रहते हैं, वह हमारे लिए सार्थक होती है। प्रारम्भमें क्रियाओं द्वारा अर्थ प्राप्त किये जाते हैं। लुढ़कानेसे गोलाईके गुणका पता चलता है। इसी प्रकार की प्रतिक्रियाओंसे गुणोंका पता लगता है। इस प्रकार प्रत्यय-निर्माण होते रहते हैं, जब तक कि विचारोंको एक शब्द नहीं दे दिया जाता। प्रत्येक व्यक्तिके उस शब्द-सम्बन्धी अनुभवकी मात्रा पर उसका अर्थ आश्रित रहता है। यदि भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न अर्थ लगाते हैं तो यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। दूसरे सन्दर्भसे भी अर्थ निश्चित किया जाता है। हम पहले ही कह चुके हैं कि भाषा का प्रारम्भ पृथक् शब्दोंमें नहीं, वाणीमें मिलना चाहिए। मनुष्य जाति पहले बोली और फिर यह समझी कि उसने क्या कहा है। वाणीकी आवश्यकता प्रयोगके लिए होती है, अतः अपने लक्ष्यको प्रभावित करनेके लिए यह पृथक् शब्दोंमें नहीं, पूर्ण वाक्योंमें होनी चाहिए। यह कार्यरूपमें अवश्य परिणत हो, यानि कार्य हो गया तो वाणीका प्रयोजन सिद्ध हो गया। अतः वाक्य अनुभवकी इकाई है, जैसे वाक्य "यह स्थान पानीसे भरा है", अनुभव का एक अविभाजित तथ्य प्रदर्शित करता है। यदि हम एक अकेला शब्द प्रयुक्त करते हैं, तो या तो हम इसे संक्षिप्त वाक्य समझते हैं, या हम इसके ठीक अर्थ नहीं समझ पाते। इससे यह पता चलता है कि शब्दोंके अर्थ कुछ अंश तक सन्दर्भसे निश्चित होते हैं। जैसे शब्द 'प्रतिभावान्' सूर्य और बालकके सम्बन्धमें भिन्न अर्थ रखता है। वाक्य भी अलग नहीं रह सकते। उनके अर्थ उन प्रकरणोंसे निश्चित किये जाते हैं, जिनके

वर्णनमें उनका प्रयोग किया गया है। यही कारण है कि एक शब्दके कई अर्थ होन पर भी कोई गड़बड़ी नहीं होती। जैसे सारंग शब्दका अर्थ मयूर और सांप दोनों होता है, परन्तु हम दोनोंमें गड़बड़ी नहीं करते। प्रत्येक शब्दके विशेष अर्थ होते हैं, जो सन्दर्भके अनुसार बदलते रहते हैं। फिर भी इन सब बहुतसे अर्थोंमें कोई मौलिक विभिन्नता नहीं है, और बहुत कुछ साधारण है। यह साधारण तत्त्व जो विभिन्न तत्त्वोंमें सम्बन्ध-शृंखला बनाता है उसे सामान्य अर्थ कहते हैं, और जब स्पष्टतः कहा जाता है तब उसे शब्दकी परिभाषा कहते हैं। अतः सामान्य अर्थ जान लेनेसे ही इस बातका निश्चय नहीं हो जाता कि हम विशेष सन्दर्भमें शब्दोंका ठीक प्रयोग करेंगे। यही कारण है कि आजकलके शिक्षा-सिद्धान्तके अनुसार शब्दोंकी परिभाषा सीख लेना अच्छा नहीं समझा जाता। उनके प्रयोग पर अधिक ज़ोर दिया जाता है।

अर्थोंमें लचक होना बहुत लाभदायक है, इससे हम विचारकी बारीकियोंको सीमित शब्दावलीके द्वारा भी प्रदर्शित कर सकते हैं। परन्तु इसके दोष भी हैं, उसमें विशेष इसकी सन्दिग्ध अवस्था है। यह सन्दिग्ध अवस्था दो प्रकारकी हो सकती है, एक तो विशेष शब्द के अर्थमें सन्देह और दूसरे किसी वाक्यका अशुद्ध निर्माण होना। शब्दके अर्थमें अनिश्चय इसलिए होता है कि समयकी गतिके अनुसार अर्थ बदलता रहता है। छापेखानोंके चालू होने से यह बात बहुत कम हो गई है। परन्तु सन्दिग्ध अवस्था विशेषकर इस अनिश्चयके कारण होती है कि बहुतसे चालू अर्थोंमें से सन्दर्भ किसे ग्रहण करेगा। शब्दोंके विशेष (technical) प्रयोगके कारण इस प्रकारकी गड़बड़ीकी सम्भावना और भी बढ़ जाती है। शब्दोंके अर्थ-सम्बन्धी मिथ्याबोध वाक्योंके अशुद्ध निर्माणके कारण होते हैं। भाषामें दूसरा दोष यह है कि यह व्यक्तिगत खोज को रोकती है। हमने पहले कृतनिर्णयके विषय में बताया है। प्रत्येक पीढ़ी इस प्रकारके निर्णयोंको ग्रहण कर लेती है। दूसरोंके विचार हमारे विचार बन जाते हैं। अपनी निजी खोज पर आश्रित होने के बदले अधिकारी (authority) का आदेश मानते हैं। इस दोषका कारण हमारे अर्थ-निर्माणकी विधि है। हम कह चुके हैं कि अर्थ अनुभवसे निकलते हैं। शब्द इन अनुभवोंको प्रदर्शित करते और जो कुछ वह संकेत करते हैं उसी गुणके कारण वह चिह्न (symbols) होते हैं। चतुर व्यक्तिके लिए शब्द गिनने के सिक्के के समान और मूर्खोंके लिए रुपया हैं। कल्पित और पकड़ के शब्दों (catchwords) को दूसरेसे ले लेना उसका वास्तविक तात्पर्य जानना नहीं कहलाता। यही कारण है कि सभी कालके शिक्षा-वैज्ञानिकों ने शब्दोंके पहले वस्तुओंके विषयमें कहा है। दूसरा दोष यह है कि चूंकि भाषा विचारके लिए आवश्यक है और इसने

अपना कार्य इतनी अच्छी तरह किया है कि इसने सोचनेको बिलकुल बन्द कर दिया है। अर्थ सोचनेके लिए शब्द एक अस्त्र होता है परन्तु हम शब्दोंको गिननेके सिक्कों (counters) और संकेतके रूपमें प्राय: प्रयोग करते हैं, अत: अब वह चिह्नोंके स्थानापन्न हो गये हैं और उनके अर्थके विषयमें सोचनेको रोकते हैं। बालककी धारणा विचारशील होनेके स्थान पर यांत्रिक हो जाती है। यही 'शब्द-प्रयोग' (verbalism) का डर है और इसीलिए यह कहावत बनी है कि शब्द विचारोंको प्रकाशित करने के बदले छिपाते हैं। अब यह देखना है कि शब्द भिन्न व्यक्तियोंके साथ भिन्न अर्थ सूचित करते हैं। इससे अध्यापकके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि जो कुछ वह कहता है बालक उसके ठीक वही अर्थ समझें, जो उसका तात्पर्य है। यह प्रश्नोत्तरके द्वारा पता लगाया जा सकता है। यदि वह इस बात की परवाह नहीं करता तो बालकोंके मस्तिष्कमें भ्रम बना रहेगा। उनका वस्तु-सम्बन्धी विचार शब्दार्थके समान न होगा। इस प्रकार शाब्दिक मिथ्याबोधके लिए स्थान रहता है। अध्यापकके भाषा-सम्बन्धी तीन कर्त्तव्य हैं—(१) बालककी शब्दावली बढ़ाना। प्रत्येककी शब्दावली तीन प्रकारकी होती है–पढ़ने, बोलने और लिखनेकी। पहले में दूसरे से अधिक शब्द होते हैं और तीसरे से दूसरेमें अधिक। शब्द पहलेमें से छनकर दूसरे और तीसरेमें पहुंच जाते हैं। व्यक्तिकी शब्दावली मनुष्य, वस्तु और पुस्तकोंके सम्पर्कसे बढ़ जाती है। सीमित शब्दावलीमें विचारकी शिथिलता का दोष आ जाता है। इस प्रकारका व्यक्ति स्पष्ट निर्णयसे परांगमुख रहता है। वह भिन्नताओंको नहीं जानता और प्राय: कहता है, 'उसे क्या कहते हैं', 'देखो वह चीज' आदि। बालककी शब्दावली की वृद्धिके लिए उसके वातावरणके विस्तारकी आवश्यकता होती है, क्योंकि भाषाके ऊपर क्रियाशील शासन बालककी क्रियाओंके विस्तारके ऊपर आश्रित है। (२) अध्यापक शुद्ध शब्दावली का निर्माण कराये। हम कह चुके हैं कि शब्दोंके विशेष और सामान्य अर्थ होते हैं। वह जैसे जैसे विशेष सन्दर्भोंमें प्रयुक्त होते रहते हैं, अपने अर्थ बदलते रहते हैं। अध्यापक इन अन्तरों को सरल बनाकर इस प्रकारकी गड़बड़ी को रोके। वह एकके बाद दूसरेका उदाहरण दे। जैसे संसारमें चल और अचल दो प्रकारकी वस्तुएं होती हैं। 'वातावरण कैसा अचल-सा हो रहा है', 'पर्वतको अचल भी कहते हैं' आदि। इस प्रकार एकसे दूसरे अर्थका विकास बताया जा सकता है। (३) अध्यापक अपने शिष्यों को क्रमबद्ध वार्तालापमें शिक्षण दे। इसीसे वह अर्थ समझ सकते हैं, क्योंकि यह कुछ अंश तक सन्दर्भ पर आश्रित रहता है। यही कारण है कि हम पूर्ण वाक्योंमें उत्तर लें। क्रमबद्ध वार्ताका न्याययुक्त होना भी इसी कारण पर आश्रित है। अध्यापक इसको इस प्रकार कर सकता है कि बातचीतका सारा

ठेका अध्यापक ही न ले ले। बालकोंसे बारीकीके प्रश्न न करे, उनको काम का बहुत छोटा भाग न दे, जिसमें एक विचार भी सम्पूर्ण न हो और ग़लतियां सुधारनेके लिए उनको बोलनेके बीचमें न टोके।

१५

परिभाषा, वर्गीकरण और व्याख्या

ज्ञानका अन्तिम उद्देश्य मनुष्य-जातिके अनुभवोंकी व्याख्या करना है। जानना व्याख्या कर सकना है। आदर्श व्याख्या वह होगी जो विश्वप्रणालीमें प्रत्येक वस्तु और स्थानका कार्य बतायगी। इसके अन्तर्गत व्याख्या की जानेवाली वस्तुकी प्रकृति, परिभाषा, दूसरी वस्तुओंसे सम्बन्ध और वर्गीकरण आता है। हमारी व्याख्या एक पद्धतिके अन्दर सीमित है, अतः परिभाषासे 'तथ्य अवस्था' (Fact stage) का अर्थ निकलता है, और वर्गीकरणसे 'विधि अवस्था, (Law stage) का। प्रारम्भिक कालसे ही, मौलिक प्रकार के वर्गीकरण और परिभाषा थे। वस्तुओंके नाम थे, इस बातसे पता चलता है कि उनको समूहमें एकत्रित कर लिया गया था, अर्थात् नामके अन्दर वर्गीकरण सम्मिलित है। इस प्रकारके सामान्य नामोंसे पता चलता है कि समूहमें लानेके लिए साधारण गुणोंका ध्यान रखा गया, और नामसे मालूम होता है कि उसमें साधारण गुण थे। अर्थात् मौलिक (rudimentary) वर्गीकरणके साथ मौलिक परिभाषा भी थी, क्योंकि परिभाषा वर्गीकरणको निश्चित करनेवाले साधारण गुणोंका एक स्पष्ट कथन (statement) है।

सामान्य अर्थका स्पष्टीकरण ही परिभाषा है, परन्तु इसमें सब साधारण गुण नहीं आते। क्योंकि परिभाषा बहुत संक्षिप्त होती है और वह साधारण गुण, जिसको यह बताती है, प्रायः लक्षण (properties) के रूपमें होते हैं अर्थात् दूसरे गुणोंसे उनकी व्युत्पत्ति (derivation) हो सकती है, जैसे, एक समकोण त्रिभुज एक अर्द्धवृत्तके अन्दर खिंच (inscribe) सकता है, और इसके कर्णका वर्ग दूसरी दो भुजाओंके वर्गोंके जोड़

के बराबर होता है। यह दो गुणोंकी समकोण त्रिभुजसे व्युत्पत्ति हो सकती है। अतः इनको परिभाषामें सम्मिलित करना आवश्यक नहीं है। परिभाषामें घटनावश आए गुण भी नहीं रखे जाते। यह गुण अनेक हो सकते हैं, परन्तु आवश्यक नहीं होते। जैसे कुछ हंस काले होते हैं। उनको अन्य हंसोंसे अलग करनेकी नहीं, और न परिभाषामें रँग बतानेकी आवश्यकता है। कुछ उदाहरणोंमें लक्षणोंका चुनाव स्वेच्छाचारितासे किया जाता है, जैसे समत्रिबाहु त्रिभुज समानकोणिक भी होते हैं, अतः यह हमारे ऊपर है कि हम भुजाओंकी बराबरी पर ज़ोर दें या कोणोंकी। इस प्रकार स्वेच्छाचारितासे चुने अर्थोंका समूह शब्द का अनुमान (connotation) कहलाता है। इसमें उन गुणोंका वर्णन होता है जो हमारे प्रयोजनके लिए विशेषता रखते हों। अतः विशेषता किसी सिद्धान्तसे सम्बन्ध रखने वाली है। इससे पता चलता है कि बढ़ते हुए ज्ञान, या नए सिद्धान्तके साथ गुणोंकी विशेषताका क्रम बदलने से परिभाषा भी बदल सकती है। यही परिणामवाद (doctrine of evolution) के निर्माणके बाद हुआ। अतः परिभाषाके सम्बन्धमें कोई अन्तिम स्थिति नहीं है।

परिभाषा अर्थ बतानेकी एक विधि है। यह सबसे शुद्ध और विद्वानोंके अनुसार विशेष विधि है। साधारण जीवनमें वस्तुओंकी बहुत ठीक परिभाषा नहीं की जाती। उदाहरणस्वरूप शब्द सन्दर्भके साथ अर्थ बदल देते हैं, फिर भी हम कह चुके हैं कि इन 'विशेष अर्थों' के अतिरिक्त अनेक अर्थोंका एक साधारण बीज (nucleus) भी होता है, इसको सामान्य अर्थ, और इसके स्पष्ट कथनको परिभाषा कहते हैं। परन्तु परिभाषा उच्चतम कोटिके वैज्ञानिक मस्तिष्ककी पहचान है। साधारण मस्तिष्कमें विशेष वस्तुओं का सम्बन्ध विशेष उदाहरणोंसे होता है, या जिसे उपलक्षण (denotation) कहते हैं। जब बालकसे पूछा जाता है कि कुत्ता किसे कहते हैं, तो या तो वह कुत्ता दिखलायगा या किसी कुत्तेका नाम लेगा। साधारण कामके लिए शब्द काफ़ी होता है। हम इसके अनुमान (connotation) या साधारण गुणोंके वर्णनको सामने नहीं लाते। यह तभी होता है जब व्यक्ति कोई शब्द भूल जाता है, तब वह अपने मस्तिष्कस्थित अर्थको समझाता है। एक बार साहबकी चायके लिए रखा सब दूध बिल्ली पी गई, अतः नौकर बहुत कम दूध लाया। साहब क्रोधित हुआ। नौकर, डरके कारण बिल्ली शब्द भूल गया और कहने लगा, 'एक पूंछ, चार पैर, म्याऊं, म्याऊं, साहब।' एक प्रोफ़ेसरकी पत्नी नीचे प्रसूतिगृह में थी और वह ऊपर पढ़ रहा था। जब बालक उत्पन्न हो गया, तो नर्सने प्रोफ़ेसरके कमरे में आकर खुशीसे कहा, 'साहब लड़का हुआ है।' साहबने अन्यमनस्क अवस्थामें सिर

उठाकर कहा, 'लड़का क्या होता है?' नर्सको बड़ा दुःख हुआ परन्तु उसने समझानेकी पूरी चेष्टा की, 'एक छोटा आदमी, साहब।' साहबने कहा, 'तुमने लड़का कहा न? उससे कहो कि चला जाय, इस समय मुझे उससे मिलनेकी फुर्सत नहीं है।' बहुतोंको शब्दका प्रयोग-सम्बन्धी अर्थ समझमें आता है। जैसे कुर्सी बैठनेके लिए, पेंसिल लिखनेके लिए आदि। जब तक यह हमारी आवश्यकताओंको पूरा करते हैं, हम अपनी जांच आगे नहीं बढ़ाते, यही कारण है कि हम बहुतसे शब्द समझते हैं, परन्तु उनकी परिभाषा नहीं कर सकते। अपनी कक्षाके बालकोंसे 'नहीं' शब्दकी परिभाषा करनेको कहो। ठीक उत्तर मिलना सम्भव नहीं। कुछ प्राप्त परिभाषा इस प्रकार हैं, 'इसको न करना', 'इनमेंसे कोई नहीं', 'तुम मुझे छुट्टी नहीं दोगे', 'एकसे कम', पिछलेको छोड़कर जो एक छोटे गणितज्ञ का काम है, और सबसे पता चलता है कि वह इसका प्रयोग जानते हैं, परन्तु परिभाषा नहीं कर सकते। इसका कारण यह है कि उन्होंने अपने ज्ञानकी निकटसे कभी सूक्ष्म परीक्षा नहीं की, या यह नहीं जानते कि परिभाषा किसे कहते हैं। इससे यह जानना चाहिए कि परिभाषाका स्थान शिक्षाके बाद है, पहले नहीं। ज्ञानसे परिभाषाकी ओर जाना सरल है, परिभाषासे ज्ञानकी ओर जाना नहीं।

छोटे बच्चे परिभाषा नहीं समझ सकते। यह कल्पनाकी वस्तु है और स्थूलमें से भाववाचकको अलग करनेकी शक्ति पर आश्रित है। उनके लिए काफ़ी सामग्रीका प्रयोग करने पर यह सम्भव हो सकता है। हम कह चुके हैं कि परिभाषा स्वेच्छाचारितासे चुने गुणोंका एकत्रीकरण है। यह एक ऐसा पृथक्करण (abstraction) है जो केवल कल्पनामें रहता है। विभिन्न तत्वोंके सम्बन्धके अतिरिक्त यह साधारण जीवनमें नहीं मिलता। अतः बालकोंको परिभाषा सिखानेकी वही विधि है जिस विधिसे परिभाषा बनी है, अर्थात् सहकारी परिवर्तन (concomitant variation) के नियम से। इसका वर्णन ऐसे किया जा सकता है। यदि एक अनुभवका दिया हुआ तत्व, भिन्न समयों पर अनुभवके बहुतसे विभिन्न तत्वोंसे सम्बद्ध किया जाए तो इन बहुतसे तत्वोंका स्मरण करने की धारणाको एक दूसरेके पक्षमें समान धारणाके द्वारा रोका जाता है, जिससे कि एक स्थायी तत्व इसके विभिन्न सहकारियोंसे स्वतंत्र कर दिया जाय। हम उदाहरणसे यह देखेंगे कि समकोण चतुर्भुजकी परिभाषा कैसे बनी। पहले अध्यापक एक कार्ड बोर्डका ४ × ३ इंचका समकोण चतुर्भुज बना ले और उसमें बालक देखेगा कि—

एक चौरस समतल	जिसकी सामनेकी भुजाएं समानान्तर हैं
कार्ड बोर्ड	चार समकोण

चार भुजाए ४ × ३ इंच नाप

दूसरा मामूली कागज़ लो, नाप ४ × ५ इंच—

चौरस समतल	सामनेकी भुजाएं समानान्तर
सफ़ेद सादा कागज़	चार समकोण
चार भुजाएं	४ × ५ इंच नाप

इसका मस्तिष्कमें परिणाम होगा, चौरस समतल, सम्मुख भुजाएं, समानान्तर और चार समकोण। तीसरा लकड़ीका, १२ × २ इंच, चौथा नीले कपड़ेका ७×६ इंच, पांचवा काले लोहेका ६ × २ इंच। इसमें आवश्यक स्थायी बातें मस्तिष्क पर पक्का प्रभाव बना लेंगी, और विभिन्न तत्व हट जायंगे। फिर विस्तृत अनुभवके कारण बालक आवश्यक तत्वोंको स्थायीकी भांति वर्णन करता है और समकोण चतुर्भुजकी परिभाषाके रूपमें धारण कर लेता है। इस उदाहरणसे पता चल जायगा कि परिभाषा भाववाचक होती है और केवल कल्पनामें रहती है, और जैसे ही यह स्थूल आकार धारण करती है, एक या अधिक विभिन्न तत्व जैसे लकड़ी, लोहा, कागज़, कपड़ा आदि सामने आ जाते हैं। जिस बालकमें वह विस्तृत अनुभव नहीं है, जो स्थूलमें से भाववाचक अलग करनेके लिए आवश्यक है, वह परिभाषा देनेके योग्य नहीं है। यह बताता है कि हम किसी भी बात पर बहुत अधिक ज़ोर न दें। अध्यापक सिहल-निवासियोंके सम्बन्धमें एक पाठके बीचमें बताता है कि उनमें स्त्री और पुरुषके वस्त्रोंमें कोई अन्तर न था। इसका लड़के पर स्पष्ट प्रभाव पड़ा। दोहरानेकी अवस्थामें इस प्रश्नका कि 'सिंहलवासियोंकी क्या विशेषताएं हैं' उत्तर मिला—'उनमें स्त्री-पुरुषमें कोई भेद नहीं है।'

परिभाषा अर्थका एक बिल्कुल कृत्रिम ढांचा है। यह अर्थका वास्तविक प्रवाह नहीं है, जो आत्मामें कार्य कर सके। हम किसी सामान्य विचारके विशेष लक्षणोंको शब्दों द्वारा सरलतासे समझा सकते हैं और उस कथनको हम परिभाषा कहते हैं। परन्तु परिभाषा वही गुण बतायेगी जो सामान्य पदके प्रत्येक उदाहरणमें पाए जाते हैं। अत: भिन्नतावाले सब गुण त्याग दिए जाते हैं, जैसे सब मेज़ चौकोर नहीं होतीं, अत: चौकोरपन अथवा मेज़का आकार परिभाषामें सम्मिलित नहीं किया जा सकता, यद्यपि आकार एक विशेष अंग है। इसका अर्थ यह है कि जितने अधिक प्रकार हमें ज्ञात होंगे परिभाषा उतनी ही क्षीण होगी। संक्षेपमें, परिभाषा उस शब्दके समान है, एक चिह्न है, जिससे विभिन्न व्यक्तियोंके मस्तिष्कमें विभिन्न मात्राके अर्थ आते हैं। यह उन तत्वोंकी सूक्ष्म परीक्षा पर आश्रित है, जो उस परिभाषामें हैं। परिभाषित शब्दके विषयमें जितना ही

अधिक उन्हें ज्ञात होगा उतना ही अर्थ निकलेगा। अतः एक वस्तुकी परिभाषा जानना उसके विषयमें जानना नहीं है। अतः परिभाषा सिखाकर सोचना कि हम वास्तविक ज्ञान सिखा रहे हैं, मूर्खता है। यही कारण है कि भूगोल और रेखागणित सिखानेके पुराने तरीक़े छोड़ दिए गए हैं। कोशसे शब्दार्थ सिखानेका तरीक़ा भी हमें छोड़ देना चाहिए। शब्दार्थ कोशमें देखकर नहीं वरन् बहुतसे सन्दर्भोंमें देखनेसे मस्तिष्कको प्रभावित करता है। अतः एक बालक एक शब्दको कई सन्दर्भोंमें प्रयोग करके कदाचित् अच्छी और बौद्धिक परिभाषाको सरलता और स्वाभाविकतासे पहुंच सकता है, परन्तु परिभाषासे शब्दके बौद्धिक प्रयोगको पहुंचना सरल नहीं है। और अन्तमें परिभाषाकी खोज स्वयं परिभाषासे अधिक मूल्य रखती है, क्योंकि इससे हमारे विचार स्पष्ट हो जाते हैं।

एक अच्छी परिभाषाके नियम और लक्षण जाननेके लिए हम कुछ परिभाषाओंकी जांच करें—

	नाम	जाति	लक्षण
१.	चतुर्भुज	एक समतल आकृति है	जिसमें चार भुजा होती हैं।
२.	समानान्तर चतुर्भुज	एक चतुर्भुज है	जिसकी सम्मुख भुजाएं समानान्तर होती हैं।
३.	समकोण चतुर्भुज	एक समानान्तर चतुर्भुज है	जिसके कोण समकोण हैं।
४.	वर्ग	एक समकोण चतुर्भुज है	जिसकी चारों भुजाएंबराबर हैं।
५.	वर्ग	एक समानान्तर चतुर्भुज है	जिसकी चारों भुजाएं बराबर और कोण समकोण हैं।
६.	वर्ग	एक ऐसा चतुर्भुज है	जिसकी चारों भुजाएं बराबर, सम्मुख भुजा समानान्तर और कोण समकोण हैं।

(१)उपर्युक्त परिभाषाओंको देखनेसे पता चलेगा कि हमने पहले पारिभाषित वस्तु, फिर वर्गीकरण और अन्तमें ऐसा लक्षण बताया जिससे वह अपनी जातिकी अन्य चीज़ोंसे अलग हो जाय। परिभाषाकी इस परिभाषाको अध्यापक बालकोंके सामने परिभाषा करने और परिभाषाओंके औचित्यका निर्णय करनेके लिए लाभदायक पायगा। जैसे परिभाषा 'एक वाक्यका कर्त्ता वह है जिसके विषयमें कुछ कहा जाय', यह अशुद्ध है, जैसे 'जहाज़ हल्का है,' यहां जहाज़ कर्त्ता नहीं हो सकता, क्योंकि यह तो एक शब्द है, अतः परिभाषामें कहना चाहिए था कि एक वाक्यका कर्त्ता एक शब्द होता है आदि। अतः यह अशुद्ध वर्गी-

करण है। (२) एक परिभाषामें वही बातें होनी चाहिएं जो उस जातिकी सब चीजोंमें साधारण हों। अतः हम त्रिभुजको लकड़ीकी बनी हुई तीन भुजाओंवाली आकृति नहीं कह सकते। (३) परिभाषाकी स्पष्टतामें हमारा उद्देश्य 'निश्चय और यथार्थता' होना चाहिए। (क) यह केवल पुनरुक्ति ही न हो, जैसे सुस्त वह है जो आलसी हो। यह केवल दूसरे शब्द कह देना है परिभाषा नहीं; (ख) यह अस्पष्ट शब्दोंसे भरी हुई नहीं वरन् स्पष्ट होनी चाहिए; (ग) यह केवल निषेधार्थक ही न हो कि यह अमुक वस्तु नहीं है। जैसे झूठ वह है जो सच न हो। कुछ शब्दोंको ऐसे भी समझाया जा सकता है, विदेशी वह है जो अपने देशका वासी न हो।

वर्गीकरण और परिभाषाका अस्तित्व एक साथ है। वर्गीकरण अनुभवोंका मानसिक संगठन है, जो ज्ञात समानताओं और विभिन्नताओं पर आश्रित है। इसमें पहले तो एक पदके अन्तर्गत विशेष वस्तुओं या वस्तुओंका एक समूह बनता है, जैसे गुलाब, यह पुष्पके अन्तर्गत आता है। वर्गीकरण मस्तिष्ककी चीज है, नितान्त मानसिक क्रिया है। 'हमें अपनी मानवीय आवश्यकताओंके लिए वर्गीकरण करना आवश्यक है। यह हमारे आराम के लिए है, प्रकृति द्वारा बाध्य नहीं। उदाहरणके लिए, भूगोलका प्रदेशीय वर्गीकरण भूमिके वास्तविक भागोंको प्रदर्शित नहीं करता। प्रायः हमारे सावधानीसे तैयार किए वर्गीकरण प्रकृतिके अनुकूल नहीं होते। यह व्यक्त है कि प्रत्येक वस्तु कई जातियोंके अन्दर सोची जा सकती है, जिसका आधार उसके अलग-अलग गुण होंगे, जैसे सब चीजें रंगके आधार पर वर्गीकृत हो सकती हैं। परन्तु सत्यकी खोजमें हम सबसे अधिक लाभदायक विधिसे वस्तुओंका वर्गीकरण करते हैं। वनस्पतिशास्त्र और प्राणिविज्ञान अधिकतर वर्गीकरण करनेवाले विज्ञान हैं जो इसी विधिसे सत्य पर पहुंचते हैं। यह वर्गीकरण अपनी सूचनामें सम्पूर्ण होने चाहिएं, अर्थात् हमें एक बारमें एक ही आधार रखना चाहिए। जैसे हम चिह्न ले लें। यदि हमारे पास ग जाति है जो सदा द गुण प्रदर्शित करती है, परन्तु बहुतसे रूपमें जैसे $द_1$, $द_2$, $द_3$ आदि। हम द को नियम बना लें जिस पर ग जातिको विस्तृत रूपसे विभाजित कर सकें और उसमें $स_1$, $स_2$, $स_3$, आदि जैसी उपजाति निकल सकें।
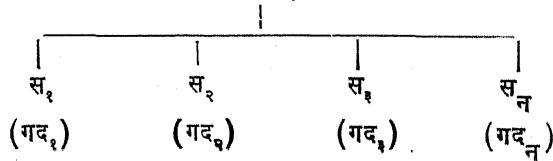
यह वर्गीकरण शुद्ध होगा यदि स$_1$, स$_2$, स$_3$, स$_न$ = ग द को ग की परिभाषामें सम्मिलित नहीं कर सकते, क्योंकि इसमें द$_1$, द$_2$, द$_3$ आदि रूपी अन्तर उपस्थित हैं। अतः स की परिभाषा करनेके लिए हम जाति और विशेष अन्तरको बताते हैं जैसे स = ग द। इस प्रणालीसे हमने परिभाषा को, वस्तुका नाम, जाति और फिर विशेषता, जिससे वह अपनी जातिसे अलग होता है।
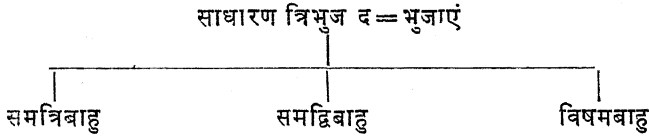
यहां द भुजाओंका आपसी सम्बन्ध है। इसी प्रकार कोणोंके आधार पर भी त्रिभुज का वर्गीकरण किया जा सकता है। हमें आधार नहीं मिला देने चाहिएं। संज्ञाके व्यक्ति-वाचक, जातिवाचक और भाववाचकके वर्गीकरणमें यही दोष है। यहां दो आधार हैं। वाक्यका प्रधान, मिश्रित, सरल, अप्रधानके वर्गीकरणमें यही दोष है, क्योंकि सरल और मिश्रित तो जाति हैं और प्रधान तथा अप्रधान विभाग हैं।

जो उदाहरण हमने दिए हैं, हमने विशेष आधार पर सम्पूर्णताकी चेष्टा की है। इस प्रकारका वर्गीकरण अलग करनेवाला वर्गीकरण कहा जा सकता है, क्योंकि इसका उद्देश्य विशेष आधार पर सम्पूर्ण गिनना है। इस प्रकारका वर्गीकरण, इन्द्रिय प्रत्यक्षीकरणकी वस्तु अवस्थाके लिए ठीक है, जिसमें यह माना जाता है कि प्रत्येक वस्तु एक दूसरेसे स्वतंत्र है। जब हम देखते हैं कि चीजें ऐसी असम्बद्ध नहीं हैं और एकके द्वारा दूसरी होती हैं तब वर्गीकरणमें एक दूसरा ही नियम काम करने लगता है और इसे अन्तर्गत वर्गीकरण कहते हैं। यह विकासके आगमनके बाद अधिक दिखता जाता है। प्रत्येक वस्तु इस प्रकार हेतुक क्रममें रखी गई है। हमारा ज्ञान अन्तिम न होनेके कारण वर्गीकरण भी परिवर्तनशील है।

व्याख्या. अनुभवका वर्णन किया जा सकता है, परन्तु इसकी व्याख्या करना भी आवश्यक है। कोई 'कैसे ?', और दूसरा 'क्यों ?' से प्रश्नका उत्तर देता है। हम लन्दन की व्यापारिक महानताका वर्णन कर सकते हैं और यह भी समझा सकते हैं कि वह महान् क्यों है। यह आवश्यक है कि अध्यापक दोनोंमें अन्तर समझ ले। यह व्याख्याकी अच्छी पद्धतिकी एक विशेषता है कि व्याख्यासे वर्णनको अलग रखा जाय। परिभाषा और वर्गीकरणका उद्देश्य केवल वर्णन करना है। वह इसका कोई कारण नहीं देते कि जो अन्तर

और समानता प्रकृतिमें दिखाई देती है वह क्यों है। यह व्याख्याका कार्य है। वर्णन और व्याख्या पहलेसे किसीकी कल्पना करते हैं, जिसके लिए हम वर्णन और व्याख्या करते हैं। एक देनेवाला और एक ग्रहण करनेवाला होता है। अतः हमें ग्रहण करनेके लिए उचित और परस्पर सम्बन्ध रखनेवाले शब्दोंको इस वर्णनके सम्बन्धमें निश्चित रखना चाहिए। समझ (apprehension) और व्याख्याके सम्बन्धमें यह ज्ञान (comprehension) होता है। दोनोंमें सूक्ष्म परीक्षा होती है। दोनोंमें हम सम्बन्धोंसे व्यवहार करते हैं परन्तु वर्णनमें सम्बन्ध विशेष होता है और दूसरेमें सामान्य। वास्तवमें वर्णनका सार विशेषका निर्देश सामान्यकी ओर करनेमें है। यदि एक बालक पूछे कि डाट (cork) क्यों नहीं डूबती और उतराती रहती है, और मैं कहूं कि क्योंकि यह पानीके ऊपर रहती है, तो मैं केवल दूसरे शब्दोंमें इसका वर्णन कर रहा हूं। यदि मैं यह भी कहूं कि यह इसलिए उतराती है कि 'यह पानीसे हल्की है', तो यह फिर भी एक विशेष सम्बन्ध है। उचित व्याख्या होनेके लिए, इस बातका निर्देश कुछ आन्तरिक विशेषताओंकी ओर होना चाहिए, जिसके द्वारा गतिस्वातंत्र्य होने पर वह पृथ्वीके आकर्षणके अनुसार अपना क्रम बना लेते हैं। यह तर्कयुक्त सम्बन्ध है। इसी प्रकार सेबका गिरना आकर्षण-शक्तिके नियमके द्वारा ही समझाया जा सकता है। यह व्याख्या ठीक होगी, चाहे निर्णीत और अन्तिम न हो, जिसके लिए हम फिर भी इस प्रश्नका उत्तर दे सकेंगे 'कि पृथ्वी पत्थरको क्यों आकर्षित करती है?' यह व्याख्या हमारी पहुंचके बाहर है। यहां हमें रुकना पड़ेगा, क्योंकि विश्व स्वयं अपनी ही व्याख्या है।

प्रायः व्याख्या और स्पष्टीकरणमें गड़बड़ी हो जाती है। वैज्ञानिक व्याख्या अध्यापकके स्पष्टीकरणका प्रदत्त बन जाती है। अध्यापकका स्पष्टीकरण व्याख्याके बिना ठीक हुए भी उत्तम हो सकता है। व्याख्या सुननेवालेके मस्तिष्कमें वही क्रम बनाती है जो उसके अपने मस्तिष्कमें है। कुछ लोग सोचते हैं कि व्याख्या अनावश्यक है। तुम व्याख्याको छोड़ सकते हो। जैसे जकोटट (Jacotat) ने कहा है कि जो अध्यापक व्याख्या करता है वह शिथिलता लाता है। मॉन्टेगू (Montaigue) का कहना है कि अध्यापक बालकके कानोंमें निरन्तर चिल्लाते रहते हैं और उसे सोचने-समझनेका ज़रा भी समय नहीं देते। एक छोटी लड़कीका यही मतलब था जब उसने कहा कि यदि मेरी मां मुझे समझाना छोड़ दे तो मुझे गणित आ जाय। रस्किन ने कहा है, 'व्याख्या समयका नाश है। जो आदमी देख सकता है वह स्पर्श समझ सकता है, जो नहीं देख सकता वह भाषणको भी नहीं समझेगा।' प्रायः देखा जाता है कि समझानेके लिए एक शब्द ही काफ़ी होता है। थैकरे ने

एक साधुकी कहानी सुनाई जो एक रईसके डेवढ़ीमें खड़ा-खड़ा अपने साथियोंका अपने अनुभवसे मन बहला रहा था। उसने बताया कि उसका पहला पश्चात्ताप करनेवाला एक रईस था, जिसने एक क़तल किया था। इतनेमें वह रईस निकल आया और साधुको नमस्कार करके कहने लगा कि वही पहले उसका पश्चात्ताप करनेवाला था। लंगे ने एपरसेप्शन (Apperception) शीर्षक पुस्तकमें इबिएकस नामक एक अफ़्रीकाके कवि का चोरों द्वारा क़तलका क़िस्सा लिखा है कि मरते समय उसने देखा कि कुछ बत्तखें उड़ रही हैं। उसने कहा, 'ओ बत्तखों मेरी मृत्युकी साक्षी होना।' चोर शहर जाकर एक नाटक देखने लगे। खेलके बीचमें एकने देखा कि आकाशमें बत्तखें उड़ रही हैं और चिल्ला पड़ा, 'देखो इबिएकस की बत्तखें उड़ रही हैं'। आस-पासके लोगोंको शक हो गया और वह पकड़ लिए गए। इन दोनों उदाहरणोंमें समझनेके लिए एक शब्द ही काफ़ी हुआ। अतः व्याख्या का वास्तविक उद्देश्य बालकके मस्तिष्कम विचारोंका वह सम्बन्ध उत्पन्न करना है जिससे वह अनुभवको समझ सके।

१६

भावना
(Feelings)

अब हम मानसिक जीवनका दूसरा रूप लेंगे। मानसिक प्रणालियोंको तीन प्रकारकी बतानेमें हमारा यह मन्तव्य नहीं है कि यह तीनों अलग-अलग काम करती हैं। हमारा यह तात्पर्य है कि हम इनमें से किसीका भी विश्लेषण दूसरेके अन्दर नहीं कर सकते। हमने काफ़ी दिखा दिया है कि प्रत्येक मानसिक घटना इन तीनों भागोंसे निर्मित है, विशेषकर भावना, मानसिक घटनाके साथ सम्बन्धित रहती है। यह 'स्वयं एक वस्तु' नहीं है, जिसका पृथक् अस्तित्व हो, अतः इसकी परिभाषा करना बहुत कठिन है। बोलचालमें इसके बहुत से अर्थ कर लिए गए हैं, परन्तु वैज्ञानिक दृष्टिसे यह विचार और क्रियाकी ओर चेतनाकी धारणामात्र है। प्रत्येक विचार और क्रियामें भावनाकी धारणा होती है और अन्तिम सूक्ष्म परीक्षामें चेतनाकी यह भावना या तो रुचिकर या अरुचिकर होती है। अतः दुःख-सुख प्रारम्भिक भावना कहे जाते हैं, क्योंकि उनके और सरल विभाग नहीं किए जा सकते। हमको शारीरिक दुःखसे इसे इस अर्थमें अलग कर देना चाहिए, वह एक संवेदना है, और वह प्रदर्शित की जा सकती है, क्योंकि उसमें किसी अंग-सम्बन्धी शारीरिक उत्तेजना होती है। दुःख भावनाके रूपमें चेतनाकी एक धारणाकी भांति आता है, अतः अधिकतर विचार के रूपमें होता है। तब यह जटिल भावना या संवेग हो जाते हैं, क्योंकि यह संवेदना, विचार, प्रतिमा और कार्य करनेकी प्रवृत्तिसे मिश्रित हो जाते हैं। इनको हम सामान्य (coarse) और सूक्ष्म (finer) संवेगोंमें विभाजित कर सकते हैं। यह विभाजन इस पर आश्रित है कि शारीरिक प्रदर्शन अधिक है या कम। सामान्य संवेगोंके उदाहरण हैं भय, क्रोध, घृणा, प्रसन्नता, दुःख, ईर्ष्या, स्नेह; और सूक्ष्मके हैं आत्म-सम्मान, सहानुभूति,

आश्चर्य। संवेगोंकी विशेषताएं छः हैं—(१) विशेष शारीरिक प्रदर्शन, जैसे क्रोधसे लाल होना, दुःखसे झुकना, भयसे कांपना आदि ; (२) यह सब अवस्थाओं, अर्थात् बालपनसे बुढ़ापे तक होते हैं ; (३) विस्तृत होते और जल्दी ही उकसते हैं, उकसनेके विभिन्न कारण होते हैं ; (४) एक बार उकसने पर चालू रहते हैं ; (५) वह हमारे निर्णयमें बाधक होते हैं, क्योंकि वह हम पर स्वामित्व करते और हमारे प्रयोजनके लिए काम आनेसे इन्कार करते हैं। वह सरलतासे दूसरे पदार्थों और परिस्थितियोंमें परिवर्तित हो जाते हैं।

मनुष्य-जीवनमें भावनाओंका भाग बड़ा महत्वपूर्ण होता है। कुछ लोगोंने कहा है कि प्राणिविज्ञानकी दृष्टिसे वह सबसे पहले विकसित होता है। हम इस मतको न भी माने तब भी यह तो मानना ही होगा कि यह चेतनामें सदा वर्तमान रहती है और हमारे अनुभवोंको उचित मूल्य तथा विशेषता देती है। कला और धर्मके उत्पादनमें यदि यह अकेली नहीं, तो विशेष कर्तृणी तो है ही। विचार मार्ग दिखाता, इच्छा उसे कार्यरूपमें परिणत करती, परन्तु शक्ति प्रदान करनेवाला संचालक भावना ही है। सब दार्शनिकों ने स्थायीभावों द्वारा मनुष्य-जीवनके अन्दर खेला हुआ बड़ा-भाग माना है, यह भाग विचार और इच्छासे भी बड़ा है। यह बातें हमें बताती हैं कि भावनाको जाग्रत करना बहुत ही आवश्यक है। हमें यह भी जानना चाहिए कि भावनाकी प्रकृति बढ़ते हुए बालकके साथ बदलती रहती है। बालपनमें भावना अपने चारों ओर, किशोरावस्थामें दूसरोंके चारों ओर, युवावस्था तथा प्रौढ़ावस्था में कुछ आदर्शोंके चारों ओर केन्द्रित रहती है। आत्मश्लाघा, परोपकार और आदर्शवादके इस क्रमका यही कारण है। बालपनमें सबसे प्रधान संवेग, अपनेसे, आनन्दसे, प्रशंसासे और अधिकार से प्रेम, गर्व, अहंकार, भय, क्रोध, आनन्द और दुःख होते हैं। यह सबसे पहले विकसित होने चाहिएं, क्योंकि यह आत्मरक्षा और विकासकी मूलप्रवृत्तिसे निकलते हैं। इनका सम्बन्ध सुख-दुःख, आवश्यकता, इच्छा और व्यक्तिकी सामान्य कुशलतासे है। ये स्थायी भाव समाज-विरोधी हैं, क्योंकि आत्म-केन्द्रित हैं। हमारा बड़ा उद्देश्य उनमें स्वार्थ बढ़ने से रोकना और परोपकारकी अवस्थाकी ओर परिवर्तित करना हो। युवावस्थामें परोपकार की भावनाका राज्य होता है, जिसका उद्देश्य अन्यजन होते हैं। वह हैं प्रेम और घृणा, मित्रता, आदर, सहानुभूति, स्पर्द्धा और देश-प्रेम। जैसे-जैसे व्यक्ति समाजके अधिक सम्पर्क में आता जाता है, वह दूसरोंकी आवश्यकताओंके लिए सचेत होता जाता है। और बालपन का स्वार्थ धीरे-धीरे किशोरावस्थाकी परोपकार-भावनासे दब जाता है। जैसे ही किशोरा-वस्था युवावस्थाकी ओर बढ़ती है, कुछ आदर्शोंको उद्देश्यमें रखकर भावना उनमें लग

जाती है। मनुष्यके आदर्श तीन प्रकारके होते हैं–सत्य, सुन्दरता और अच्छाई (सत्यं शिवं सुन्दरं)। उसीके अनुसार तीन आदर्श-भावना या स्थायी भाव भी हैं–बौद्धिक जिसमें अज्ञान, आश्चर्य, उत्सुकता, रुचि, अचम्भा और सत्यप्रेम हैं, ललित जिसमें सुन्दरता उत्कृष्टता और हास्यकरका बोध, और अच्छाई तथा बुराईसे सम्बन्ध रखनेवाली आचार-भावना। यह तीनों अवस्थाएं एक-दूसरेसे पूर्णतया तो अलग नहीं हैं, परन्तु बालकका व्यक्तित्व विकास के साथ विस्तृत होता जाता है और स्वयं ही परोपकारी और आदर्शवादी भावनाएं उसी स्वार्थकी भावनाके ढांचे पर बनती जाती हैं। चरित्रके सम्बन्धमें तो भावनाकी बहुत विशेषता है। हमारी भावनाओंके प्रभावका एकीकरण उमंग (mood) होती है। हमारी उमंगसे हमारे सब विचार, निर्णय और निश्चय आच्छादित रहते हैं। एक मन्दाग्निरोगी निराशावादी होता है, और आशावादी वह है जिसका स्वास्थ्य और उमंग अच्छी होती है। जो विद्यार्थी निराशाकी उमंगमें कार्य प्रारम्भ करता है वह कभी इतना सफल नहीं होता जितना एक विश्वाससहित काम करनेवाला। हमारी उमंगोंका एकीकरण स्वभाव कहलाता है, जो हमारी उमंगोंके अनुसार सुखकर, प्रसन्न या खिन्न होता है। प्रकृति (temperament) वह प्रवृत्ति है जो अधिकांश हमारे नाड़ीमंडलके संगठनके द्वारा निश्चित होती है। उमंगें, स्वभाव और प्रकृति चरित्रको बनानेवाले अंग हैं।

भावनाकी शिक्षामें बहुत कठिनाइयां हैं। हम भावना तक सीधी तरह नहीं पहुंच सकते, वरन् उस विचारके द्वारा पहुंच सकते हैं, जिस पर यह आश्रित है या इसके बाह्य प्रदर्शन या क्रियाके द्वारा पहुंच सकते हैं। जैसे हम बालकमें परोपकारकी भावना उन पर आश्रित विचारोंका निर्देश करके और दूसरोंके प्रति आदरका भाव कार्यरूपमें परिणत कराके जाग्रत् कर सकते हैं। इससे पता चलता है कि भावनाओंकी शिक्षा, इच्छाकी शिक्षा से पृथक् नहीं है, और उसीके द्वारा प्राप्त हो सकती है। भावना, उनके विषयमें सुननेसे नहीं वरन् उचित प्रदर्शनके द्वारा शिक्षित की जा सकती है। अतः 'क्रिया द्वारा शिक्षा' (learning by doing) होनी चाहिए। परन्तु इस बातके लिए हम लोग सावधान रहें कि उद्वेगका अतिक्रमण न हो जाय, जिससे स्पष्ट चिन्तन और उचित व्यवहारमें गड़बड़ी हो। अतः हमें जानना, भावना और इच्छा करनेमें उचित अनुपात रखना और विकसित करना चाहिए।

सुख-दुखका नियम शिक्षामें अधिकतम विशेषता रखता है, यह जब देखा जा सकता है जब ज्ञात हो जायगा कि यह दंड और पारितोषिक प्रणालीका आधार है। शिक्षा-सम्बन्धी प्राचीन विचार स्कूलको तपका स्थान कहते थे। जहां जो विषय पढ़ाये जाते थे

और जो अनुशासन होता था उसका इस प्रकारसे क्रम बैठाया जाता था कि बालकका जीवन दुःखी हो जाता था। यह सोचा जाता था कि बालकके लिए कुछ अरुचिकर कार्य आवश्यक हैं, जिसके द्वारा उसके चरित्रमें ऐसी बातें आ जायें जो साधारणतः नहीं आ सकती थीं। यह सच है कि बालक कठिन कार्योंका सामना करें और विचार प्राप्त करें, यदि उसका ठीक विकास होना है, अतः उसे सदा सरल मार्ग ही न दिखा दिया जाय; इसका अर्थ यह नहीं कि स्कूलका काम अरुचिकर हो। कष्टसे पता चलता है कि शरीरमें कुछ खराबी है और आनन्दसे पता चलता है कि शरीरको सन्तोषप्रद अनुभव हुआ है और इससे लाभ होगा। जैसे बेन (Bain) ने कहा है कि आनन्दकी अवस्थासे कुछ जीवनदायक कार्य बढ़ते और कष्टसे घटते हैं। यही कारण है कि स्कूलको एक आनन्ददायक स्थान बनानेका वर्तमान आदर्श मनोविज्ञानकी दृष्टिसे न्याय है। नैतिक शिक्षाके लिए सुख-दुख का नियम अमूल्य है। हम सुखकी खोज करते और दुःखको त्यागते हैं। अतः यदि सुखके साथ रुचिकर प्रतिक्रिया होती है तो उसी कार्यकी पुनरावृत्ति होती है, और यदि दुःखके साथ किसी अरुचिकर प्रतिक्रियाका सम्बन्ध हो जाता है तो उससे दूर रहना चाहते हैं। यह शिक्षाका कार्य है कि बुरी बातोंको कष्टसे ऐसे सम्बद्ध कर दे और अच्छी बातोंको आनन्दसे कर दे कि मनुष्य अपने आप ही ठीक काम करने लगे और ग़लतको त्याग दे। पशु-शिक्षक उस घोड़ेके सामने शक्करका ढेर रखता है जो अच्छा खेल दिखाता है, जिससे वह इस कार्यके साथ 'आनन्द' का सम्बन्ध कर सके और वह उस खेलकी पुनरावृत्ति करे। मां-बाप ग़लत काम करनेवाले बालकको मारते या और किसी तरह फटकारते हैं, ताकि वह ऐसा फिर न करे। बालक अंगूठा चूसनेमें आनन्द लेता है और मां इस आदतको छुड़ाना चाहती है। वह हाथको पीठ पर बांध दे ताकि वह उसे मुंह तक न ले जा सके। परन्तु इससे शारीरिक गतिमें बाधा होगी, इससे वह अंगूठे पर सरसों लगा दे ताकि जब भी बालक उसे मुंहमें ले जाकर चूसे उसे खराब स्वाद आये। परिणाम होगा कि अंगूठा चूसनेकी आदत छूट जायगी। इसी भांति दंड और पारितोषिक प्रणाली काम करती है, परन्तु सदा ही यह फलदायक नहीं होती। जब बालक बड़ा हो गया है तब वह सरलतासे अरुचिकारक स्वादको सरसोंसे सम्बद्ध करेगा अंगूठेसे नहीं। चूसनेकी इच्छा तब भी रहेगी परन्तु रोकमें रहेगी। यदि एक बालक अपनी बहिनके प्रति दयालु होनेके कारण पारितोषिक पाता है तो वह अपनी दयालुताको पारितोषिक पानेका कारण समझ बैठता है। यदि पारितोषिक न दिया जाय तो दयालुता भी बन्द हो जायगी, केवल उतनी रहेगी जो जन्मजात भावके कारण हो अथवा अभ्याससे पक्की हो गई हो। सजासे ग़लत काम रुक

सकते हैं, अच्छी भावना उत्पन्न नहीं की जा सकती। कुछ बातोंमें दंड आवश्यक होता है, क्योंकि दुर्गुण तो किसी प्रकारसे दूर करना ही होता है।

सामान्य संवेग जैसे क्रोध, घृणा दुःख, मौलिक रूपमें मूलप्रवृत्तिमूलक होते हैं और नाड़ी-मंडलमें अंकुर अवस्थामें उत्तेजित होनेके लिए दबे रहते हैं। समस्या उनको उभारनेकी नहीं वरन् वशमें करनेकी है। हमने देखा कि शारीरिक प्रदर्शनोंने इन संवेगों के सम्बन्धमें बहुत काम किया और इस कामके निश्चयने ही लंगे जेम्स (Lange James) के सिद्धान्तको बढ़ाया। यह सिद्धान्त कहता है कि शारीरिक प्रदर्शन संवेगोंका परिणाम नहीं वरन् कारण है। अर्थात् हम हंसते हैं तो खुश होते हैं, हम रोते और दुखी होते हैं। न कि हम खुश होते इसलिए हंसते और दुःखी होते इसलिए रोते हैं। यह सिद्धान्त ज्योंका त्यों नहीं माना जा सकता। यह शारीरिक प्रदर्शन ही नहीं है, जिसके कारण संवेग होते हैं, विचारका इसमें बहुत भाग है, नहीं तो क्यों कुछ विचार संवेग उत्पन्न करते और अन्य विचार नहीं करते। बाघ हममें भय-संवेग पैदा करता है, क्योंकि इसके सम्बन्धमें हमारा खूंखारीका विचार है। एक छोटा बच्चा, जिसमें ऐसा सम्बन्ध-ज्ञान नहीं है, उसकी धारियां देखकर कदाचित् आकर्षित हो। यदि यह सिद्धान्त सत्य होता तो विभिन्न शारीरिक प्रदर्शन विभिन्न प्रकारके सम्बन्ध पैदा करते। परन्तु हम जानते हैं कि रोना हंसना खुशीके कारण होता है। आंसूका अर्थ सुख और दुःख दोनों हो सकता है। पाचन-प्रणालीके अंगोंको खाना खानेमें जितना आनन्द आता है उतना ही गैस्ट्रिक जूस निकलता है, अर्थात् आनन्द इसके निकलनेके पहले और इसका कारण हुआ। परन्तु कुछ हद तक इस सिद्धान्तमें सत्यता भी है, वह यह कि जब एक बार संवेग प्रारम्भ हो जाता है तब बाह्य शारीरिक प्रदर्शनके ही कारण चालू रहता और बढ़ता है। एक लड़का भालू देखकर डरता और भागता है और उसका डर बढ़ जाता है। अतः वशमें करनेका ढंग सरल है। विचारको वशमें करो, ध्यान हटा दो, विचार भूल जाओ, अलग रख दो, दूसरी वस्तुके विषयमें सोचो, और संवेग क्षीण होता चला जाता है। जहां तक इसका प्रदर्शन ऐच्छिक पेशियों पर आश्रित है, यह रोका जा सकता है। लंगे जेम्सके सिद्धान्तकी सत्यता यह है कि यदि हम शारीरिक प्रदर्शनोंके वशमें होकर इसकी सहायता करेंगे तो संवेग बना रहेगा, परन्तु यदि हम इसे रोकेंगे और इसका विरोध करेंगे तो संवेग ग़ायब हो जायगा। एक संवेग या तो प्रारम्भमें ही वशमें कर लेना चाहिए या फिर बिलकुल नहीं करना चाहिए। हमें अपने संवेगके वशीभूत नहीं हो जाना चाहिए, वरन् इसे अपनी बुद्धिके वशमें रखना चाहिए। सोचनेके लिए समय लो और इस पर काम करने

के लिए दस तक गिनती गिनो। एक बहुत अधिक शान्तिप्रिय स्कूलके शिक्षकको जीवनमें एक और अन्तिम बार शारीरिक सजा देनेके लिए बुलाया गया। अपनी हिम्मत बांधनेके लिए उसने भाषण दिया और अपनेको क्रोधमें तैयार किया तथा सजा देने लगा। इस घटनाने सिद्ध किया कि उसने अपने इरादेसे कहीं अधिक कड़ा काम किया।

हमें जैसे कि अपने सामान्य संवेगोंको वशमें रखना है वैसे ही सामाजिक अथवा परोपकारी संवेगोंका विकास करना है। परोपकारको कोम्टी (Comte) के मानव-धर्मने प्रधानता दी। यद्यपि इसे नीट्शे (Nietzche) और शॉ के शक्तिके उपदेशसे रुकावट मिली। विकासने इसकी सहायता की और दिखा दिया कि जीवन-संघर्षमें पारस्परिक सहायता बहुत बड़ी चीज होती है। मष्नुय स्वार्थके द्वारा ही उन्नति नहीं करता, अतः हमें बालपनकी स्वार्थ-भावनाको युवावस्थाकी परार्थ-भावनामें बदल देना चाहिए। परार्थ-भावनाओंका अभ्यास करानेसे ऐसा हो सकता है। बालकोंको वास्तविक घटनाओंसे सहानुभूति करनेका अवसर दो। उन्हें दिखाओ कि समाज पारस्परिक सहायता पर आश्रित है। उनको मनुष्यके बन्धुभाव और जगत्पिता परमात्माके विषयमें बताओ। ऐसी कल्पनाका विकास करो कि दूरस्थ समय और स्थानमें अन्तर्दृष्टि मिले। प्रति-दिनकी घटनाओंसे लाभ उठाओ, जैसे बाढ़, दुर्भिक्ष आदि, जिससे बच्चोंको परोपकारका अभ्यास हो सके।

संवेग, स्थायीभाव और उत्तेजित संवेगों (passions) में भेद करना आवश्यक है। संवेग अस्थायी होते हैं तथा कुछ क्षणोंके लिए और विशेष परिस्थितियोंमें आते हैं। एक संवेग दीर्घस्थायी होने पर हमारे शारीरिक तथा सामाजिक वातावरणमें एक विशेष प्रकारसे कार्य करनेवाली गहरी गड़ी हुई प्रवृत्तिमें विकसित हो जाता है। तब इसे उत्तेजित संवेग कहते हैं। एक व्यक्ति अपने स्वभावके वशीभूत हो सकता है। यह उसके लिए आदत बन सकता है। जब आदत बढ़कर दीर्घस्थायी हो जाय तब वह व्यक्ति उत्तेजित संवेगवाला कहलाता है। साधारण व्यक्तियोंमें लिंगभावना उत्तेजित संवेगकी हद तक नहीं पहुंचती, परन्तु कुछ व्यक्तियोंमें यह असाधारण रूपसे बढ़ जाती है। उत्तेजित संवेग एक प्रकारका संवेग है, जिसमें स्थायीपन विशेषता रखता है। एक संवेग पैदा होता, बढ़ता और समाप्त हो जाता है, परन्तु उत्तेजित संवेग सदा बढ़ता ही रहता है। यह कभी मर भी जाता है, परन्तु इसमें बड़ा समय लगता है। निरन्तर और काफ़ी समयके प्रयाससे यह बढ़ते और नष्ट होते हैं।

स्थायीभाव संवेग और उत्तेजित संवेगके मध्यवर्ती होते हैं। हमारे पास संवेग होते

हैं, परन्तु हम उन्हें सदा काममें नहीं लेते। हम असत्यवादियोंसे घृणा और सत्यवादियोंसे स्नेह करते हैं, परन्तु हर क्षण नहीं करते रहते। संवेग विशेष समय पर उठते और जब उनका कारण हट जाता है तो ग़ायब हो जाते हैं, कारण होने पर फिर प्रगट हो जाते हैं। यह एकाएकी घटना है। स्थायीभाव कुछ परिस्थितियोंमें संवेगोंका प्रदर्शन करनेकी अर्द्धस्थायी प्रकृति है, जैसे देशप्रेम वह प्रकृति है जिसमें एक व्यक्ति एक प्रकारसे अपने देशके प्रति भावना रखता है। शैंड (Shand) ने स्थायीभावकी परिभाषा इस प्रकार की है, 'यह सांवेगिक प्रवृत्तियोंकी ऐसी एक प्रणाली है जो किसी लक्ष्यके चारों ओर केन्द्रित हो।' संवेग और भावना, जो कि समान अनुभव हैं, उनसे स्थायीभाव अधिक स्थायी होता है। यह हमारी मानसिक बनावटका एक अंग है। स्थायीभाव एक प्राप्त प्रकृति है जिसमें कुछ स्थायीपन आ गया है और भावना अधिकतर प्रदर्शनात्मक (presentative) और स्थायीभाव प्रतिनिध्यात्मक (representative) तथा आदर्शवादी होता है। इस प्रकार हम अपने देशके सम्बन्धमें भी स्थायीभाव जाग्रत् कर सकते हैं। यह स्थायीभाव हममें जन्मजात नहीं होता। परन्तु यह प्रायः हमारी मूलप्रवृत्तियों से शृंखलाबद्ध होकर प्रभाव और प्रदर्शनके लिए मूल प्रगतिमूलक मार्गोंका प्रयोग करता है, जैसे देशप्रेम, कलह, अधिकार (ownership), श्रद्धा, संकेत, अधीनता आदि मूलप्रवृत्तियों का प्रयोग कर सकता है। मैकड्यूगल (Mc Dougall) के द्वारा इस सिद्धान्त का विकास किया गया है कि प्रत्येक मूलप्रवृत्तिसे सम्बन्ध रखनेवाला संवेग होता है। स्थायी भावमें बौद्धिक तत्व भी है और संवेग-सम्बन्धी भी। यह स्थायीभावके विषयके बौद्धिक ज्ञानमें है, जिसमें उस विषयके चारों ओर उचित संवेगोंका संगठन सम्मिलित हो। वैसे तो स्थायीभाव कुछ बौद्धिक आदतोंके समान होते हैं। वह उन संवेगोंका क्रम, जिसके द्वारा आचरणकी अनुकूलता हो और स्थायीभाव सबसे बड़ा स्थायी भाव बनाने को मिलते हों, जैसे आत्मसम्बन्धी स्थायी भाव, जिसमें व्यक्तित्व और व्यक्तिगत सारूप्य स्थापित होता हो, प्रदर्शित करते हैं।

हम नैतिक स्थायीभावको चरित्र और बौद्धिकको उत्सुकताके अन्तर्गत लेंगे। यहां हम कला-सम्बन्धी स्थायीभावके विकासका प्रश्न लेंगे, जिसके द्वारा रुचिका और सुन्दरता के ज्ञानका विकास करना है, जिससे आलोचनात्मक गुणागुण ज्ञान और कभी-कभी कलाकी चीज़ोंमें आनन्द हो। संवेग-सम्बन्धी शिक्षाके साथ-साथ कला-सम्बन्धी शिक्षाकी भी अवहेलना हुई है। रूसोके प्रचारके द्वारा इसकी ओर ध्यान दिलानेके पहले, इसको बहुत ही कम स्थान मिला हुआ था। आनन्ददायक मूल्यके कारण कला-सम्बन्धी शिक्षा बहुत

आवश्यक है। मनुष्यके बौद्धिक जीवनमें यह खेलके तत्वको बहुत आकृष्ट करती है। जब किसी वस्तुका आनन्द उसके प्रायोगिक लाभके लिए नहीं वरन् उसीके लिए होता है तब यह कला-सम्बन्धी सन्तोष देता है। हम किसी भी जातिके अध्यात्मिक जीवनमें प्रवेश नहीं कर सकते जब तक कि वह सब कला-सम्बन्धी बपौतीका गुणागुण ज्ञान न सीख लें। मनोविज्ञानकी दृष्टिसे कला, अपने साथ संवेग-सम्बन्धी विकास भी करती है और इस प्रकार बुद्धि और इच्छा दोनों आकृष्ट होते हैं। कलाके नैतिक मूल्य भी हैं, क्योंकि यह बुराईको भयानक रूपमें और गुणको सुन्दरता द्वारा प्रकाशित करती है। शिक्षाका कला-सम्बन्धी उद्देश्य सुन्दरताके ज्ञानको जाग्रत् करना है। और इसको सुचारु रूपसे करनेके लिए हमको वह बातें प्रारम्भ करनी चाहिएं जिससे कला-सम्बन्धी स्थायीभाव बनता है। हमें कला-सम्बन्धी गुणागुण ज्ञानके लिए इन्द्रियोंका शिक्षण करना चाहिए, निरीक्षण-शक्तिको बढ़ाना और कल्पनाको शिक्षित करना चाहिए।

बालकका वातावरण कलित हो। वह सुन्दर स्थानोंके भ्रमणके लिए जाय। स्कूलकी इमारत, वातावरण, फर्नीचर और सजावट, अध्यापकका वेश और प्रत्येक वस्तु स्वच्छ और सुन्दर हो। कलाके विषयोंकी संख्या बढ़ा देनी चाहिए। कलाकी शिक्षा सुधारनी चाहिए, जैसे कलाको भाषाकी तरह नहीं वरन् कला-सम्बन्धी गुणागुण ज्ञानकी भांति पढ़ाना चाहिए। स्वतंत्रता, अवकाश और उत्तमताकी उच्च मर्यादा कला-सम्बन्धी स्थायीभावके विकासमें योग देनेवाले कारण हैं। स्वतंत्रतासे उत्पादक प्रवृत्ति बढ़ती है। अवकाश कलाकी मृत्यु और शीघ्रता इसकी शत्रु है। उत्तमता पर ज़ोर देनेसे स्कूलमें सर्वोत्तम होने की इच्छा बढ़ती है। अन्तमें अध्यापक को कला-सम्बन्धी विषयोंको प्रेरित करना चाहिए।

१७

प्रतिक्रिया

हम यह कह चुके हैं कि मस्तिष्क हमें ज्ञानकी अपेक्षा व्यवहारके लिए दिया गया है। अब तक हमने उन साधनोंसे मतलब रखा जिनके द्वारा मस्तिष्क बाहरी दुनियांसे ज्ञान प्राप्त करता और समझता है, परन्तु मस्तिष्क केवल बाहरी दुनियांसे प्रभाव ही नहीं ग्रहण करता, वह प्रतिक्रिया भी करता है। वह बाह्यको ही आन्तरिक नहीं बनाता वरन् आन्तरिकको भी बाह्य बनाता है। ग्रहण और प्रतिक्रिया, प्रभाव और प्रदर्शन, विचार और क्रिया होते हैं। बाहरी दुनियांमें प्राप्त ज्ञानके आधार पर मस्तिष्क दुनियांके प्रति प्रतिक्रिया करता है। यह इच्छाका क्षेत्र है, जिसे हमने चेतनाका तीसरा अंग बताया है। वातावरण उत्तेजना देता है और उसके प्रति शरीर क्रिया करता है। उत्तेजना इन्द्रियोंके द्वारा मस्तिष्कको पहुंचती और मांसपेशियोंके द्वारा प्रतिक्रिया होती है। इच्छा चेतनाका पुनःकर्त्ता है, और मस्तिष्क इन्द्रियों और मांसपेशियोंका मध्यवर्त्ती है।

नाड़ीमंडलकी दृष्टिसे तीन प्रकारके व्यवहार ज्ञात हैं। हम कह चुके हैं कि नाड़ीमंडल में केन्द्रीय अंग, अन्तिम अंग और सम्बन्ध करनेवाले अंग होते हैं। अन्तिम अंग इन्द्रियां या मांसपेशियां होती हैं और सम्बन्ध करनेवाले अंग अन्तर्वाही अथवा बहिर्गामी नाड़ियां, तथा केन्द्रीय अंग मस्तिष्क और सुषुम्ना हैं। इन्द्रियोंको उत्तेजित करनेवाली उत्तेजना अन्तर्वाही नाड़ीके द्वारा केन्द्रीय अंगको ले जाई जाती है, जिससे प्रवृत्ति पैदा होती है, जो बहिर्गामी नाड़ियोंके द्वारा आती है और मांसपेशियोंके द्वारा प्रतिक्रिया होती है। ज्ञानवाही-गतिवा हीचाप (sensory motor arc) उस मार्गको दिया गया है जिस पर यह नाड़ीप्रवाह अपने उद्गमसे अन्त तक जाता है। ये चाप तीन प्रकारके माने गए हैं। उनके

निर्माण और प्रतिक्रियामें आई चेतनाकी मात्राके ऊपर उनके प्रकार आश्रित हैं। इससे तीन प्रकारके व्यवहार होते हैं—(१) शुद्ध सहज चाप (pure reflex arc), (२) संवेदन और सहज चाप (sensation and reflex arc), (३) वह चाप जिसमें उच्च मानसिक प्रणालीकी आवश्यकता है। पहलेमें ज्ञानवाही न्यूरोन, सुषुम्नाका धूसर पदार्थ और पेशियोंके अन्तर्गत गतिवाही न्यूरोन सम्मिलित होते हैं। इसके उदाहरण आंखकी पुतलीके रिफ्लेक्स (reflex) हैं, जिनमें प्रकाशके कारण आंखकी पुतली कम या अधिक सिकुड़ती और बढ़ती है। इस पर हमारा कोई अंकुश नहीं है वरन् यह अपने आप होता है। प्राय: अंधेरेमें प्रकाश और प्रकाशसे अंधेरेमें जानेसे अन्धापन-सा लगता है, इसका कारण यह है कि इसे यथाकाल व्यवहार करनेमें कुछ समय लगता है। दूसरे उदाहरण हृदय, फेफड़े, उदर और छींकनेकी गति हैं। कुछ छोटी आदतें भी सहज (reflex) होती हैं जैसे सिपाहियोंका नींदमें मार्च करना, या नशेमें गाना गाना। सहज सरल और बारम्बार होता है। यह शीघ्रगामी है जैसे आंख झपकनेमें एक क्षणका भी बीसवां अंश लगता है, और घुटना झटकनेमें एक क्षणका तीन शतांश। सहज प्राय: जन्मसे ही सम्पूर्ण होते हैं। यह पैतृक होते हैं। द्वितीय श्रेणीके ज्ञान गतिवाही चाप (sensory motor arc) को संवेदन-सहज (sensation reflex) कहते हैं। इसमें साधारण सहजकी सारी मशीन और साथ ही मस्तिष्कके ज्ञानगतिवाही क्षेत्र भी संलग्न रहते हैं, परन्तु विचार-क्षेत्र नहीं रहता, जैसे नाकके गुदगुदानेसे छींक, गलेकी खुरखुराहटसे खांसी और तेज प्रकाशसे पलकोंका बन्द होना होता है। इन सबके अन्दर कोई चेतन विचार, प्रयोजन या रुचि नहीं होती। तीसरी श्रेणीके ज्ञानगतिवाही चापमें नीची श्रेणीकी सारी मशीन और मस्तिष्क का विचार-क्षेत्र भी सम्मिलित होता है। उदाहरणके लिए मक्खीके बैठनेसे नाक पर गुदगुदी होती है। साधारणत: संवेदनाके परिणामस्वरूप हाथकी गति प्रतिक्रिया होगी, जिससे मक्खी उड़ा दी जायगी। मगर मान लो हाथ किसी काममें लगा है, और यह नहीं कर सकता तो उसको उड़ानेके लिए फूंकसे उड़ाई जायगी। इसमें मस्तिष्कने एक योजना बनाकर काममें ली और इस प्रकार विचार-क्षेत्र काममें आए। हमारे मानचित्र (diagram) में तीनों श्रेणी समा दी गई हैं। सबसे सरलमें भी आठ बातें होती हैं—उत्तेजना, अन्तर्वाही नाड़ी, ज्ञानवाही कोषाणु, उनको गतिकेन्द्रसे संयुक्त करनेवाले रेशे, गति कोषाणु, बहिर्गामी नाड़ी, गति प्रतिक्रिया और यह सूचना कि कार्य हो गया।

ज्ञानगतिवाही चाप और व्यवहार की तीन श्रेणियां

चेतनाकी श्रेणियां	नाड़ीमंडलकी श्रेणियां	व्यवहारकी श्रेणियां
विचारकी विशेषता सहित चेतना, स्थायीभाव द्वारा उत्तेजित क्रिया।	उच्च श्रेणी। भेजेके सन्बन्ध-क्षेत्र।	'स्वतंत्र व्यवहार'। अर्जित। इच्छित।
भाव और संवेगकी विशेषता सहित चेतना, जो क्रियासे अलग है। विचारकी सहायतारहित व्यवहार।	मध्यम श्रेणी, भेजेके ज्ञान-क्षेत्र।	अर्द्धनिश्चित व्यवहार, अर्जित, आदत, पैतृक, मूलप्रवृत्तियां।
चेतना हो सकती है परन्तु व्यवहारको वशमें रखनेके लिए आवश्यक नहीं है।	निम्न श्रेणी। सुषुम्नाका धूसर भाग या उपभेजेकी नाड़ी-ग्रंथियां (subcortical ganglia)	निश्चित आपसे आप होने वाला व्यवहार। अर्जित, छोटी आदतें, पैतृक—सहज।

यह मनुष्य-व्यवहार और उस नर्वस संगठनके तत्व हैं, जिस पर यह आश्रित है। हमारे व्यवहारके कुछ भाग सहज क्रियाके कारण होते हैं, और कुछ मूलप्रवृत्तियोंके कारण, अन्य चेतन विचार, विवेचन अथवा अपने चुनावसे होते हैं। अतः जब हम यह कह चुके कि शिक्षा व्यवहारके लिए होती है और जीवनकी सारी परिस्थितियोंके प्रति उचित प्रति-क्रिया करनेका संगठन है, तब हमें यह विचारना चाहिए कि हम व्यवहारके इन तत्वोंको किस प्रकार प्रभावित कर सकते हैं। यह सभी शिक्षित नहीं किए जा सकते। कुछ व्यवहार अपरिवर्तनशील और अशिक्षित होते हैं, अन्य शिक्षित, परिवर्तनशील या अर्जित होते हैं। अतः हम अशिक्षित व्यवहारोंकी प्रकृति और शिक्षित व्यवहारोंके अन्तर्गत व्यवहारों पर

विचार करें, परन्तु नाड़ीमंडल, जिसका वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं और जिस पर सारा व्यवहार आश्रित है, हमारे ऊपर एक बड़ा आवश्यक और सर्वगत नियम लगाता है। इसकी शब्द-रचना जेम्स ने इस प्रकार की है, 'प्रतिक्रियाके बिना चित्तमें कोई भावना नहीं उत्पन्न होती और तत्सम्बन्धी प्रदर्शनके बिना प्रभाव नहीं होता (no reception without reaction, no impression without & correlative expression)' जो भी प्रभाव इन्द्रिय अंगोंके द्वारा मस्तिष्क तक पहुंचता है, किसी न किसी कार्यमें परिणत हो जाता है। ज्ञानगतिवाही चापके बननेका यही पहला परिणाम है। इसके अतिरिक्त जो उत्तेजनाएं इन्द्रिय अंगोंसे मस्तिष्कमें पहुंच जाती हैं वह नाड़ी-शक्तिकी लहरें हैं। शक्ति नष्ट नहीं हो सकती और यह नाड़ीकी लहरें मस्तिष्कसे आकर गतिमें अवश्य परिणत होती हैं। कोई भी प्रभाव जो बालककी आंख या कानमें जाकर उसके क्रिया-शील जीवनमें कोई भी परिवर्तन नहीं लाता, नष्ट हुआ समझो। यह शरीर-विज्ञानकी दृष्टिसे अधूरा है। यह स्मृतिमें ठीकसे नहीं रखा जा सकता, क्योंकि इसको पक्का करनेके लिए सारी मानसिक क्रियाओंके अन्तर्गत होना चाहिए। यह गति-क्रियाएं हैं, जो इसे जकड़ लेती हैं। सबसे स्थिर प्रभाव वह होते हैं जिन पर हम काम कर चुके हैं, या आन्तरिक रूप से प्रतिक्रिया कर चुके हैं। प्राचीन शिक्षा-प्रणालियोंमें भी, जिसमें तोतेकी भांति रटन्त होती थी, इस प्रकारके प्रदर्शनके लिए मौखिक पुनरावृत्ति होनेसे प्रभाव गहरा हो जाता था। इस प्रकारका प्रतिक्रियात्मक व्यवहार विषय-प्रणाली (object teaching method) की शिक्षासे और भी बढ़ा दिया गया है और यह हमारे वर्तमान स्कूलोंका गौरव है। ठोस अनुभव पर आश्रित न होनेसे मौखिक सामग्रीमें मिथ्याबोध हो सकता है। अतः वर्तमान स्कूलोंमें बालकके काममें इसका बहुत छोटा अंश होता है, क्योंकि वहां उसकी क्रियाशीलताके लिए बहुत गुंजाइश रहती है। वह नोटबुक रखे, चित्रकारी करे, मानचित्र बनाए, नाप ले, प्रयोगशालामें जाकर प्रयोग करे, अधिकारियोंसे सलाह ले और लेख लिखे। इस दिशामें सबसे बड़ा प्रसार हस्तकला-शिक्षासे हुआ है। इसे हम रचनात्मक मूलप्रवृत्तिके अन्तर्गत बतायंगे। इन बातोंसे पता चलता है कि अध्यापक देखे कि कक्षामें प्रदर्शन (expression) के लिए वह काफ़ी अवसर देता है। जीवनके प्रत्येक प्रभाव का प्रदर्शन नहीं होता, अतः हर बार प्रदर्शन करना आवश्यक नहीं। सबसे पहले अध्यापक प्रत्येक प्रभावका मूल्य आंक ले। यदि वह किसी प्रभावको इस योग्य समझे तो उसे प्रदर्शनका अवसर दे, परन्तु तब जब कि वह पूर्ण निश्चित हो कि इसका उचित प्रभाव पड़ा है। यदि वह सिद्धान्त सिखा रहा है तो वह बालकोंको उसके उदाहरण करनेको देता

है। यदि शब्दार्थ बताया है तो उस शब्दको प्रयोग करते हुए वाक्य बनानेको कहता है, यदि नीतिका वाक्य है, तो ऐतिहासिक उदाहरण, यदि विज्ञान तो उसका प्रयोग करना होता है। प्रदर्शनके बिना कोई प्रभाव नहीं होता। हमें ज्ञान होता है कि हमने एक कार्य किया है, और प्रभावकी लौटती हुई लहर सारे अनुभवको सम्पूर्ण कर देती है। यह कक्षा में आवश्यक है, क्योंकि कार्य करनेके बाद इस लौटती लहरका पाना साधारण बात है, हम कक्षामें इसका प्रबन्ध करें। सिद्धान्तमें यह ग़लत लगता है, कि परीक्षाके नम्बर, फल और स्थान छिपाया जाय। इस अवस्थामें बालक अपने कार्यचक्रकी सम्पूर्णतासे निराश होता और अपूर्णता तथा अनिश्चयके भावोंसे संक्रमित रहता है। मनोविज्ञानकी दृष्टिसे बालकसे कामके लिए काम कराना ग़लत है।

कार्य करके सीखना (learning by doing) यह रूसो की इस शिक्षाका परिणाम है कि बालककी प्राकृतिक क्रियाएं उसकी शिक्षाका आवश्यक अंग हैं। पेस्टालॉजी और फ़्राएबेल ने इस सिद्धान्तको बाल-क्रियाके नियमके द्वारा प्रकाशित किया, जो हर्बार्ट और लॉक की प्रणालियोंमें मार्गदर्शक सिद्धान्त था। रूसो की शिक्षाके दूसरे तत्वने शिक्षामें प्राणिविज्ञानका प्रभाव कराया। उसने कहा कि बालकके विकासमें कई अवस्थाएं होती हैं, और शिक्षाको हर अवस्थाकी विशेषताओंका प्रयोग करना चाहिए। स्टेनले हॉल ने संक्षेप-वर्णन-सिद्धान्त (recapitulation theory) पर और हर्बार्ट के अनुयायियों ने कल्चर ईपो सिद्धान्त (culture epoch theory) पर ज़ोर दिया। थॉर्नडाइक, जिसने साधारण मनोविज्ञान (faculty psychology) तथा शिक्षाके स्थान परिवर्तन (transfer) के सिद्धान्तको नष्ट कर दिया, संक्षेप-वर्णन-सिद्धान्तकी बातोंको नहीं माना, परन्तु बलात् यह मानना पड़ा कि शिक्षा बालकके शारीरिक गुणोंसे प्रारम्भ होनी चाहिए। इसके कारण उसे बलात् मनुष्यकी मौलिक प्रकृतिके उन तत्वोंकी गणना करनी पड़ी जिनको वह सम्भावित प्रतिक्रिया समझता था। शिक्षाका सबसे बड़ा कार्य परिस्थितियोंको प्रतिक्रियाओंसे सम्बद्ध करना है। अत: उसने उत्तेजना-प्रतिक्रिया मनोविज्ञान (stimulus-response psychology) और विशिष्टताका सिद्धान्त निकाला। विशिष्ट व्यवहारोंको सीखना शिक्षा है।

शिक्षाका प्रायोगिक उद्देश्य, जो व्यवहारके शब्दोंमें इसकी परिभाषा करता है, पिछले विश्लेषणसे पता चलता है कि हमारे अन्दर प्रतिक्रियाओंकी सम्भावनाओंके समूहका संगठन करना है। अशिक्षित व्यक्ति वह है जो नैत्यिक परिस्थितियोंके अतिरिक्त सदा किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है। शिक्षित व्यक्ति वह है जिसके आचरणकी शक्ति ऐसी

संगठित होती है कि वह अपनी सामाजिक तथा स्थूल दुनियांके अनुकूल हो जाता है। दूसरे शब्दोंमें, शिक्षित व्यक्ति वह है जो जीवनकी प्रत्येक परिस्थितिके प्रति उचित प्रतिक्रिया करता है। मनुष्य किस प्रकारका व्यवहार करता है यह दो बातों पर आश्रित है––उसके सामने आनेवाले तत्व और उसका निजी आन्तरिक निर्माण। यदि हम बाह्य तत्व और आन्तरिक निर्माण जानते हैं तो हम सरलतासे बता सकते हैं कि क्या प्रतिक्रिया होगी। जैसे यदि कोई शिक्षित व्यक्ति देखे २ + २ या का — ज — ल तो वह ४ और काजल कह देगा। उसकी शिक्षाने उसमें ऐसे सम्बन्ध स्थापित कर दिए हैं, अतः शिक्षाको सम्बन्ध निर्माण करनेवाली भी कहा गया है। जीवधारी पर परिस्थिति उत्तेजनाका काम करती है और वह उचित प्रतिक्रिया करता है। अतः २ + २ के उदाहरणमें दृष्टिकी इन्द्रिय उत्तेजित हुई और उत्तेजना मस्तिष्कको पहुंची, जिसने ४ सोचा और फिर यह गलेकी पेशियोंको पहुंची, जिसने ४ कहा। परिस्थितिमें इन्द्रिय अंगोंको प्रभावित करनेवाले पदार्थ तथा मानसिक अवस्था उत्पन्न करनेवाली बातें भी सम्मिलित हैं। प्रतिक्रिया पेशियों और ग्रन्थियोंकी क्रियाके रूप अथवा कार्य कर चुकनेकी चेतनाके रूपमें होगी। परिस्थिति और प्रतिक्रियाके सम्बन्धको बन्धन (bond) कहते हैं और नाड़ी कोषाणुओं से एक मार्ग बन जाता है, जिस पर परिस्थिति होनेसे लहर आती जाती है। हम परिस्थिति और उत्तेजना शब्दोंको विस्तृत और संकुचित भावमें प्रदर्शित कर सकते हैं। जब उत्तेजना शब्दका प्रयोग होता है तब हमारा तात्पर्य बाहरी पदार्थसे होता है, मनकी अवस्थासे नहीं, वह परिस्थिति शब्दके अन्तर्गत होगा। प्रतिक्रियाके लिए ऐसे विभिन्न शब्द नहीं मिलते। परन्तु जब हम इसे उत्तेजनाके सम्बन्धमें प्रयोग करेंगे तब केवल पेशियों और ग्रन्थियोंकी प्रतिक्रियासे तात्पर्य होगा, चेतनावालीसे नहीं। अतः परिस्थिति-बद्ध प्रतिक्रिया, उत्तेजना-बद्ध प्रतिक्रियासे विस्तृत है। पिछलेसे अधिकांश नाड़ीमंडलकी शिक्षासे तात्पर्य होता है। हमने देखा है कि वह अभ्यास पर आश्रित है। जितनी ही अधिक ज्ञानवाही उत्तेजना होगी उतना ही अच्छा नाड़ीमंडलका संगठन होगा। सारी शिक्षा-प्रणाली बन्धनोंकी स्थापना और परिवर्तन उनके शक्तिशाली होने और स्थानापन्नोंसे भरा है। अध्यापकके लिए इस बातका ज्ञान बहुत मूल्य रखता है। उसका कार्य उत्तेजनाको इस प्रकार उपस्थित करना है कि परिस्थितिके होने पर उचित प्रतिक्रिया हो। इसका तात्पर्य यह है कि अध्यापकमें ज्ञान और अनुभवका कोष हो, जिससे वह परिस्थितियों और प्रतिक्रियाओंमें मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध जान सके। यह ज्ञान उसकी दो प्रकारसे सहायता करेगा, प्रथम तो अध्यापकको उचित उत्तेजना देनेके योग्य बनायगा और दूसरे उसे अवांछित तत्वोंकी

उपस्थिति ढूंढ़नेमें तुरन्त लगा देगा, जब कि उस परिस्थितिमें वांछनीय क्रिया न हो रही हो। उदाहरणके लिए एक लड़केके ट्रान्सफ़र सर्टिफ़िकेटमें चतुर और अच्छा लिखा है। अध्यापक इसे और लड़कोंके लिए उदाहरण बनानेको कक्षाकी दीवार हर टांग देता है। इससे वांछित व्यवहार नहीं हुआ, क्योंकि बालक अपनी कक्षाके साथियोंके 'अच्छे और चतुर' होनेके तानोंके प्रति प्रतिक्रिया करता रहा, अतः उसने हर तरहसे यह दिखानेका प्रयत्न किया कि वह 'अच्छा और चतुर' नहीं है। अतः बन्धनको कैसे बनाएं, शक्तिशाली करें, रोकें, परिवर्तन करें, हटाएं, यही सीखनेकी प्रणालीका सार है, जो हम अब बतायंगे।

१८

सीखने के नियम

मनुष्य परिवर्तनशील जीव है। उसके पैतृक गुण वह सीमा बना देते हैं जिसके अन्दर ही परिवर्तन हो सकता है, और उसका निकट वातावरण निश्चित करता है कि कौनसे परिवर्तन हों। जैसे लखनऊमें पैदा हुआ बालक हिन्दी, कलकत्तेका बंगाली और नागपुर का प्राय: मराठी ही सीखेगा। व्यक्ति और वातावरणकी पारस्परिक क्रिया निरन्तर होती रहती है। वातावरण वह परिस्थिति उत्पन्न करता है जिसके प्रति व्यक्ति प्रतिक्रिया करता है। प्रत्येक प्रतिक्रिया मन पर अपना प्रभाव छोड़ देती है और अनुभवी व्यक्ति वह है जिसके पास अनुभवोंका एक भारी ढेर है।

अपने जीवनका उचित प्रयोजन प्राप्त करनेके लिए हमें बराबर प्रतिक्रिया करनी होती है। यदि कोई बात इसमें विघ्न डालनेको आ जाती है तो हमें बुरा लगता है और हम अपनी प्रतिक्रियाएं इस प्रकार बदल देते हैं जिससे सन्तोषप्रद परिणाम निकलें। आनन्ददायक बातके चुनावका नियम (law of hedonic selection) हमें इस बातके लिए उकसाता है कि परिस्थिति बदलने पर भी प्रतिक्रियाओंको इस प्रकार परिवर्तित करें कि सन्तोष प्राप्त हो। इस सीखनेकी प्रणालीको हम 'प्रयास और भूल' कहते हैं। तैरना सीखनेवाला पानीमें प्रवेश करता है, तैरनेकी धारणामें अपनेको रखता है; डूबनेका संवेदन होता और वह हाथ-पैर मारता है; उतरानेका संवेदन होता है, वह अपनेको आगे बढ़ाता और बढ़ता रहता है; सन्तोष होता और बार-बारके अभ्याससे तैरना सीख जाता है। यह बात शारीरिक आदतों जैसे तैरना, साइकिल चलाना आदिके लिए ही केवल ठीक नहीं है वरन् मानसिक कार्य जैसे कविता याद करना आदिके लिए भी ठीक है।

हम कविता सीखने, पुनरावृत्ति करते, अटकते, फिर आवृत्ति करते और इसी तरह करते रहते हैं। इसी प्रकार बालक बोलना सीखता है। जब वह ठीक बोलता तो सन्तोष होता और ज्ञान निश्चित हो जाता है। यदि बालक जो भी बोलता है उस पर हम खुश होते हैं, उसे वैसा बोलने ही देते हैं तो वह बहुत दिनों तक तुतलाता रहेगा। केवल पुनरावृत्तिसे ही सीखना नहीं हो जाता। सुधार जब ही होता है जब कार्यके परिणामसे सुख या दुःख होता है। इसका उदाहरण टेनिसके खेलके सुधारमें मिल सकता है। प्रारम्भमें ग़लत कामोंकी पुनरावृत्तिसे वह पक्के नहीं होते वरन् असन्तोषके कारण त्याग दिए जाते हैं। पिंटनर एक ऐसे लड़केकी कहानी बताता है जो एक डिटेंशन क्लासमें भेजा गया और उसे दंडके रूपमें धन्धा दिया गया। उसने पूजनीयके स्थान पर 'पूज्यनीय' लिख दिया था। उसे १०० बार पूजनीय लिखनेको कहा गया। जब वह काम कर चुका तो उसने देखा कि अध्यापक वहां नहीं हैं, अतः नम्रताके कारण उसने लिख दिया कि 'पूज्यनीय' अध्यापक आप नहीं थे अतः मैं अपना काम करके चला गया। पुनरावृत्तिसे कोई लाभ नहीं हुआ।

यह मनुष्यके सीखनेके नियम हैं। थॉर्नडाइक ने पशुओंपर प्रयोग करके इसके नियम बनाए। मछली, कछुआ, मुर्गी, साही, चूहे, बिल्ली, शिम्पेंज़ी, गोरिल्ला आदि पर प्रयोग किए गए। सीखनेकी प्रणालीमें चूहा सबसे आरामदायक जीव है। यह आसानीसे पाले और क़ाबूमें किए जाते हैं। सफ़ेद चूहेमें उत्सुकता बहुत होती है, इस कारण वह सरलता से सिखाए जा सकते हैं। यह निरीक्षण किया गया है कि वे भूलभुलैयामें से कैसे निकलना सीख जाते हैं। बन्दीपन, भोजनके लिए बाहर निकलनेकी इच्छा और बिजलीके धक्कोंके रूपमें दंड, यह सब बातें उन्हें भूलभुलैयामें से निकलनेको उत्साहित करती हैं। अभ्यासके द्वारा वह ऐसा कर लेते हैं और निरर्थक गतियोंको कम करके कमसे कम समयमें निकल जाते हैं। एक प्रयोगमें चूहोंको पहले प्रयासमें १,८०४ सेकेंड लगे, दूसरेमें ९६६, तीसरेमें ५४२, दसवेंमें ३३, ग़लतियां १४·९ से १·१ पर आ गईं।

एक भूखी बिल्लीको एक पिंजड़ेमें बन्द कर दिया गया और सामने ही खाना रख दिया गया। वह पिंजड़ा एक सुतलीके खींचनेसे खुल सकता था। वह सुतली कुंडीमें लगी थी। खाना देखते ही भूख और बन्दीपनने उसे उकसाया और प्रतिक्रिया होने लगी। तारोंके बीच सिर घुसाया, हवामें पंजे मारे, कूदने लगी और बहुत-सी गतियां कीं। अचानक रस्सी खिंची और कुंडी खुल गई। बार-बारके प्रयाससे इसमें समय कम लगने लगा। निरर्थक गति समाप्त हो गई। पहले प्रयासमें १६० सेकेंड लगे और चौबीसवेंमें केवल सात सेकेंड लगे।

कोहलर (Koehler) ने शिपांजियों पर प्रयोग किए और युग बनानेवाले हुए। उससे गेस्टॉल्ट (Gestalt) मनोविज्ञानका प्रादुर्भाव हुआ। यह शिपांज़ी बन्दी नहीं थे। इनको रस्सी, बल्ली, घड़ी और बक्से दिए गए, जिसकी सहायतासे यदि वह चाहते तो उनकी पहुंचसे दूर टंगे केले ले सकते थे। उन्होंने बल्लीको सीधा खड़ा करना सीखा और जब तक यह गिरे वह चढ़कर केले ले आते थे। उन्होंने बक्सोंको सरलतासे एकके ऊपर एक रखना नहीं सीखा। कोहलर का कहना है कि इन उदाहरणोंमें प्रयास और भूल और निरर्थक चीज़ोंके हटावकी प्रणालीसे सीखना नहीं हुआ वरन् अन्तर्दृष्टिके कारण। इसका वास्तविक वर्णन यह होगा कि विभिन्न सफल बातोंके चुनावके द्वारा सीखना। इस प्रकार का सीखना मनुष्य और पशु दोनोंमें होता है। हम साइकिल चलाना, मोटर चलाना, टाइपराइटर काममें लाना, सफल गतियोंके चुनाव और ग़लतके हटावके द्वारा सीखते हैं। कोहलर के शिपांज़ी मनमें प्रत्यय बनाकर रहस्यका उद्घाटन नहीं कर सकते थे। उनका उदाहरण शीघ्र सीखनेका है, अन्तर्दृष्टिका नहीं। उदाहरणके लिए यदि एक बालकको बिल्लीकी भांति पिंजड़ेमें रख दिया जाय तो पहले तो वह अटकलपच्चू प्रकारके प्रयास करेगा, परन्तु एक बार भेद मालूम हो जाने पर उसको बहुत कम समय लगेगा और उसके सीखनेकी वक्ररेखा (curve) शिपांज़ीकी अन्तर्दृष्टि वक्ररेखासे मिलती हुई होगी। अत: यह सोचनेका कोई कारण नहीं है कि शिपांज़ीके सीखनेका ढंग बिल्लीसे भिन्न है। जब एक आदमी समस्याका हल सोचते समय एकदमसे चिल्ला पड़ता है 'हमें मिल गया', तब वह इसे अन्तर्दृष्टिसे नहीं हल करता है वरन् प्रयास और भूलके महान् विचारके अन्तमें। अत: अन्तर्दृष्टि एक बिना विश्लेषण किया हुआ सीखनेका तरीक़ा है, जिसमें प्रयास और भूलका भी काफ़ी भाग है, और मनुष्यमें यह भाषाके कारण बहुत गहन हो गया है।

थॉर्नडाइक के सीखनेके नियमोंमें पहला नियम परिणाम (effect) का है, जिसको सुख और दुःखका नियम भी कहते हैं। इसके विषयमें थॉर्नडाइक ने कहा है—'जब एक परिस्थिति और प्रतिक्रियामें एक परिवर्तनशील सम्बन्ध बनाया जाता है और उसके साथ या पश्चात् आनन्ददायक अवस्था होती है तब उस सम्बन्धकी शक्ति बढ़ जाती है, जब दुःखप्रद अवस्था होती है तब इसकी शक्ति घट जाती है।' परिवर्तनशील बन्धनोंसे हम सहजक्रिया और अपरिवर्तनशील व्यवहारोंको अलग कर देते हैं। आनन्ददायक अवस्था वह है जिससे पशु बचता नहीं वरन् उसे चालू करता है। दुःखप्रद अवस्था वह है जिसको पशु हटाना चाहता और पुनरावृत्ति नहीं करना चाहता। दुःख और सुखप्रद दोनों प्रकार की मौलिक बातें भी होती हैं, जैसे भूखमें खाना सुखप्रद और पेट भरे पर दुःखप्रद होता है।

दूसरा नियम अभ्यास या तीव्रता (frequency) का है। इसके दो भाग हैं, प्रयोग और अप्रयोगका। जब एक परिवर्तनशील सम्बन्ध जो परिस्थिति और प्रतिक्रियासे बना काम में लाया जाता है तब इसकी शक्ति बढ़ जाती है। जब यह बहुत समय तक काममें नहीं लाया जाता तब यह कमजोर पड़ जाता है। यह पुरानी कहावत है 'अभ्याससे सम्पूर्णता आती है', इसकी सत्यता और भी बढ़ जाती है जब अभ्यास तेजी (intensity), स्पष्टता (vividness) और नवीनता (recency) से सम्बन्धित हो। यह नियम परिणामके अनुरूप ही चालू होता है।

तीसरा नियम तत्परताका नियम (law of readiness) कहलाता है। जब कार्य करनेके लिए सम्बन्ध तत्पर हो जाता है तब कार्य करनेसे सुख और न करनेसे दुःख होता है। जब सम्बन्ध तैयार नहीं है तब बलात् कार्य करनेसे दुःख होता है। प्रतिक्रिया व्यक्ति के लिए आनन्ददायक होनी चाहिए और यह उतनी ही आनन्ददायक होती है जितना प्रयोजन इससे पूरा होता है। प्रत्येक व्यक्तिके प्रयोजन भिन्न होते हैं, और जो बात एक समय आनन्ददायक होती है वही दूसरे समय दुःखप्रद हो सकती है। अतः तत्परताका अर्थ किसी विशेष दिशामें तत्परता है। जब इस प्रकार तत्पर हो तब कार्य करनेसे प्रसन्नता और न करनेसे दुःख होता हो। इसको उद्देश्य-स्थित-मन भी कहते हैं। जब मन किसी उद्देश्यकी प्राप्ति पर स्थित है, प्राप्तिसे सुख और अप्राप्तिसे दुःख होता है। अतः जब एक बालक खेलने जानेवाला है उस समय उसे पढ़नेके लिए रोकना दुःखदायक है। खेलने जाने देना आनन्ददायक है। यही कारण है कि हम सरलसे प्रारम्भ करें और फिर सरल की ओर बढ़ें। मस्तिष्क-परीक्षा (mental tests) में पहले कुछ प्रश्न उम्मीदवारकी शक्तिके अनुकूल होने चाहिएं। पहलेकी अनुकरण- पुस्तिकाओंमें यह ग़लती थी कि वह पूर्ण ठीक थीं और बालक कभी भी उतना ठीक नक़ल नहीं कर सकता था। इच्छा तथा प्रयोजनका आधार मनको कार्य करनेकी तत्परता है। सीखनेकी इच्छाके बिना सीखना नहीं हो सकता। जब बालकके पढ़नेकी रुचि होती है तो प्रयास अपने आप हो जाता है।

सीखनेके दृष्टिकोणसे प्रतिक्रियाओंको सरल और जटिल दो भागोंमें विभाजित किया जा सकता है। सरल प्रतिक्रियामें एक मांसपेशी अथवा पेशियोंका निकटस्थित समूह काम करता है, जैसे हाथ हिलाना। जटिल प्रतिक्रियाओंमें एकके बाद एक शरीरकी लगभग सारी पेशियां क्रमसे काममें आ जाती हैं, जैसे तैरना। सरल प्रतिक्रियामें हमें यह पता लगाना है कि कौन-सी गति है और उसकी क्या रफ़्तार है। जटिल प्रतिक्रियाकी अन्य प्रारम्भिक गतियोंको सीखकर आगे बढ़ना चाहिए। प्रारम्भिक अवस्थामें जटिल प्रति-

क्रियामें बहुत-सी निरर्थक गतियां होती हैं, जिन्हें हटाना होता है, जैसे लिखना सीखने-वाले तथा साइकिल सीखनेवाले प्रारम्भमें बहुत-सी निरर्थक चेष्टाएं करते हैं। बालकके लिए जटिल प्रतिक्रिया सीखनेके सदा दो तरीके हैं। वह पहले उन सरल प्रणालियोंको सीखे जिससे वह बना है और फिर उन्हें एकमें जोड़ दे। वयस्क इन सरल प्रणालियोंको जानता है, और उसे केवल इन्हें जोड़ना रहता है, बस यही कमज़ोरी हो सकती है कि उसने शायद वह ग़लत रूप सीख लिए हों जिन्हें भुलाना है। यही भिन्नता बच्चों और वयस्कोंके सीखनेमें अन्तर ला देती है। बच्चोंको लिखना सीखनेमें प्रणालीके विभाग कर लेने चाहिएं। प्राचीनकालमें अक्षरोंको रेखा, वक्ररेखा आदिमें विभाजित कर लेते थे और इनको पहले सिखाते थे। मांटेसरी-प्रणाली क्रमके विश्लेषणसे प्रारम्भ होती थी। लिखनेमें पहले क़लम या पेंसिल पकड़ना सीखना और फिर अक्षरोंका रूप। यों ही पेंसिल चलानेसे बालक पेंसिल पकड़ना सीख लेता है। अक्षरोंका रूप बनानेमें जिन चेष्टाओंका सहयोग होता है, उसके लिए काग़ज़के टुकड़ोंके बड़े-बड़े बने हुए अक्षरके चारों ओर उंगली फिरवाई जाती है। इस प्रकार दोनों बातोंको अलग-अलग सीखनेके बाद बालक स्वयं दोनों को संयुक्त कर लेता है।

जब वस्तुकी प्रकृतिके द्वारा प्रतिक्रिया नहीं मिली रहती तब प्रतिक्रिया चुनी जा सकती है। परन्तु जहां एक बार एक प्रतिक्रिया काममें आई कि सब बातें समान होने पर और समान परिस्थितिमें यही प्रतिक्रिया बार-बार होगी। दी हुई परिस्थितिमें उचित प्रतिक्रियाओंका क्रमानुसार चुनाव ही शिक्षा है। अतः 'प्रयोगका नियम' दूसरी प्रतिक्रियाओं को आनेसे रोकता और उचित प्रतिक्रियाको ठीक अभ्यास देता है। यह बहुत आवश्यक है कि पहली प्रतिक्रिया शुद्ध हो, नहीं तो अशुद्ध प्रतिक्रियाको भुलाना होगा, जो कि एक कठिन कार्य है। अतः यह आवश्यक है कि विषयका प्रारम्भ करनेवाले अध्यापक सर्वोत्तम हों, क्योंकि यह स्कूलकी प्रारम्भिक अवस्थाएं होती हैं और इस समय बुरी शिक्षाका भयानक प्रभाव पड़ सकता है। जब कि बालकोंमें बहुत-सी अच्छी आदतें पड़ चुकी हैं तब बुरा अध्यापक अधिक हानि नहीं कर सकता। यही नियम हमें यह भी बताता है कि ग़लतियोंकी ओर ध्यान दिलाकर ग़लती सुधारना बहुत ग़लत बात है। ग़लत स्पेलिंग किए हुए शब्दोंको बोर्ड पर लिखकर उस पर सज़ा देना बहुत ग़लत तरीक़ा है। ठीक तरीक़ा यह होगा कि अवसर ढूंढ़कर ठीक स्पेलिंग मस्तिष्कमें जमाई जाय और सावधानी से किसी प्रकार भी ग़लत स्पेलिंगका प्रभाव न पड़ने दिया जाय। अतः यह ठीक होगा कि ठीक स्पेलिंगके शब्दोंकी सूची बोर्ड पर लगा दी जाय। इस सत्यकी सिद्धिके लिए फ़ेज़र

ने एक उदाहरण दिया है। पहले महायुद्धमें अन्य नौसिखियोंके साथ वह भी ड्रिल कर रहा था। एक ने अपनी बन्दूक़ ग़लत तरीक़ेसे पकड़ ली। ड्रिल सार्जेंटने उसकी बन्दूक़ लेकर सबको दिखाया कि उसने किस ग़लत तरीक़ेसे बन्दूक़ पकड़ रखी थी। दूसरे अवसर पर बिना सोचे बहुतोंने उसी ग़लत तरीक़ेसे बन्दूक़ पकड़ रखी थी। अत: हमें सावधान रहना चाहिए कि ग़लत चीज़की ओर कभी संकेत न करें। नीति-शिक्षामें यह बात और भी विशेषता रखती है। दुर्व्यवहारको रोकनेके लिए अध्यापक प्राय: बालकोंकी क्रियाओंमें अर्थ लगाने लगते हैं जो उन्होंने कभी सोचा भी नहीं था, परन्तु फिर आगे सोच लेते हैं। इसकी अवहेलना करना ही ठीक है। खुले रूपमें इसका विरोध करना इसका इश्तिहार करना है। अवांछनीय पुस्तकों पर प्रतिबन्ध लगाना इसकी बिक्रीको बढ़ाना है। इसी प्रकार बहुत से लोग बहुत अधिक विरोध दिखाकर विपक्षियोंको विरोधात्मक शास्त्रार्थ सुझाते हैं। स्कूल में अभ्यासका आधार प्रयोगका नियम है।

प्रभावके नियमकी अवहेलनाका सबसे भारी उदाहरण बालकोंको सजाके रूपमें सीखने वाले पाठको धन्धा बनाकर देना है, जैसे नाप-तौलके पहाड़े। इस प्रकार बालकोंमें असन्तोषके भाव उत्पन्न हो जाते हैं। वांछनीय प्रतिक्रियाएं बालकके लिए रुचिकर बना देनी चाहिएं। यह पशु-शिक्षण और मनुष्य-शिक्षण दोनोंके लिए ठीक है। जिन भावनाओं को सन्तुष्ट करना है वह मूलप्रवृत्तिमूलक होती हैं।

कुछ मनोवैज्ञानिक प्रत्यक्षोंका आधार सीखने पर किए गए प्रयोगों पर आश्रित है। उन पर भी विचार करना चाहिए। थॉर्नडाइक ने गणित-शिक्षा-सम्बन्धी अनुसन्धानोंके द्वारा बहुतसे परिणाम निकाले हैं। स्कूलके किसी भी विषयके सम्बन्धमें हमारा उद्देश्य बुद्धि-सम्बन्धी आदतोंको सिखानेवाला समूह बनाना है। सरल आदतों पर जटिल आदतें बनाना इसका सिद्धान्त होगा। पहले जो आदतें बनानी हैं उनका चुनाव हो, फिर उनके बनानेका क्रम चुनो और उनके बनानेके सर्वोत्तम तरीक़ेका पता लगाओ, जैसे गणित सिखानेमें यह सोचना है कि ३ + ६ = ९ सिखाएं या $\frac{3}{6}$/९ सिखाएं। शायद पहला तरीक़ा अच्छा है। चुनाव करनेके बाद हमें यह भी देखना चाहिए कि हम एक बारमें सम्बन्धोंका एक समूह ही स्थिर करें। गुणामें यह अच्छा होगा कि पहले हम ऐसा गुणा सिखाएं जिसमें हाथ लगा न हो, फिर शून्य हाथ लगा न हो, और फिर इसी प्रकार। हम यह देखनेके लिए सावधान रहें कि एक बार बने सम्बन्ध सिखानेके दौरानमें तोड़े न जायं। टाइप सीखनेमें प्रारम्भसे ही स्पर्श-प्रणालीसे सीखें, दृष्टि-प्रणालीसे नहीं। भाषण देना बिना पर्चेकी सहायतासे ही सीखें। अभ्यासमें परिवर्तन हो, अन्यथा एकस्वरता

(monotony) विघ्न डालेगी। परिणामको प्रमाणित करनेके लिए विषय प्रणालीका प्रयोग किया जा सकता है, यह प्रणाली स्मृतिकी सहायता भी करेगी। प्रणाली पर पूर्ण विजय प्राप्त करनेके पश्चात् ही इसके गुणों की व्याख्या करनी चाहिए। सम्बन्धोंको ऐसे क्रमबद्ध किया जाय कि वह पाठ्यक्रमके अन्य अध्ययनों तथा बाह्य जीवनके द्वारा फिरसे नई और दृढ़ होती रहें।

पढ़नेकी आदतोंका समूह स्थापित करनेके लिए यह प्रत्यय मनमें रखना चाहिए। जो कार्य थॉर्नडाइक ने गणितमें किया है वही गेट्स ने पढ़नेमें। पढ़ने, लिखने और गणितमें गति और शुद्धता बहुत विचारणीय हैं। हमने देखा है कि जल्दी याद करनेवालोंकी धारणाशक्ति भी अच्छी होती है। गति और शुद्धता भी इसी प्रकार सम्बन्धित हैं। गणितमें शुद्धता सबसे अधिक मूल्य रखती है और शिक्षाकी उचित विधिसे यह निश्चय आ सकती है। पढ़ने-लिखनेमें गतिकी अधिक विशेषता है। समझनेकी योग्यतामें बाधक हुए बिना ही बालकोंमें पढ़नेकी गति पचास प्रतिशत बढ़ाई जा सकती है, यह पता चला है। वयस्कोंमें भी पढ़नेकी औसत केवल ३०० शब्द प्रति मिनट है। समालोचक ४८० शब्द प्रति मिनटके हिसाबसे पढ़ते हैं। जल्दी पढ़नेवाले भी होते हैं, जो ८३० शब्द प्रति मिनट तथा ४२०० शब्द प्रति मिनट तक पढ़ते हैं (यह अंग्रेजी भाषाके आंकड़े हैं)। धीमी प्रतिक्रियाएं खराब आदतोंके कारण होती हैं, अतः पढ़ने-लिखने और गणितमें अच्छी आदतें डालनेसे गति बढ़ सकती है। धीमी गतिका अर्थ संकोच है, जो अभ्याससे दूर किया जा सकता है।

हम जिस बातका अभ्यास करते हैं, वह सीखते हैं। अतः यदि हम शुद्ध अंग्रेजी लिखना-पढ़ना चाहते हैं तो लिखने-पढ़नेका अभ्यास करें, न कि व्याकरणका अध्ययन करें। परीक्षा में सम्भावित प्रश्नोंका उत्तर देनेका अभ्यास करनेसे हम परीक्षामें अच्छा कार्य कर सकेंगे। इससे पता चलता है कि हमें अप्रासंगिक प्रतिक्रियाओंको हटा देना चाहिए, ताकि पुनरावृत्ति से वह न सीख लें। ग़लतियां इसी श्रेणीमें आती हैं। वह भी शुद्ध बातोंकी भांति ही सीख ली जाती हैं। यह बताया जा चुका है कि गणितकी ग़लतियां पक्की हो जाती है और उन्हें भुलानेमें बड़ा परिश्रम करना होता है।

हम अभ्याससे सीखते हैं, इस बातने सीखने और रटनेकी बहुत-सी तरकीबोंको सन्दिग्ध कर दिया है। बच्चोंको ट्रेस करके अक्षर सिखाए जाते हैं। यह प्रयोगसे प्रदर्शित किया जा चुका है कि जो बिना इन सहायताओंके लिखना सीखते हैं वह अधिक अच्छी उन्नति करते हैं। गणितमें उंगली पर गिनना बहुत खराब आदत है और मुश्किलसे छुड़ाई जाती

हैं। रटनेकी जो तरकीबें अपने लिए ही बनाई जाती हैं, वही सर्वोत्तम होती हैं। जैसे अक्सर कठिन शब्दोंको गानेके रूपमें याद कर लेते हैं।

सीखनेकी वक्र-रेखा (learning curves)

वर्गचित्रित (squared) काग़ज़ पर वक्र-रेखा खींचकर सीखनेकी उन्नतिका प्रदर्शन स्पष्ट रूपसे किया जा सकता है। यह अच्छा होगा कि यह रेखाएं विद्यार्थी अपने लिए स्वयं बनाएं। एक वर्गचित्रित काग़ज़ और सेकेंडकी सूईवाली घड़ी ले लो। अंग्रेज़ी अक्षरों को आखीरसे उल्टा लिखनेकी पुनरावृत्तिसे कितनी उन्नति होती है यह देखना है। पहले प्रयासमें देखो कि कितना समय लगा। यदि ६० सेकेंड लगते हैं तो लम्बाईमें ५-५ सेकेंड की १२ जगह नाप लो। यदि चालीस प्रयास करने हों तो चौड़ाईमें बराबर नापकी चालीस जगह बना लो। यदि दूसरे प्रयासमें ५४ सेकेंड लगते हैं तो लम्बाईमें ५४ स्थान गिनो और चौड़ाईके २ स्थान और इसके जोड़ पर बिन्दु लगा लो। इस प्रकार चालीसों प्रयासोंका ग्राफ़ बनाओ। समय कम लगता जायगा, अतः वक्र-रेखा नीचे गिरती जायगी।

प्रयास-प्रयासमें वक्र-रेखा उतरती-चढ़ती भी दिखाई पड़ेगी। परन्तु साधारण वक्र-रेखा बनाना अच्छा होगा, अतः पांच-पांच प्रयासोंके समयका माध्यम निकालकर फिर यह ग्राफ़ बनाओ, तभी पता चलेगा कि वक्र-रेखा चढ़ती नहीं उतरती ही जाती है। इसी प्रकार विद्यार्थियोंके समूहोंके कार्योंके माध्यमका भी ग्राफ़ बनाया जा सकता है। इससे एक कक्षासे दूसरी कक्षाकी उन्नतिकी तुलना की जा सकती है। जब विभिन्न व्यक्तियोंके लिए वक्र-रेखाएं बनाई जाती हैं तो व्यक्तिगत भिन्नताएं सामने आ जाती हैं। कुछ पहले तीव्रतासे उन्नति करते और फिर धीमे पड़ जाते हैं, कुछ प्रारम्भसे ही समान उन्नति करते हैं और अन्य प्रारम्भमें धीमे और फिर तेज़ हो जाते हैं। बहुतोंकी वक्र-रेखा अस्थिर होती है। किसी कार्यके सम्बन्धमें भी विभिन्न व्यक्तियोंकी वक्र-रेखा समान नहीं होती। इसी प्रकार विभिन्न कार्योंकी वक्र-रेखामें भी भिन्नता होती है। बहुत-सी वक्र-रेखाओंसे पता चलता है कि बहुत समय तक कोई उन्नति ही नहीं हुई। इसे 'समतल' कहते हैं और पढ़ानेमें यह बहुत आवश्यक बात है। 'समतल' का कारण 'पुराना होना', 'नीरस होना' या 'थकान' कुछ भी हो, यह निश्चय है कि काफ़ी मेहनत करने पर भी कोई लाभ नहीं हो रहा है। प्रायः इसके लिए कुछ प्रारम्भिक आदतोंकी आवश्यकता होती है, जिससे सीखने में सफलता मिलती और वक्र-रेखा नीचे गिरती जाती है। यदि असीम अभ्यास किया जाता रहे तो उन्नति होना रुक जायगी और वक्र-रेखा सीधी ही रहेगी। स्कूलोंमें इतना

अभ्यास कभी नहीं कराया जाता और सुधारकी सदा गुंजाइश रहती है। जैसे १०० गज की दौड़में चाहे कोई कितना भी तेज़ दौड़ा हो, दुनियांका रिकॉर्ड तो सदा गिरता ही रहता है।

स्कूलके कार्यके लिए इन वक्र-रेखाओंसे बड़ा प्रोत्साहन मिलता है। अपनी उन्नतिकी तुलना अपनेसे करनेमें बड़ा प्रोत्साहन होता है और बहुत-सी प्रामाणिक (standardised) क्रियाओंके लक्ष्य बने हुए हैं जिनको प्राप्त करना या उससे भी आगे बढ़ना होता है। सीखनेकी वक्र-रेखाओंकी भांति भूलनेकी वक्र-रेखा भी खींची जा सकती है।

१६

साधारण बातें सीखना

साधारणतः सीखनेके पांच पद हैं। सबसे पहले तो सीखनेके लिए मन, धारणा या इच्छा होनी चाहिए; दूसरे ठीक प्रतिक्रियाका चुनाव, तीसरे ग़लत और व्यर्थकी प्रतिक्रियाओं का हटाना, चौथे प्रतिक्रियाको आदत बनाना और अन्तमें सब आवश्यक आदतोंको एक इकाईके अन्दर संयुक्त करना।

हस्तलेख

हस्तलेख (handwriting) सीखनेका ज्ञान और गति मिश्रित रूप है, जिसका अर्थ यह है कि किसी परिस्थितिके होने पर यह प्रतिक्रिया एक प्रत्यक्ष चेष्टा है। सबसे आदर्शलेखके परिणामस्वरूप मांसपेशियोंकी ऐसी आदतें पड़ेंगी जिससे स्पष्ट, तीव्र, सुन्दर लेख हो सके। जिन बातों पर लेखकी स्पष्टता आश्रित है वे हैं, शब्दोंकी दूरी, पंक्तियोंकी दूरी, लेखका झुकाव, अक्षरोंका रूप और परिमाण, अक्षरों और झुकावकी समानता और घुमाव-फिरावका अभाव। स्पष्टता और सुन्दरताको त्यागकर तीव्रता नहीं प्राप्त करनी चाहिए। साथ ही स्पष्टता और सुन्दरता तीव्रताके मार्गमें बाधक न हों। स्पष्ट और साफ़ लेखको जल्दी लिखनेका अभ्यास कराना चाहिए। उंगलियों, कलाई और हाथकी लिखते समयकी चेष्टाओंके चित्र लिए जा चुके हैं और किस प्रकार सर्वोत्तम लेख हो सकता है इसका पता लगाया जा चुका है। बालकोंको इन चेष्टाओंके लिए उत्साहित करना चाहिए। हाथकी चेष्टाएं प्रायः बोर्ड पर कराई जाती हैं। उंगलियोंकी चेष्टाओं से सिकुड़न पड़ जाती हैं और कलाईकी चेष्टा कठिन होती है। हाथ और उंगलीकी संयुक्त

चेष्टा सर्वोत्तम होगी। लयसे तीव्रता करनेमें सहायता मिलती है। बड़ेकी अपेक्षा छोटे अक्षर जल्दी लिखे जाते हैं, परन्तु इतने छोटे न हों कि अस्पष्ट हो जायं। अलग-अलग अक्षरका लेख देरमें लिखा जाता है, यद्यपि यह सुन्दर लगता है।

लेख वह क्रिया है जिसके द्वारा हम अपने मनके भावोंको अंकित कर लेते हैं। तीन अवस्थाएं—अपरिपक्व, मध्यम, परिपक्व—दिखाई पड़ सकती हैं। अपरिपक्व लेखकमें दृष्टिका अंकुश होता है, अक्षरके आकार पर ध्यान दिया जाता है, अक्षरके प्रत्येक भाग पर बराबर ज़ोर दिया जाता है, और उसमें कोई लय नहीं होती। मध्यम अवस्थामें अंकुश चेष्टाओंका होता है, अर्थ पर अधिकांश ध्यान होता है, ज़ोर समान नहीं होता, और लय प्रारम्भ हो जाती है। परिपक्व लेखकमें अंकुश अपने-आप होता है, पूरा ध्यान अर्थ पर होता है, ज़ोर समान नहीं होता और लय स्पष्ट दिखाई देती है। आंखके अंकुश के बिना काम नहीं चल सकता। लिखनेका लक्ष्य अर्थ समझाना है, अतः लेख लिखनेमें अभ्यास कराना चाहिए। लिखनेकी आदत और बहुत-सी आदतों पर आश्रित है। लेखन व्यक्ति-व्यक्तिमें भिन्न प्रकारका होता है और स्त्री-पुरुषोंमें भिन्न होता है। इस प्रकार लेखकोंका व्यक्तित्व पता चल जाता है। लिखनेवालोंके सामने अच्छे आदर्श रखे जा सकते हैं।

पढ़ना

सर्वप्रथम ज़ोरसे और चुपचाप पढ़नेमें अन्तर मालूम होना चाहिए। प्राचीनकाल में, जब केवल कुछ ही व्यक्ति पढ़ सकते थे, ज़ोरसे पढ़नेकी कला, ताकि पढ़ने पर सुनने वाले समझ सकें, बहुत विशेषता रखती थी। अब अधिकतर लोग पढ़ सकते हैं और छपाईके काममें पढ़नेकी सामग्रीका बहुत विस्तार कर दिया है। अतः लोग अपने लिए पढ़ते हैं और चुपचाप पढ़नेकी कला विशेषता रखती है। उच्चारण करना समझनेसे अधिक विशेषता नहीं रखती। पढ़नेकी प्रणालीमें आंखकी चेष्टाएं चित्रित कर ली गई हैं। हर एक लाइनको एक ही बारमें पढ़नेके बदले आंख आरामदायक स्थानों पर रुकती चलती है। पढ़नेकी अच्छाई तथा गति इस रुकनेकी संख्या, समय और लय, तथा ग़लतियों और नासमझीकी रुकावटों पर आश्रित है। पढ़नेकी गति समझने पर आश्रित है जो स्वयं पढ़नेकी सामग्री और उद्देश्य पर आश्रित है।

पहचाननेकी रफ़्तारके बढ़नेसे पढ़नेमें उन्नति होती है। प्रारम्भमें बालकको प्रत्येक शब्द पर ध्यान देना पड़ता है। जब पढ़नेकी तरकीब समझ लेता और उसकी शब्दावली

बढ़ जाती है तभी उसके पढ़नेमें सुधार होता है। प्रत्येक पंक्तिमें कितनी बार और कितनी देर रुकता है इस पर पहचाननेकी गति निर्भर है। गति तीव्र होनेसे इसमें कम समय कम बार रुकना होता है। तब समझमें भी जल्दी आता है। पुन: रुकनेकी संख्या घटनेसे आंखकी लयकी उन्नतिका पता चलता है। पढ़ना कई आदतों पर निर्भर है, अत: उनके एकीकरणसे ही धारावाही पढ़ाई हो सकती है। पढ़नेकी कमजोरियोंका पता लगाकर उनको दूर करनेका उचित प्रबन्ध करना चाहिए।

वर्ण-विन्यास

वर्ण-विन्यास (spelling) कुछ ज्ञानकी उत्तेजनाओंके प्रति गतिशील प्रतिक्रियाओं के द्वारा प्राप्त ज्ञानगति मिश्रित आदत है। उत्तेजना शब्दका सुनना स्मृतिमें दोहराना हो सकता है। प्रतिक्रिया वर्णोंको सुनना या लिखकर देखना है। अभ्यासकी पुनरावृत्ति से ठीक सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं और फिर यह कार्य किनैस्थेटिक (kinaesthetic) प्रणालीके सुपुर्द कर दिया जाता है। मनकी स्थिरता जल्दी ही हो जाती है, क्योंकि शुद्ध वर्ण-विन्यास बाह्य रूपसे देखा जा सकता है और सामूहिक प्रतियोगिता कराई जा सकती है, क्योंकि शुद्ध वर्ण-विन्यासको प्रमाणित भी किया जा सकता है। अत: विद्यार्थी अपने ही रिकॉर्डसे तुलना करके उत्साहित किया जा सकता है। बहुत-सी तरकीबोंसे ठीक प्रतिक्रियाओं का चुनाव और निरर्थकका त्याग कराया जा सकता है। बड़े शब्दोंके बीचके वर्ण बड़े लिखकर या रंगीन बनाकर याद कराए जा सकते हैं। सुनने और देखनेकी भूलें स्पष्ट बोलकर और बड़ा लिखकर दूर की जा सकती हैं। बीस प्रतिशत भूलें असावधानीके कारण होती हैं, उसको त्यागना चाहिए। प्राचीन विश्वास था कि रटने और अन्य कुछ नियमोंके द्वारा शुद्ध वर्ण-विन्यास आ सकता है। परन्तु स्मृतिसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। जिन्होंने कई वर्षोंसे कुछ नहीं लिखा है वह वर्ण-विन्यास भूलते नहीं हैं। परिपक्वता शुद्ध वर्ण-विन्यासका एक अकेला ही कारण है। आकर्षित करो और आवश्यकताके समय पढ़ाओ। शब्द सार्थक हो? हमें प्रति दिनके प्रयोगके शब्द सिखाने हैं। इनकी गिनती और कौन किस कक्षामें सिखाना है यह पता लगा लिया गया है। पाठ्यपुस्तकों में क्रमसे यह आते हैं। साधारण सिद्धान्तोंके अनुसार शब्दोंका समूह बना लेना और सिखाना चाहिए।

अंकगणित

अंकगणितके सम्बन्धमें हम पहले भी बता चुके हैं। इसकी श्रेणी सामान्य और सामने

आया प्रश्न विशेष है। यह बात जीवनमें इसकी उपयोगिता समझाकर और बालककी रुचि-अनुकूल प्रश्न चुनकर बताई जा सकती है। मनोविज्ञानमें अंकगणित-सम्बन्धी काम बहुत हुए हैं। इसकी प्रत्येक क्रियामें जो सम्बन्ध बनाने होते हैं उनका विश्लेषण थॉर्नडाइक ने बड़े विस्तारसे किया है। क्लैप (Clapp) ने इसके चार मौलिक नियमों के सम्बन्ध बनानेकी कठिनाइयां बताई हैं। उसका कहना है कि ३६० सम्बन्ध बनाने होते हैं, यदि बालक शुद्धता और तीव्रतासे सवाल करना चाहे। इसकी अशुद्धियोंका भी विस्तारसे अध्ययन किया गया और इसके कारणोंका पता लगाया गया है। इससे असफलताके कारणोंका पता लगाने तथा सुधारनेकी बातोंका अभ्यास करानेमें सहायता मिल सकती है।

२०

मूल प्रवृत्तियां

हमने शिक्षाकी परिभाषा व्यवहारके शब्दोंमें की है। यह अनेक सम्भावनाओं, घर तथा स्कूलकी प्रतिक्रियाओं और बहुत-सी बातोंके शिक्षणकी प्राप्तिमें व्याप्त है। यह सभी विद्वद्व्यवहार नहीं है, क्योंकि प्रत्येक बालक व्यवहारकी अनेक शक्तियोंके साथ उत्पन्न होता है जिसे सहज क्रिया, मूलप्रवृत्ति, संवेग और योग्यता कहते हैं। इनसे अज्ञान (unlearned) व्यवहार बनता है।

इन सबमें हमें भेद करना चाहिए। सहज-क्रियाएं वह प्रतिक्रियाएं हैं, जो शरीरके कुछ अंगोंको ही सीमित हैं और कुछ उत्तेजनाओंके होने पर अवश्य क्रिया रूपमें परिणत होती है। मूलप्रवृत्ति-मूलक प्रतिक्रियाएं अधिक जटिल होती हैं, क्योंकि उसमें सम्पूर्ण मनुष्य संलग्न होता है। प्रथम तो सहज-क्रिया और मूलप्रवृत्तिसे भिन्न रूपमें संवेग सारे शरीरमें विस्तृत रहता है। दूसरे संवेगमें ग्रन्थि और आंत सम्बन्धी प्रणालियां, मूलप्रवृत्ति और सहज-क्रियासे अधिक संलग्न रहती हैं। वर्तमान अनुसन्धानोंसे पता चला है कि प्रणालीरहित (ductless) ग्रन्थियां संवेग-सम्बन्धी प्रदर्शनोंमें बहुत भाग लेती हैं। तीसरे संवेग अस्तव्यस्त और असम्बद्ध होते हैं। सहज-क्रिया और मूलप्रवृत्तिके लिए हम तैयार रहते हैं परन्तु संवेग अकस्मात् आकर हमें अपने वशमें कर लेते हैं। चौथे संवेगमें अवरुद्ध गति, रुधिर-परिचलन, श्वास तथा पाचन प्रणाली सम्बन्धी शारीरिक परिवर्तन, जो स्वयं आत्म-रक्षक हैं, होते हैं। योग्यताओंमें हमारा तात्पर्य विशेषकर बौद्धिक प्रतिक्रियाओंसे है। भिन्न व्यक्तियोंमें भिन्न प्रकारकी सीखनेकी योग्यता होती है। कोई तीव्र और अन्य मन्द होते हैं। किसीको एक का शौक़ और अन्यमें दूसरी ही आन्तरिक

योग्यता होती है। कोई संगीतप्रिय, अन्य कलाप्रिय और अन्य यंत्रकला प्रिय होते हैं।

हम कह चुके हैं कि मनुष्यकी सीखनेकी योग्यता इन सहज क्रियाओं और मूलप्रवृत्तियों के तुच्छ भाग अथवा अशिक्षित और स्थिर व्यवहार पर अधिक आश्रित है, इसकी अपेक्षा कि जो भाग बुद्धि अथवा शिक्षित और अर्जित तथा स्वतंत्र व्यवहार का है। परन्तु यह बात सार्वजनिक रूपसे नहीं मानी गई है। कुछ कहते हैं कि यह वातावरण, व्यक्तिगत चुनाव और पालन-पोषण पर नहीं बरन् वंशपरम्परा प्राप्त गुण, कुटुम्ब, संचय तथा प्रकृति हमारा विकास निश्चित करते हैं। यह विवाद मंडेल तथा गाल्टन के अनुगामियोंने और भी बढ़ाया। उनका कहना है कि हममें से हरएक गाड़ी है जिस पर हमारे पूर्वज सवारी करते हैं, हमारा जीवन जन्मसे पूर्व ही निश्चित कर दिया गया है, हम ८० वर्षकी घड़ी जैसे हैं, जिनमें जन्मसे पूर्व ही चाभी दे दी गई है और समयसे अलग अपनी टिक-टिक करते रहते हैं। यदि हम यह मत मान लें तो शिक्षाकी निरर्थकता स्पष्ट हो जाय। इसके समर्थनमें बड़ी-बड़ी बातें कही गई हैं।

मेंडेल ने विभिन्न प्रकारकी मटरोंका आठ वर्ष तक परीक्षण किया और उसका लेखा सावधानीसे रखा। पहले उसने लम्बी और छोटी मटरोंका संकर (cross) किया और पहली पीढ़ीमें सब फली लम्बी ही निकलीं, अतः उसने लम्बेपनको प्रधान विशेषता कहा। परन्तु जब इनका संकर किया गया तो तीन और एक के अनुपातमें बड़ी और छोटी फली निकलीं, अतः छोटापन रुकता हुआ गुण था, जो एक पीढ़ीके पश्चात् दिखाई दिया। अगली पीढ़ीमें इन छोटी फलियोंको लगाया गया और केवल छोटी फली ही निकलीं। इन तीन लम्बी फलियोंको लगानेसे एक तो लम्बी ही निकली, और बाकी दो-दो गली निकलीं, अर्थात् अगली पीढ़ीमें तीन बड़ी और एक छोटी निकलीं। यदि मनुष्य जाति पर यह बात लागू की जाय तो बड़ी सार्थक होगी। उचित विवाह-सम्बन्धों द्वारा वांछनीय प्रधान विशेषताओंका संरक्षण किया जाय और अवांछनीयका त्याग। साधारण मनुष्योंमें यह धारणा है कि वह साधारणसे और निर्बल बुद्धिसे सम्बन्ध करता है। पिछले निर्बल बालक ही उत्पन्न करेंगे और पहले मध्यश्रेणीके, जो वांछनीय न हों। मानसिक कमजोरियों और बीमारियोंमें कौटुम्बिक बीमारियोंकी प्रवृत्ति होती है, जो कि उचित और बहुत कड़े रहन-सहनसे ही दूर हो सकती है। कुछ हद तक शारीरिक विशेषताएं, जैसे आंखका रंग, नाक की ब नावट, बालोंकी बनावट, पैतृक होती हैं।

बालकके शारीरिक और नैतिक गुणोंमें ऐसा पारस्परिक सम्बन्ध है कि लोग यह कहते हैं कि नैतिक गुण, शारीरिक गुणोंके द्वारा ही निश्चित होते हैं। चूंकि शारीरिक गुण

प्रकृति-प्रदत्त होते हैं, अतः शिक्षा या पालन-पोषणसे नैतिक गुण भी उत्पन्न नहीं किए जा सकते। मानसिक और नैतिक विषयोंमें वंश-परम्परा पर इतना विश्वास नहीं किया जा सकता था, परन्तु गाल्टन के पैतृक अपूर्व प्रतिभा-सम्बन्धी अनुसन्धानोंने यह सत्य दिखा दिया है कि महान् विभूतियोंकी कुछ विशेषताएं पैतृक होती हैं। उसको पता चला कि मनुष्यके पैतृक दोषमें माता-पिता ने आधा और बाक़ी पूर्वजोंने मिलकर इसी अनुपातमें बाक़ी आधा भाग दिया। जूक्स और कलिकाक (Jukes and Kallikaks) वंशोंके इतिहासने बड़ी खूबीसे पैतृक देनका प्रदर्शन किया है। जूक्स न्यूयार्कके एक सुस्त मछुए की, जो १,७२० में उत्पन्न हुआ था, १२०० सन्तान हैं। इनमेंसे १,०४० के विषयमें ज्ञान प्राप्त है। ३०० शिशुकालमें ही मर गए, ३१० भिक्षुक-गृहमें रहे, ४४० बीमारीसे खप गए, १३० जेल जानेवाले अपराधी हो गए, ६० चोर और ७ हत्यारे हुए। २० ने व्यापार करना सीखा, जिनमेंसे १० ने जेलमें सीखा। कलिकाकोंका इतिहास और भी अधिक प्रकाश डालता है। मार्टिन नामक एक अच्छे घरके अंग्रेज़का एक बुद्धिहीन लड़कीसे नाजायज़ सम्बन्ध था। उनकी ४८० सन्तानोंका पता चला है। बादमें उसने अच्छे घर की एक मान्य अंग्रेज लड़कीसे विवाह कर लिया। उस विवाहसे उत्पन्न ४५६ सन्तानोंका पता चला है। पहली सन्तानोंमें से १४३ बुद्धिहीन थे, ४३ साधारण, और अधिकतर बदनाम थे। पिछलेमें से सब साधारण थे और अधिकतर डाक्टर, वकील, जज और शिक्षक स्त्री-पुरुष थे। इन उदाहरणोंसे पता चलता है कि गुण और दुर्गुण दोनों ही मिटाए नहीं जा सकते। अतः गाल्टन-मतावलम्बी पूछते हैं कि शिक्षा क्यों हो?

कोई भी इस बातका विरोध नहीं करेगा कि यह एक किनारेकी स्थिति है। साथ ही यह हर्बार्ट के इस मतका खंडन करता है कि जन्मके समय मस्तिष्क कोरा होता है और शिक्षा और शिक्षक जैसा चाहें उसी सांचेमें उसके कोमल मस्तिष्कको ढाल दें। हर्बार्ट के कट्टर मतावलम्बी डा० हेवार्ड जैसे व्यक्तियोंने भी यह मान लिया है कि हर्बार्ट के इस सिद्धान्त को थोड़ा कम करना होगा। आत्मामें केवल अर्जित विचार ही नहीं होते, वरन् पैतृक धारणाएं भी होती हैं। फिर भी डा० हेवार्ड सोचता है कि यह धारणाएं इतनी परिवर्तन-शील होती हैं कि इसको चाहे जैसा मोड़ा-तोड़ा जा सकता है। अतः वह कहता है कि वंश-परम्परा प्राप्त गुण एक 'भूत' है जो गणनानिपुण व्यक्तियोंकी भावमय बातोंके परे साकार बातों पर आते ही विलीन हो जाता है। शिक्षणसे सब कुछ हो सकता है। अमेरिकन गृह-युद्ध और प्रथम महायुद्धमें ऐसी जगहोंमें गुणी पाए गए जहां कोई आशा न थी, जिनके गुण अनुचित शिक्षा और दलित सामाजिक जीवनके कारण छिपे पड़े थे। इन उदाहरणों

किया करते थे। चिल्लानेसे उसके साथी उसकी सहायताको आ जायंगे। अब यह चिल्लाना शिकारको सावधान कर देता है। यदि बुद्धि बढ़ी होती तो यह चिल्लाना बन्द कर दिया जाता क्योंकि यह सफलताका बाधक है। मनुष्यमें विभिन्न परिस्थितियां उसी मूलप्रवृत्ति मूलक प्रतिक्रियाको जाग्रत् कर सकती हैं और विभिन्न कार्य उसी मूलप्रवृत्तिके परिणाम-स्वरूप हो सकते हैं, क्योंकि उसका मन और संवेगकी अवस्था इसको निश्चित करती हैं। अत: मनुष्यकी मूलप्रवृत्तियां परिवर्तनशील होती हैं।

थॉर्नडाइक के अनुसार परिस्थिति और प्रतिक्रियाके बीचके बने बन्धन जो, मनुष्यमें स्पष्ट होते हैं, प्रोफ़ेसर जैनिंग के मेढकके विकास-सम्बन्धी अनुसन्धानोंसे समर्थित नहीं हैं। साधारण दशाओंमें कीटाणुके कोषाणुके आधे मेढकके दहिने और आधे बाएंमें विकसित होते हैं। परन्तु यदि दोनों आधोंको अलग कर दिया जाय तो पूरे मेढक बन जाते हैं। यद्यपि कुछ अवस्थाओंमें कोषाणुके उन भागोंका पता चल जाता है जो शरीरके विभिन्न अंग बनाते हैं, दक्ष शल्यकला (surgery) से एक ही कोषाणुके भागोंसे विभिन्न अंगोंका विकास किया जा सकता है। यदि शारीरिक रूपमें कोई निश्चित विधि नहीं है, जिससे कीटाणु कोषाणुसे शरीरके अंगोंका विकास होता है, तो हम कैसे निश्चित हो सकते हैं कि इसके मनोवैज्ञानिक अन्यान्य सम्बन्ध, जैसे विचार और क्रियाके बने हुए सम्बन्ध, रखे जा सकते हैं। थॉर्नडाइक ने यह सलाह दी कि मूलप्रवृत्तिमूलक प्रतिक्रियाओं और इनकी विशेष प्रकृतिको जाग्रत् करनेवाली ठीक परिस्थितियोंका अध्ययन किया जाय। ऐसे अध्ययन ने मनोवैज्ञानिकोंको प्रतीति करा दी कि जीवधारी जन्मके समय ऐसी बहुत-सी अस्तव्यस्त और असंगठित गतियां करता है जो प्रतिक्रियाओंकी इकाई हैं। इसके ऊपर वातावरणकी उत्तेजनाकी क्रियाएं प्रतिक्रियाओंकी ऐसी प्रणालियोंका निर्माण करती हैं जिसे हम मूलप्रवृत्ति कहते हैं। वास्तवमें वह आदतोंसे इस प्रकार आवृत सहज-क्रियाएं हैं कि प्राकृतिक और अर्जितमें अन्तर करना असम्भव है। अत: वॉटसन जैसे मनोवैज्ञानिककी पुस्तकमें मूलप्रवृत्ति संख्यामें बहुत कम हो गई हैं और यह शब्द ही निरर्थक हो गया है।

मूलप्रवृत्तियोंका परिवर्तनशील होना शिक्षाकी दृष्टिसे सबसे अधिक विशेषता रखता है। घोड़ेमें सिकुड़े हुए जानवरसे बचकर चलनेकी मूलप्रवृत्ति है। हम एक व्यक्तिके प्रति क्रोध या स्नेह करते हैं। वह स्वयं ही नहीं वरन् उसका चित्र भी हममें यह संवेग उत्पन्न कर देता है। इसी प्रकार पुत्र-कामना-मूलप्रवृत्ति (mother instinct) अपने ही नहीं वरन् दूसरी जातियोंके बच्चोंको देखकर भी जाग्रत् हो जाती है। बालकों-सम्बन्धी वर्तमान विधियों (laws) के बनानेका यही आधार है। प्रदर्शनमें भी इसी प्रकारकी विभिन्नता

पाई जाती है। इसी प्रकार क्रोधसे जो संवेग जाग्रत् होता है उसका प्रदर्शन कई प्रकारसे हो सकता है—घूंसा दिखाकर, छुरी निकालकर, बन्दूक तानकर, द्वन्द्वयुद्ध आदिसे। अतः प्रभाव और प्रदर्शन दोनोंमें मूलप्रवृत्तिकी क्रिया परिवर्तनशील है और बुद्धिकी निर्दिष्ट शक्ति के अन्तर्गत है। यही मनुष्य और पशुओंकी मूलप्रवृत्तिमें अन्तर है। यदि कुत्तेके सामनेसे हड्डी उठा लो तो क्रुद्ध होकर कदाचित् वह काट लेगा और खिलौना छीन लेनेसे बालक भी क्रुद्ध होगा। परन्तु वह अवसर, जिससे कुत्ता क्रुद्ध होगा और क्रुध होकर जो कुछ करेगा, जीवन भर समान रहेंगे, परन्तु बालकके सम्बन्धमें दोनों बातें और प्रतिक्रिया भी बदल जायंगी। उसका क्रोध किसी पुरातन घटनासे इतना बढ़ जाय कि वह इसका प्रदर्शन बीस वर्षकी राज्यक्रान्तिके द्वारा करे।

एक सन्दर्भसे दूसरे सन्दर्भमें मूलप्रवृत्तिमूलक प्रतिक्रियाओंके हटनेको स्थिर अवस्थाका होना(conditioning) कहते हैं। एक रूसी शरीरविज्ञानवेत्ता पावलॉव(Povlov) ने कुत्तेमें राल टपकनेकी दशाको बदल दिया था। मांस देखकर कुत्तेकी राल टपकने लगती है, उसने मांसके साथ घंटी भी बजानी शुरू कर दी। यह प्रयोग उसने इतनी बार किया कि घंटी बजते ही कुत्तेकी राल टपकने लगती, चाहे मांस सामने हो या न हो। कुत्ता घंटीकी आवाज़से स्थिर अवस्थाका हो गया था और एक प्राकृतिक प्रतिक्रियाका एक कृत्रिम परिस्थितिसे संयोग हो गया था। लोहा पीटनेकी आवाज़से शिशु डरकर कांपता और रोने लगता है। इसकी पुनरावृत्ति करते रहनेसे बालकमें डरके चिह्नोंकी प्रतिक्रिया होती है। जब खरगोश, बन्दर या गेंद दिखाई जाती है तो उसे लेनेके लिए हाथ बढ़ानेकी प्रतिक्रिया होती है। जब खरगोश दिखाया गया उसी समय लोहेके पीटनेकी आवाज़ की जाय तो डरके कारण बढ़े हुए हाथ पीछे हट जाते हैं। यदि यह चालू रहे तो बालक आवाज़के अभावमें भी खरगोशसे ही डरने लगेगा। यह स्थिर अवस्था स्थायी होकर और वस्तुओंमें भी फैल जाती है। चेकॉव (Tchekov) अपने एक चाचाकी कहानी बताता है, जिसने बिल्लीके बच्चेको चूहा पकड़ना सिखाया। उस बच्चेको एक कमरेमें ले जाया गया जिसके सब दरवाज़े और खिड़कियां बन्द थीं। तब एक चूहा छोड़ दिया गया। बिल्लीके बच्चेको इस चूहेकी कोई परवाह नहीं हुई। तब चाचा ने इसे खूब मारा। नित्य इसकी पुनरावृत्ति की गई और यहां तक कि चूहेको देखते ही वह बिल्लीका बच्चा डरने लगता था। फिर स्वतंत्र छोड़ देने पर कुछ समयमें वह चूहेको मारना सीख लेता, परन्तु इस प्रणालीसे बड़े होने पर भी वह चूहेसे डरता रहा। इसी प्रकार जिन विषयोंमें बालकोंकी रुचि नहीं है उनको दंडके ज़ोरसे

सिखानेमें बालक उनसे सदाके लिए घृणा करने लगता है। लेखकको थॉर्नडाइक की प्रयोग-शालामें स्थिर अवस्थाका होनेका अनुभव हुआ। उसे एक पर्देके पीछे बैठनेको कहा गया और उसका हाथ एक बटनसे बांध दिया गया। एक घंटी बजती थी, यदि हाथ तुरन्त ही नहीं हटा लिया जाता तो बिजलीका बड़ा कष्टप्रद धक्का लगता था। घंटी बजनेके बाद हमेशा धक्का नहीं लगता था, चाहे हाथ बटन पर ही रखा हो। परन्तु लगभग एक घंटेके बाद ऐसा हो गया कि घंटी बजते ही हाथ अपने-आप हट जाता था। यह स्थिर अवस्था स्थायी नहीं हुई, क्योंकि सात दिन पश्चात् फिर प्रयोग करने पर यह नहीं दिखाई पड़ी। स्थिर अवस्थायुक्त प्रतिक्रियाओंको अस्थिर करना सम्भव है। उपर्युक्त उदाहरणमें खरगोशके साथ शिशुको खाने और खेलनेकी वस्तुएं दी जाने लगीं तो फिर वह उसी प्रकार खरगोशको लेनेके लिए हाथ बढ़ाने लगा। पावलॉव के प्रयोगोंसे यह भी सिद्ध हुआ कि स्थिर अवस्थाके सहज-क्रियाएं पैतृक हो सकती हैं। बिजलीकी घंटी सुनकर ३०० पाठोंके पश्चात् सफ़ेद चूहे खानेकी जगह भागना सीखे। दूसरी पीढ़ीको केवल १५० पाठोंकी आवश्यकता हुई, तीसरीको १० और फिर केवल ५। शिक्षाके लिए स्थिर अवस्थाकी विशेषता स्पष्ट है। बालकोंकी मूलप्रवृत्तियां उनके वातावरणकी उत्तेजनासे स्थिर अवस्थाको प्राप्त हो जाती हैं। अतः उन्हें स्कूलमें बहुत जल्दी ले आना चाहिए। स्कूलके पूर्वकी शिक्षाके आन्दोलनका यही औचित्य है। अध्ययनके विषय रुचिकर उत्तेजनासे भरे हों।

दूसरी बात जो मूलप्रवृत्तियोंको कम स्थिर बनाती और उन्हें बुद्धिके वशमें अधिक लाती है, वह यह है कि जन्मके समय सभी मूलप्रवृत्तियां उपस्थित नहीं रहतीं। वह बालपन से बड़प्पन तक आती रहती हैं। भयकी मूलप्रवृत्ति ३ वर्षकी आयुमें, संघकी मूलप्रवृत्ति किशोरावस्थासे पहले, कामवृत्ति लगभग १२ वर्षकी आयुमें आती है। अतः जब एक मूलप्रवृत्ति पक्की होती है तब तक नर्वस-प्रवाहके बहुतसे मार्ग बन जाते हैं, जिसके द्वारा इसका प्रदर्शन हो जाता है। दूसरे यह जब पक्की होती है आचार व्यवहारके लिए बुद्धि भी क्रियाशील हो होती चुकी है। मूलप्रवृत्ति आगे बढ़ानेवाली शक्ति देती है और बुद्धि-निर्देश करती है। मूलप्रवृत्तियोंकी अनित्यता भी शिक्षाके लिए विशेषता रखती है। मूलप्रवृत्तियां जीवन भर उतनी ही शक्ति नहीं रखतीं। एक समय आता है जब उनका विकास किया जा सकता है, अन्यथा वह निराहारसे क्षीण हो जायंगी। अध्यापकका कार्य है कि गर्म लोहे पर चोट करे। एक समय आता है जब बालकोंमें चित्रकलाकी दक्षता भरी जा सकती है। सामाजिक मूलप्रवृत्तिके शिक्षणका भी एक समय होता है। परोपकारकी भावना युवावस्थामें ही जाग्रत् कर देनी चाहिए। बड़े होने पर स्पर्धाकी भावना मूर्खता-

सी ज्ञात होती है। पर्याप्त अवसर मिलनेसे ही मूलप्रवृत्तियां शक्तिशाली हो जाती हैं। वातावरण मूलप्रवृत्तियोंको उत्तेजित करता अथवा रोक देता है। इससे शिक्षाके लिए क्षेत्र खुल जाता है। अध्यापक कार्य-योग्य मूलप्रवृत्तियोंको चुनकर वातावरणके अनुकूल उनकी उन्नति कराये। यही कारण है कि लाड़ला बालक, जिसके लिए सब कुछ तैयार रहता है, उन्नति नहीं करता और अन्य बालक तेज निकल जाते हैं।

मूलप्रवृत्तियां शिक्षाके लिए अति आवश्यक हैं। यदि एक क्षणके लिए हम मनुष्यकी जहाजसे उपमा दें, तो लहर और वायुकी तुलना समाजकी रुढ़ियों और व्यवहारोंसे, एंजिन की मूलप्रवृत्तियोंसे और कप्तानकी बुद्धिसे हो सकती है। मूलप्रवृत्तियां व्यक्तिके मानसिक जीवनमें प्रारम्भिक प्रेरक शक्ति देती हैं। इनके द्वारा अध्यापक बालकसे कुछ भी करवा सकता है और इनके बिना उसकी सर्वोत्तम योजना भी बेकार हो सकती है। सीखनेकी प्रणालीमें बालकके लिए प्रतिक्रिया बहुत आवश्यक वस्तु है। इसके बिना बालकके अवधार और आचरण पर हमारा कोई वश नहीं चल सकता। प्रतिक्रिया न होनेसे तो बुरी प्रतिक्रिया होना अच्छा है। अध्यापकको मूलप्रवृत्तियोंका ज्ञान अवश्य होना चाहिए। प्रतिक्रिया और रुचि प्राप्त करनेके लिए उसे इन्हीं पर ध्यान देना चाहिए।

मूलप्रवृत्तिको नींव मानकर उन पर आदत डालनेसे यह स्थायी हो सकती हैं। यह दंड, अप्रयोग तथा स्थानापन्नतासे बदली, हटाई या परिवर्तित की जा सकती हैं। दंडका यह प्रभाव है कि कष्ट देनेवाली क्रिया बन्द हो जाती है। हम देख चुके हैं कि इसकी अपनी सीमा है, क्योंकि यह निषेधात्मक है, और इसका परिणाम स्थायी नहीं हो सकता। हमें यह भी नहीं पता है कि किस बातके लिए कितने दंडकी आवश्यकता होती है। इसका उलटा भी ठीक है, अर्थात् आनन्द-प्राप्तिसे कार्यकी पुनरावृत्ति होती है। अंधेरेसे डरनेवाले बालकको दंड मिलता है और जब वह नहीं डरता तब इनाम मिलता है। अप्रयोग एक विरोधी वातावरण की शक्ति पर आश्रित है जो खराबको निकाल फेंके और अच्छा वातावरण दे सके। यह प्रणाली निश्चयात्मक नहीं है, क्योंकि हम नहीं जानते मूलप्रवृत्ति कब आयगी और कब विकसित होगी, ताकि हम परिस्थिति-अनुकूल कार्य कर सकें। स्थानापन्नताकी प्रणाली में मूलप्रवृत्तियोंका सामान्य और प्रत्येक बालकका विशेष ज्ञान आवश्यक है। इसमें समय और व्यक्तिगत ध्यानकी अत्यधिक आवश्यकता है। परन्तु प्रणाली निश्चयात्मक और मितव्ययी है, क्योंकि यह प्रकृतिदत्त शक्तिका प्रयोग करती है और शिक्षाके योग्य है। अंधेरेसे डरनेवाले बालकके लिए सोनेका समय कहानी सुनाकर आनन्ददायक बनाया जा सकता है।

मूलप्रवृत्तियोंके विभिन्न प्रकारसे वर्गीकरण किए गए हैं, जैसे व्यक्तिगत, पुत्रकामना (parental), सामाजिक और अनुकूल बनानेवाली (adaptive), हम सबको नहीं ले सकते। सबसे आवश्यक अनुकूल बनानेवाली मूलप्रवृत्तियां हैं, जिनका कार्य जीवधारी को वातावरणके अनुकूल बनाना है। इसमें खेल, अनुकरण, जिज्ञासा, संग्रहवृत्ति और रचनावृत्ति हैं। हम संक्षेपमें इनकी प्रकृति और उनको शिक्षित करनेकी विधियों पर विचार करेंगे।

जिज्ञासा. जिज्ञासा विचारका आधार है। प्लेटो ने कहा है कि 'सारा दर्शन आश्चर्य से प्रारम्भ होता है'। यह विश्व-जीवन और सम्पूर्ण ज्ञानकी लालसा है। परन्तु ज्ञानका आधार होनेके पहले बालपनके अपक्व रूपसे इसे सुधार लेना चाहिए। ड्यूई ने तीन अवस्थाएं मानी हैं—(१) स्थूल जिज्ञासा (Physical curiosity)—इसेही लगभग क्रियाशील होने और अनुसन्धानकी धारणा समझो। बालक सदा तोड़ता-फोड़ता झांकता, उठाता-धरता रहता है। इससे वस्तु-सम्बन्धी ज्ञान बढ़ता और उनके गुण मालूम हो जाते हैं, जो कि ज्ञानका मूल हैं। (२) सामाजिक जिज्ञासा—जब बालकको यह पता चल जाता है कि बहुत-सी वस्तुओंका ज्ञान दूसरोंसे पूछकर प्राप्त हो सकता है तो वह यही करता है। वह हर समय क्यों, क्या, कैसेके प्रश्नोंसे परेशान कर देता है। वह वैज्ञानिक व्याख्या नहीं चाहता, परन्तु यह भी केवल शारीरिक क्रियाशीलताका ओतप्रोत होना है, जो पहले दूसरी प्रकारसे चीजोंके उठाने-धरनेमें दिखाई पड़ती थी। अब दुनियांसे अधिक परिचय प्राप्त करनेकी खोज है। इससे ही आगेकी बुद्धि-सम्बन्धी जिज्ञासा आती है, क्योंकि एक यह भावना रहती है कि वस्तुओंका बाह्य रूप ही कहानीको समाप्त नहीं कर देता। (३) बौद्धिक जिज्ञासा—यह तब होती है जब निरीक्षणकी वस्तुएं समस्याओंकी उत्पत्ति करती हैं और दूसरोंसे पूछनेसे हल नहीं वरन् विचारसे हो सकती हैं। यह एक मूलप्रवृत्ति है, इसको सावधानीसे विकसित करना चाहिए। कुछ लोगोंमें यह इतनी तीव्र होती है कि कड़ी फटकारसे भी नहीं दबती। अन्य लोगोंमें ऐसी अस्थायी होती है कि थोड़ेसे भी निरुत्साहसे दब जाती है। बड़े होने पर असावधानी, स्वार्थ, नित्यके कार्यक्रम, गपशप, आदिके कारण जिज्ञासा छोड़ देते हैं। अध्यापकका कार्य है कि इसको जाग्रत् रहने दे और बुझने न दे। स्कूलमें जिज्ञासा कुछ मूलप्रवृत्तिमूलक धारणाओंको रोकने तथा उनका मार्ग बदलनेमें सहायक होती है। यदि अध्यापक किसी एक विषयमें वास्तविक रुचि उत्पन्न करा सकता है, तो वह उसको अन्य बातोंसे रोक देता है, जैसे स्कूलसे भागनेकी प्रवृत्ति रुक जाती है।

अनुकरण. यह दूसरोंके जैसा कार्य करनेकी धारणा है। यह सीखनेमें सबसे बड़ी चीज़ है। जैसे चलनेका सरल उदाहरण लो। जिसने कभी किसीको चलते हुए नहीं देखा उसके लिए यह बहुत कठिन कार्य होगा। बालकोंमें अनुकरणकी मूलप्रवृत्ति बहुत क्रियाशील होती है, क्योंकि नई चीज़का अनुकरण होता है, और उनके लिए सब चीज़ नई होती है। अनुकरण पांच प्रकारके होते हैं और बालक जीवनकी अनेक अवस्थाओंमें विभिन्न परिणाममें उपस्थित रहते हैं। (१) सहज अनुकरण (reflex imitation)--यह सबसे पहले दिखाई पड़ता है। बालक रोता है, इसलिए नहीं कि उसे चोट लगी है वरन् इसलिए कि वह अन्य बालकको रोते देखता है। (२) स्वेच्छानुरूप अनुकरण (spontaneous imitation)–यह सहजक्रियासे ही सीमित नहीं है। बालक ताली बजाते या सिर हिलाते देखकर वही करता है, परन्तु कदाचित् दोनोंका प्रयोजन भिन्न होता है। अर्थात् प्रयोजनका अनुकरण नहीं किया गया है। (३) ऐच्छिक अनुकरणमें प्रयोजन ज्ञात होता है और अनुकरणका उद्देश्य उस प्रयोजनकी प्राप्ति है, जैसे किसीको मना ही करनेके लिए सिर हिलाते देखकर वह भी यही करता है। यह अनुकरण तृतीय वर्षके पश्चात् होता है। (४) नाटकीय अनुकरण–तीनसे सात वर्षकी अवस्थामें दिखाई पड़ता है। इसमें कल्पना का बहुत बड़ा भाग है। यही कारण है कि बालक जो कुछ देखते उसीका अनुकरण करते हैं। शिक्षाकी नाटकीय विधि अथवा कुछकी 'खेलकी विधि' (play way) का यही औचित्य है। (५) आदर्शवादी अनुकरण—यह किशोरावस्थासे पहले अधिक विशेषता नहीं रखता। यहां व्यक्ति कोई काल्पनिक अथवा वास्तविक व्यक्ति जिसे अपना आदर्श बना लिया है, उसके कार्यके द्वारा व्यक्तिके कार्य भी निश्चित होते हैं। यह आदर्श पहले तो अपने वातावरणसे और फिर साहित्य और इतिहाससे लिए जाते हैं। पिछले आदर्श मायाजालसे मुक्त होनेका लाभ रखते हैं, जो बात तात्कालिक वातावरणसे प्राप्त आदर्शों में नहीं होती। इस प्रकारका अनुकरण अच्छा होता है, क्योंकि कदाचित् एक अच्छा लड़का सारी कक्षाको अच्छा बना दे। यद्यपि यह पांच प्रकार आयुके क्रमसे दिए गए हैं, पर बालक के बड़े होने पर पहलेवाले नष्ट नहीं हो जाते। जैसे सहज अनुकरणका यह उदाहरण मिलता है कि किसी सभा, कीर्तन आदिमें यदि एक व्यक्तिको खांसी आती है तो औरोंको भी आने लगती हैं। इसका कोई कारण नहीं होता।

अनुकरण सीखनेका संक्षित मार्ग है। एक युगकी भाषा, साहित्य और ज्ञान अनुकरण के द्वारा ही दूसरे युगके व्यक्ति सीख लेते हैं। कक्षामें अध्यापक वेशभूषा, आचरण, चरित्र, शिक्षा तथा अन्य सभी गुणोंमें आदर्श हो। अध्यापक बालकोंके समूहसे एक साथ ही कार्य

कराए। वह प्रत्येक कार्यमें अच्छा नमूना दे। उसे यह कभी नहीं कहना चाहिए कि जैसा किताबमें लिखा है वैसा करो, बल्कि 'आओ चलो मैं बताऊं'। अध्यापकके दृष्टिकोणसे यह बात सबसे अच्छी है कि 'उपदेश दी बातका स्वयं अभ्यास करे'। यदि अध्यापक कहता अच्छा और करता बुरा है तो उसकी क्रियाका अनुकरण होगा, उसकी कही बातका नहीं। अतः अनुकरण आचारयुक्त जीवनका मित्र है। स्कूलका रूप केवल अनुकरण द्वारा रखी गई रूढ़ि है, जो उत्तम अध्यापकों और तेज़ लड़कोंके उदाहरणके प्रति वर्षके अनुकरणके द्वारा बनी हुई हैं। इससे नए बालक तुरन्त उसीको मानने लगते हैं। नए व्यक्तित्वके समय-समय पर आनेसे यह रूप बदलता भी रहता है।

रचनावृत्ति. निम्न श्रेणीके जीवोंसे मनुष्यकी भिन्नता दो बातोंमें दिखाई पड़ती है—उसकी वाग्शक्ति और हाथ प्रयोग करनेकी शक्ति। पहली बातकी मनोवैज्ञानिक विशेषता हम बता चुके हैं। दूसरी बातसे हम रचनावृत्ति और हस्त-व्यापार (manipulation) पर आते हैं, जिस पर अब हम विचार करेंगे। बालपनके आठवें-नवें वर्ष तक हम कह सकते हैं कि बालक चीज़ोंको उठाता-धरता, तोड़ता-फोड़ता और उसकी बातोंको जाननेकी चेष्टा करता है। रचना और विनाश दोनों इसी प्रणालीके अंग हो जाते हैं। दोनोंका एक ही तात्पर्य है, अर्थात् परिवर्तन लाना।

बर्ट्रेंड रसेल का कहना है कि रचनावृत्तिका शरीरसे भी अधिक मनके शिक्षण पर प्रभाव पड़ता है। बालक विनाशसे प्रारम्भ करता है, क्योंकि यह अधिक सरल है। बालक अपने बड़ोंसे ताशके घर बनानेको कहता और बन जाने पर उन्हें तोड़ देता है। परन्तु जब वह स्वयं बनाना सीख जाता है तब उसे तोड़ना अच्छा नहीं लगता। इस बातसे दूसरोंकी चीज़ोंकी रक्षा करना सिखाया जा सकता है। बालक अपनी मांके बगीचेमें पौधे उखाड़ना चाहता है, परन्तु यदि उसे भी ज़मीनका एक टुकड़ा बोनेके लिए दे दिया जाय तो वह इसका श्रम और प्रयत्न समझने लगेगा और ऐसा नहीं करेगा। रुचिकर बालकोंकी विचाररहित क्रूरता रचना और विकासमें बदली जा सकती है। जानवरोंको मारने के स्थान पर पालतू करना सिखाया जा सकता है। यदि बालकोंकी शिक्षामें रचनावृत्ति पर ज़ोर दिया जाता तो युद्धमें इच्छासे सम्पत्तिका इतना विनाश न किया गया होता। बर्ट्रेंड रसेल का विचार है कि उच्चकोटिकी साहित्यिक शिक्षासे क्रूरता उत्पन्न होती है, क्योंकि यह स्थापित रूढ़ियोंमें ही रहना सिखाती है। इसमें रचनात्मक प्रयत्नोंके लिए स्थान नहीं रहता। परन्तु विज्ञान निरन्तर बदल रहा है और विद्यार्थी यह विश्वास बना सकता है कि परिवर्तन अवश्यम्भावी है और उसके लिए अनुभवोंको भी फिरसे बनाना होता है।

स्थूल दृष्टिसे शिक्षाका उद्देश्य ऐसा व्यक्ति बनाना होना चाहिए जिसके पास अनुभव करनेको हृदय, योजना बनानेके लिए मस्तिष्क और कार्यरूपमें परिणत करनेके लिए हाथ हों। हस्तकलाकी जड़ हस्त-व्यापार और रचनाकी मूलप्रवृत्तिमें है। इसका उद्देश्य ठोस क्रियाके शब्दोंमें सोचनेकी आदत डालना और आवश्यक उपकरणकी भांति, जिससे प्रयोजन की सिद्धि हो सके, हाथोंको मस्तिष्कके वशमें रखना है।

हस्तकला-सम्बन्धी क्रियाओंको प्रारम्भ करनेके लिए बहुतसे कारण दिए गए हैं। जैसा कि हमने देखा है कि प्रदर्शन प्रभावका प्राकृतिक सहकारी है। यह बौद्धिक अध्ययनके अन्दर शारीरिक क्रिया लानेकी विधि है। कुछ उदाहरणोंमें शारीरिक क्रियाओंके द्वारा बौद्धिक क्रियाएं भी विकासको प्राप्त होती हैं। इस प्रकार हम स्थूल वातावरणसे बिलकुल परिचित हो जाते हैं। इससे निरीक्षणकी आदतें भी बढ़ती हैं। मौखिक वर्णनकी संदिग्धताएं भी ऐसी क्रियाओंसे दूर हो जाती हैं। इससे यथार्थता आ जाती है, क्योंकि जब आप एक काम कर रहे हैं तब या तो वह ठीक ही होगा या ग़लत। इससे ईमानदारी भी आती है, क्योंकि यदि आपने कोई बुरा काम किया है तो आप शब्दोंकी भांति इसे नहीं छिपा सकते। इससे आत्म-विश्वासकी आदत पड़ती है। बालकोंमें रुचि उत्पन्न होनेसे नियम सिखानेकी आवश्यकता नहीं रहती। इसका प्रायोगिक मूल्य भी है कि हस्तकला औद्योगिक शिक्षाकी नींव डाल देती है। इससे कलाका गुणागुण-ज्ञान भी आ जाता है।

यह बताया गया है कि हस्तकला-शिक्षण सरलसे जटिलकी ओर हो। यह क्रम तर्क-युक्त है मनोवैज्ञानिक नहीं और नियम निष्ठताकी ओर ले जाता है, जैसे ड्राइंगमें जहां सम्पूर्ण चित्रोंके पूर्व सरल और वक्ररेखा खींचना सिखाया जाता है। मनोवैज्ञानिक क्रम का अनुसरण करना चाहिए। बालकको उसकी रुचिकी चीज़ बनानेको दी जाय, इससे वह कठिनाइयों पर भी विजय पा लेगा। यह प्राकृतिक क्रम भी है। मनुष्य-जातिने पहले चीज़ बनाई और बादमें इसकी यंत्रकला (technique) निकाली। कुछ लोगोंने यह प्रश्न किया है कि हस्तकला एक विषय है या प्रणाली। जो इसे प्रणाली कहते हैं उनका विचार है कि यह प्रदर्शन और रेखागणित तथा इतिहास जैसे विषयोंमें चित्रण करनेके लिए बहुत विशेषता रखती है। 'करके सीखना' भी इसमें हो जाता है। अतः यह कहा गया है कि इसे अन्य विषयोंसे सम्बद्ध करके सिखाना चाहिए। अन्य कहते हैं कि यह स्वयं ही सीखने-योग्य विषय है। इसमें क्रिया रुचिका केन्द्र हो जाती है। वह कहते हैं कि हस्तकलाके विषयोंसे ऐसी दक्षता आती है जो अत्यन्त आवश्यक है। यह दो मत असंगत हैं। यदि कार्य कार्यके लिए ही किया जाता है तो मशीनकी भांति हो जाता है, और यदि

मानसिक शिक्षाको जाग्रत् करनेके लिए यह गतिशिक्षा हो तो इससे प्रयोजन-सिद्धि नहीं होती।

खेल. चेतन-क्रियाके तीन रूप हैं—खेल, काम और धंधा (drudgery)। खेल स्वतंत्रतामें चेतन-क्रिया है। जो बालक लकड़ीको घोड़ा बनाकर उस पर सवार होता है, वह संसारकी वास्तविकतासे सीमित नहीं है, वह कल्पना-जगत्में रहता है और क्रियाशीलता ही उसका पारितोषिक है। काम वह चेतन-क्रिया है जो अपने उद्देश्यकी पूर्तिके लिए होती है। जैसे चमार चाहे जैसा और जितना बड़ा-छोटा जूता बनानेके लिए स्वतंत्र नहीं है। क्रिया और फल समान आनन्ददायक होते हैं। धन्धा वह चेतन-क्रिया है जिसका लाभ कर्ताको स्पष्ट नहीं है। इसका बहुत प्राचीन उदाहरण उस पिताका है जिसने अपने पुत्र से ईंटोंका भार बार-बार घरसे बाहर और बाहरसे अन्दर लदवाया था। जब वह ईंटें बाहर लाकर रख देता और सोचता कि मेरा काम पूरा हुआ तब ही उसका पिता उसे अन्दर ले जानेका आदेश देता। खेल और कामका अन्तर विषय नहीं वरन् कर्ताके आधार पर किया जा सकता है। जब एक व्यक्ति क्रियाको बिना किसी उद्देश्य के उसीके लिए करता है तब उसकी खेलकी धारणा कही जायगी, परन्तु क्रिया के अतिरिक्त दूसरी बातमें रुचि होते ही वह कामकी धारणा बन जायगी। अतः खेल काम और काम खेल बन सकता है। जैसे टेनिस खेलनेवालोंके लिए वह खेल और सिखानेवालेके लिए वह काम है। यदि हम यह कहें कि अनिवार्यता कामको खेलसे भिन्न करती है तो हमें बहुतसे ऐसे श्रम दिखाई पड़ेंगे जो व्यक्तियोंने जानबूझकर अपने ऊपर लिए हैं, जैसे वैज्ञानिक, राजनीतिज्ञ, अनुसंधानकर्ता आदि। हम यहां तक कह सकते हैं कि दुनियांके बहुतसे बड़े काम उन व्यक्तियोंने किए हैं जिन्होंने बिना बाहरी दबावके अपने आप ही अपने ऊपर काम ले लिए। यदि पारितोषिक तत्व है तो उससे काम और खेलमें अन्तर हो जाता है। कुछ लोग कामको कामके लिए ही करते हैं, जैसा कि खेलके साथ है। जब हम खेलकी तरफ़से बढ़ते हैं तो यह प्रायः काम हो जाता है, जैसे लड़केको स्कूलमें आधा घंटा क्रिकेट खेलना ज़रूरी है। हम यह भी नहीं कह सकते कि कार्यमें गम्भीरता और कठिन प्रयासकी आवश्यकता है, जो कि खेलमें नहीं होती; क्योंकि बहुतसे लड़के कामसे भागकर खेलमें बड़ी गम्भीरतासे भाग लेते हैं। बहुतसे व्यक्ति जैसे वैज्ञानिक और लेखक बचपनसे ही अपने खेलनेके समयमें संग्रह करते और लिखते हैं। इन उदाहरणोंमें, यह कब खेलसे काममें बदल जाता है, ऐसा भेद नहीं बनाया जा सकता। यदि हम खेलको आनन्द-दायक कहें और कामको नहीं तो कभी-कभी खेल भी आनन्ददायक नहीं होता। घंटों

जलती धूपमें क्रिकेटमें फ़ील्ड करते रहना आनन्ददायक नहीं होता। दूसरी ओर यह कि आनन्ददायक काम अच्छी तरह किया जाता है। अतः यह कहना होगा कि प्राचीन विचारकोंने खेल और काममें आवश्यकतासे अधिक भेद कर दिया है। सबसे उच्च काम, कलाकारका तथा लेखकका, आनन्ददायक होनेके कारण किया जाता है। अतः हम कामको भी उस क्षेत्र तक ऊंचा उठा दें जहां यह खेल बन जाता और अपना ही पारितोषिक होता है, क्योंकि यह आन्तरिक कामनाको सन्तुष्ट करता है, पारितोषिकको आशा और दंडके डर से नहीं। प्राचीन शिक्षा कहती थी कि 'कामके समय काम करो और खेलके समय खेलो', आजकलकी कहती है 'खेलतेमें काम करो और काम करतेमें खेलो'।

प्राचीन शिक्षामें अधिकांश धन्धा होता था, जिससे बालक जीवनके वास्तविक धन्धों के लिए तैयार हो जायं। यदि ऐसा नहीं तो कमसे कम स्कूलके कामको इतना गम्भीर तो बना ही देते थे कि बालक वयस्क जीवनके लिए तैयार हो जायं। नई शिक्षाने खेलकी प्रवृत्तिका लाभ माना। प्राचीन शिक्षा खेलके बिलकुल विरुद्ध थी और स्कूलको गम्भीर प्रयोजनका स्थान मानती थी, नया शिक्षक स्कूलको बालककी प्रसन्नताका स्थान बनाने पर ज़ोर देता है ताकि वह वहांसे छुट्टियोंमें भागनेके लिए लालायित न हो जाय। यह विचार-परिवर्तन बहुत-सी परिस्थितियों पर आश्रित है। यह पता लगा है कि बालककी सबसे अधिक प्राकृतिक क्रियाओंकी विशेषता खेलकी धारणा है। अतः यह शिक्षाके लिए आवश्यक है कि इस क्रियाके ढेरको शत्रु बनानेके बदले मित्र बना ले; यदि दबा दिया गया तो बड़ी उम्रमें ग़लत रास्तोंसे न निकले। यदि ठीकसे इस पर व्यवहार किया गया तो यह ऐसा साधन बन जायगा जिससे शिक्षाका उद्देश्य प्राप्त किया जा सके। हमने काम और खेलमें क्रियाका भविष्यसे जो सम्बन्ध है उस परिमाणमें अन्तर किया है। बालक भविष्य में दूर तक नहीं देख सकता। यदि कोई चीज़ उसमें रुचि उत्पन्न करा सकती है तो उसका सम्बन्ध वर्तमानसे होना चाहिए। पहाड़े जीवनमें बहुत लाभकारी हों पर बालकको उसमें रुचि नहीं होती। जब खेलके रूपमें प्रदर्शित किए जाते हैं तो आनन्ददायक होनेके कारण सीख लिए जाते हैं। अतः जीवनकी गम्भीर बातोंको भी खेलके रूपमें ही सम्मुख रखना चाहिए।

खेलकी मूलप्रवृत्तिके उद्गम और प्रकृतिके सम्बन्धमें मनोवैज्ञानिकोंने जो जांच की है उसने हमें शिक्षामें इसकी विशेषता बताई है। हर्बर्ट स्पेंसर का कहना था कि खेल शक्ति के आधिक्यके कारण होता है। अपनी आवश्यकताकी वस्तुको प्राप्त करनेमें उनकी शक्ति व्यय नहीं होती, क्योंकि उनके मां-बाप उनके लिए सब कुछ कर देते हैं, अतः वह खेलमें

निकलती है। यह सिद्धान्त ठीक नहीं है, क्योंकि हम शक्तिके आधिक्य पर ही नहीं खेलते वरन् थक जाने पर भी खेलते हैं। खेलके वास्तविक रूपके विषयमें कुछ नहीं बताया गया है। स्टेनले हॉल का कहना है कि खेल संक्षेप अथवा अवशेष है, जो हमारे लिए आज खेल है वह पुराने ज़मानेमें बड़ी गम्भीर चीज़ थी। कार्लग्रूस का कहना है कि खेल पहले से तैयार करनेवाला और जाननेवाला (anticipatory) है, उसका निरीक्षण है कि खेलनेकी प्रवृत्ति उन जानवरोंकी विशेषता है जिनमें बालपन बहुत बड़ा होता और यह खेलमें अनुकरणका रूप ले लेता है, जो बादके जीवनमें गम्भीर क्रिया बन जाता है। कुत्ते का बच्चा अपने भाईका पीछा करता और छेड़ता है, बिल्लीका बच्चा ऊनके गोलेको शिकार बनाता है, और इस प्रकार बादके शिकार करनेकी सब गतियोंको सीख लेता है। छोटी लड़की गुड़ियासे मां का-सा व्यवहार करके मां के कर्त्तव्योंको सीख लेती है। यदि खेल जीवनकी गम्भीर बातोंकी तैयारी है तो शिक्षामें इसका महत्त्व स्पष्ट है।

खेलको शिक्षाका दास होना चाहिए। हम यह नहीं कहते कि यह सब खेल हो और गम्भीर बात कुछ भी न हो। भविष्यके लिए वांछनीय बातें अवश्य की जायं, परन्तु वह वर्त्तमानमें भी सुखकर हों। भूगोल पढ़ना-लिखना योग्य जीवन बितानेके लिए आवश्यक है। यह रूखी तरह भी सिखाई जा सकती है, खेल-खेलमें रुचिकर बनाकर भी। बालककी मूलप्रवृत्ति कहती है कि पिछली विधि काममें लाई जाय। वर्तमान स्कूल खेलको अधिक से अधिक काममें लाते हैं। किंडर गार्टनमें संख्या, आकार और रंग खेलके द्वारा सिखाये जाते हैं। रेतके ढेर, मिट्टीके खिलौने और पर्यटन के द्वारा भूगोल सिखाते हैं। बाग लगाना, जानवर पालना, चिड़ियाघर और गांव घूमने जाना प्रकृति-अध्ययन सिखाते हैं। चित्रों, सिनेमा आदिके द्वारा अमूल्य ज्ञान मिलता है। यह विभिन्न विषयोंको रुचिकर रूपमें सिखानेके साधन हैं। शिक्षा-सम्बन्धी पर्यटन केवल पिकनिक नहीं है। अध्यापक पहले उन विषयोंको पढ़ायें जिनका निरीक्षण करना है, और लौटने पर देखें कि उनके उद्देश्य पूरे हुए या नहीं।

भय (Fear). यह एक संवेग है। यह कुछ शारीरिक अवस्थाओंके साथ होता है। इससे क्रिया शक्तिहीन होती और हृदयकी धड़कन हलकी हो जाती है। साथ ही क्रिया बढ़कर रुधिर-परिचलन और श्वासको तेज़ करती है। इस प्रकार एक अवस्था दूसरेके लिए बाधक होती, यहां तक कि कष्ट होता और मृत्यु तक हो जाती है। सांप इस प्रकार चिड़ियोंको आकर्षित कर लेता है और आदमी भी डरके कारण नहीं भाग सकता। स्कूलमें डरको उचित अस्त्र मानकर उस पर विश्वास नहीं करना चाहिए। यह बालकको चुप करता

और जो कुछ उसने सीखा है वह भी भुला देता है। दूसरे अध्यापक या माता-पिता, जिससे भी बालक डरता है, उसके साथ वह मित्र-भाव नहीं रख सकता जो अच्छे प्रभाव का आधार है। भय प्रायः कल्पनाका भी परिणाम होता है। जब अपने पास कोई मूल्यवान् वस्तु होती है तब चोरका डर लगता है। अतः कल्पना करनेवाले बच्चोंको अधिक डर लगता है। भय अज्ञातका भय होता है और ज्ञान-प्राप्तिसे भाग जाता है। रहस्यमय वस्तुका डर व्याख्यासे दूर हो जाता है। जब कुछ बातोंकी व्याख्या कर दी जाती है तो बालक यह समझने लगता है कि और बातोंकी भी कुछ व्याख्या होगी और इस प्रकार उसका डर भागने लगता है। इससे धीरे-धीरे वैज्ञानिक रुचि बढ़ाई जा सकती है। प्राचीन कालमें भयका बड़ा भाग रहा है, विशेषकर जब मनुष्य अपने जीवनको हथेली पर रखे घूमते थे। इसका अर्थ यह नहीं कि हम उन्हें भयानक चीजोंका डर सिखाएं। उन्हें परछाईंसे डर लगता है, परन्तु जब हम अपने हाथसे दीवाल पर परछाईं बनाते हैं तो उनका डर भाग जाता है। अपरिचितको परिचित बनाकर डर दूर किया जा सकता है। इन उदाहरणोंमें शक्तिका प्रयोग भी किया जा सकता है। जैसे बलात् नहलाकर लहरोंका डर निकाला जा सकता है। खतरोंकी उचित शंका आवश्यक है, डर नहीं। बालकको ऊंचाईका डर होना चाहिए, यह उसको साधारण ऊंचाईसे गिरनेके दुष्परिणाम दिखाकर किया जा सकता है। हम अपने स्वभावमें से डर निकाल नहीं सकते परन्तु इसका रूप बदला जा सकता है। यह हमें भयके सामाजिक मूल्यकी ओर ले जाता है और इस प्रकार शासन-क्रम (discipline) के लिए बड़ा लाभकारी है। कई अवस्थाओंके बाद भयकी मूलप्रवृत्तिका शासन-क्रम और नैतिक निर्णयमें विकास होता है। बालक अन्धेरे कमरेमें भोजन चाहता है पर डरता है। दूसरी अवस्थामें उसे भय है कि उसका पिता उसे डरनेके लिए दंड देगा। तीसरी अवस्थामें वह लज्जित होता है कि यदि उसे भोजन नहीं मिला तो उसे दंड मिलेगा। चौथी अवस्थामें वह इस बात पर लज्जित होता है कि कदाचित् उसके माता-पिता उसे डाटें। पांचवीं अवस्थामें वह भोजन इसलिए मंगा लेता है कि लोग उसे कायर न समझें। छठी अवस्थामें वह इस बात पर लज्जित है कि यदि अन्य लड़कोंको उसके भयके विषयमें पता चल गया तो वे क्या सोचेंगे। अन्तिम अवस्थामें वह अपने ही आदर्शों और आलोचनाओंसे डरता है। इस प्रकार भयकी मूलप्रवृत्ति नैतिक आत्म-शासनमें उन्नत की जा सकती है।

निर्देश (Suggestion). यह उस प्रणालीका नाम है जिसमें एक व्यक्ति किसी बात पर विश्वास करके प्रायः कार्य रूपमें परिणत भी कर देता है, बिना किसी विशेष

कारणोंके वरन् केवल दूसरोंके कहनेसे या उनके प्रभावमें आकर। अतः निर्देश एक संचार-प्रणाली है, जिसमें इसे ग्रहण करनेके तर्कके अभावमें संचारित बातको ग्रहण कर लिया जाता है। यह सम्मोहनकी किसी न किसी अवस्थामें बहुत तीव्र रूपमें उपस्थित रहता है। परन्तु साधारणतः हम सबमें ही कुछ न कुछ निर्देशित होनेकी योग्यता होती है। युवा व्यक्ति जल्दी निर्देशित होकर फलस्वरूप धोखेमें आ जाते हैं।

जिन व्यक्तियोंमें अधीनताकी प्रवृत्ति अधिक होती है उनमें इसका प्रभाव बहुत पड़ता है। इस अवस्थामें वह लोग मान्य व्यक्तियोंके कथन और बातोंको बिना उन पर विचार किये ही ज्योंका त्यों मान लेते हैं। बच्चे अपने मां-बाप और अध्यापकके प्रभावमें रहते हैं, अतः निर्देश मान लेना स्वाभाविक है। वह अभी विवेककी उस अवस्थाको नहीं पहुंचे हैं कि किसी बात पर तर्क करके उसे ग्रहण करें। अतः यह वह काल है जब अध्यापक तथा अन्य व्यक्ति, जिनका उनपर प्रभाव हो, उनमें अच्छे नैतिक नियम सिखा दें, जिनके गुण वह अभी समझ नहीं सकते। एक दूसरी बात यह है कि यदि बालक किसी अध्यापकसे चिढ़ गये हैं तो उसका कहना कभी नहीं करते और उसकी शिक्षाके विपरीत ही कार्य करते हैं। इसे विपरीत-निर्देश कहते हैं। अतः उपदेश देना बन्द करना चाहिए, क्योंकि ऐसे अध्यापक कम होते हैं जिनको वास्तवमें बालक उच्च मानते हों। यह अध्ययन के पाठोंके द्वारा ही सिखाना चाहिए। शासन-क्रम (discipline) में भी निर्देश अच्छी चीज़ है, यह आज्ञासे अच्छी है। प्रारम्भमें आज्ञा दी जाय और धीरे-धीरे इसका स्थान निर्देश ले ले। परन्तु निर्देशमें हम इसका कारण नहीं देते और इस प्रकार यह सलाह बन जाती है। अन्तमें यह भी बेकार हो जाती है और बालक नैतिक बातोंका स्वयं कर्ता हो जाता है। निर्देशका प्रयोग विज्ञानमें बिलकुल नहीं और इतिहास, गणित तथा साहित्यमें बहुत कम होना चाहिए, क्योंकि इससे अनुसन्धान समाप्त हो जाता है। बालक खोज करें और अपने परिणाम निकालें। प्रश्न करते समय निर्देश करना भी ग़लती है। प्रश्नके रूपमें निर्देश करके कभी-कभी बालकोंसे हम ग़लत उत्तर प्राप्त कर लेते हैं। इससे वह जालमें फंस जाते हैं, यदि उनको उन्हींके ऊपर छोड़ दिया जाय तो ठीक उत्तर प्राप्त कर लेंगे।

अवधान (Attention)

इसके पहले कि अध्यापक जो कुछ कहे, बालकको सुनाये या आज्ञा-पालन कराये, उसका अवधान प्राप्त करना चाहिए। हर क्षण हम अपने चारों ओरसे अनेकों

उत्तेजनाएं प्राप्त करते रहते हैं। मस्तिष्क सबमें एक साथ ध्यान नहीं लगा सकता। कोई एक चीज़ चेतनाका केन्द्र बन जाती है और अन्य वस्तुएं तट पर रहती हैं। अनेकों उत्तेजनाओंमें से मस्तिष्क एक को चुन लेता और उसी पर अपना ध्यान लगाता है। अवधान चेतनामें केन्द्रित रहता है। सारे मस्तिष्ककी तुलना एक ऐसे पर्वतसे की गई है जो ऊपरसे देखा जा रहा है और जिसके कन्धेके चारों ओर कॉलरकी भांति बादल ह, बादलोंमें से निकली हुई चोटी चेतनाका वह अंग प्रदर्शित करती है जो अवधान-क्षेत्रमें है। यदि हम वह नियम जान लें जिसके द्वारा मस्तिष्क अपने आन्तरिक केन्द्रके लिए अनुभवोंका चुनाव करता है तो हम जो भी पढ़ाते हैं उसके प्रति उचित अवधान प्राप्त कर लेंगे।

सब अवधान एक ही प्रकारके नहीं होते। कमसे कम तीन प्रकारके दिखाई पड़ते हैं। सबसे पहले तो निष्क्रिय या अनैच्छिक अवधान। बहुत-सी ऐसी वस्तुएं होती हैं जो बरबस ध्यान खींच ही लेतीं हैं। आकस्मिक, नई, तीव्र और बार-बार आनेवाली उत्तेजना हमारा ध्यान आकर्षित कर लेगी। दूसरी प्रकारका ऐच्छिक या क्रियाशील अवधान। इसमें हम अवधानके लिए प्रयास करते हैं। एक विद्यार्थी जो खिड़कीमें बैठा पढ़ रहा है और सामने अपने साथियोंको खेलते देख वहां जाना चाहता है, अपनी इच्छाके कारण पढ़नेमें ध्यान लगाए हुए है। एक तीसरी प्रकारका होता है जो गौण निष्क्रिय है। इसमें कोई वस्तु जिस पर प्रयास करके पहले ध्यान लगाया गया है और जो क्रियाशील अवधान के द्वारा रुचिकर होनेसे चेतनामें रक्खी जा सकती है, उस पर ध्यान लगानेमें प्रयास नहीं करना पड़ता। साधारणतः हम यह कह सकते हैं कि शिक्षाका काम क्रियाशील तथा निष्क्रिय अवधानको प्रारम्भिक अवस्थामें काममें लाकर गौण निष्क्रिय अवधान बनाना है। प्रारम्भमें कदाचित् नवीनताके कारण गणित अच्छी लगे परन्तु नवीनता समाप्त होने पर काममें ध्यान लगानेमें प्रयास करना पड़े। परन्तु कुछ प्रश्नोंमें वह ऐसा संलग्न हो जाता है कि बाहरी दुनियांको बिलकुल भूल ही जाता है। वह भूख-प्यास, गर्मी-सर्दी सब भूल जाता है और यह भी कि वह कहां है। प्रोफ़ेसरोंके अनावस्थित (absent minded) होनेकी यही व्याख्या दी जाती है। यह हमें बतायगा कि वास्तवमें अनावस्थित होना अवस्थित होना है और अनवधान किसी और वस्तुका अवधान है। मस्तिष्क सदा किसी न किसी बातमें लगा रहता है। चेतनाकी बिलकुल अवधानरहित अवस्था कभी नहीं होती। हमारा ध्यान कम हो सकता है। अवधान केवल केन्द्रीभूत होनेकी चेतना है और हम यह भी देख चुके हैं कि चेतनाकी धारामें सदा केन्द्र और छोर

होता है। दिवास्वप्नमें भी कुछ अवधान होता है जो जल्दी-जल्दी परिवर्तित होता रहता है। अवधान चेतनाकी स्थायी अवस्था है, और बहुतोंमें से एक चीज पर अवधानका चुनाव होनेसे अन्य चीजोंका त्याग या अवहेलना होती है। प्रारम्भमें अवहेलनाका काम मशीनकी तरह हो जाता है, और फिर प्रारम्भमें आकृष्ट करनेवाली वस्तुओंकी भी अवहेलना करना हम सीख जाते हैं और इस प्रकार विशेष दिशाओंमें ध्यानको केन्द्रित करना सीख जाते हैं।

अवधानके सम्बन्धमें बालक और वयस्कमें बहुतसे अन्तर हैं। बालकका अवधान सर्वभक्षी होता है। यह किसी भी वस्तुसे आकृष्ट हो जाता है। उसकी इसे मस्तिष्कमें रखनेकी योग्यता कम और व्यक्तिगत इकाईका नाप छोटा होता है। अतः अध्यापकको सावधान रहना चाहिए कि एकदमसे बहुत-सी बातें न बता दे और जो भी बताए उसे छोटे टुकड़ोंमें कर ले। मौखिक बातोंमें यह बहुत आवश्यक है। बालकको अक्षरों और शब्दों पर ध्यान लगाना होता है, और वयस्क पदों और वाक्यों पर की इकाई मानता है। आज्ञानुसार लेखमें हमें एक बार बोले जानेवाले वाक्यके विभाग करने होते हैं। निर्बल मस्तिष्कका पता लगानेके लिए बिने (Binet) ने जो परीक्षा बताई है वह तीन आज्ञाओं का पालन करना है—ताली मेज़ पर रखना, दरवाजा बन्द करना और किताब लाना। निर्बल, मस्तिष्कवाला बालक देर तक तीनों बातोंको मस्तिष्कमें नहीं रख सकता, अतः क्रमानुसार कार्य नहीं कर सकता। बालकोंके अवधानमें वयस्कोंकी अपेक्षा विघ्न जल्दी पड़ जाता है। वह निष्क्रिय अवधानके वशमें रहते हैं। नई वस्तुएं, जोरकी आवाज, तेज प्रकाश, गतिशील वस्तुएं, नाटकीय स्फुरण, संवेदनाकी छोटी बातें उनके ध्यानको आकृष्ट कर लेती हैं। अवधानके टिकावमें भी वयस्कों और बालकोंमें अन्तर है। यही कारण है कि टाइमटेबुलमें बच्चोंके लिए छोटे घंटे रक्खे जाते हैं। यहां भी व्यक्तिगत भिन्नताएं दिखाई पड़ती हैं और कुछ लोग किसी एक विषयमें देर तक ध्यान लगा सकते हैं। ऐसे लोगोंके लिए डाल्टन प्लान सबसे उचित है।

स्कूलके बहुतसे काम उचित अवधानके विरुद्ध होते हैं। प्रायः खराब परिस्थितियोंके कारण अनवधान होता है। स्कूलका सामान्य वातावरण अवधानके अनुकूल नहीं होता। दरवाजों और खिड़कियोंका बन्द करना, खोलना और सब तरहका शोर बन्द करना चाहिए। अध्यापक ऐसी जगह खड़ा हो जहांसे वह सबको और सब उसको देख सकें। वह इधर-उधर भागे दौड़े नहीं और न नाटकीय गतियां करें अथवा निरर्थक परिहास, ऐसा करनेसे विषयकी ओर नहीं वरन् उसकी ओर ध्यान आकृष्ट होगा। दीवालों पर

मानचित्र और चित्र टांगनेसे बालकोंकी रुचि बढ़ती है, अत: इनसे विघ्न नहीं पड़ता। आज्ञा न माननेवाला बालक बाधक होता है। थकानसे अनवधान होता है। अत: कमरे की बुरी जलवायु मस्तिष्कमें विकार पहुंचाती और खराब फ़र्नीचर, जिससे शरीरका ढांचा बिगड़ता है, अनवधान कराते हैं। बालकोंकी निर्बल बुद्धि, उनकी मनमानी और ढीट इच्छा, मानसिक सावधानीका अभाव, शीघ्र बुद्धि तथा रुचि सब अनवधानके लिए उत्तरदायी हैं। फिर स्कूलके ग़लत तरीक़े, जैसे फुसफुसाना, सबके सामने दंड देना आदि, भी ध्यान बंटा लेते हैं।

अवधान-प्राप्तिकी बहुत-सी विधियां हैं। (१) पुरानेसे नयेका संयोग कर दें, जिससे पुर्वानुवर्त्ती ज्ञान-सम्बन्धी अवधान प्राप्त हो सके। अवधान दो शक्तियोंसे शासित होता है, अभिज्ञता और नवीनता। जो बिलकुल नया है वह हमारा ध्यान आकृष्ट नहीं कर सकता और जो बहुत परिचित है उससे घृणा होती है। पुरानेमें नया हमारा ध्यान खींचता है। यदि एक डॉक्टरीका शास्त्रीय भाषण ऐसी सभामें दिया जाय जहां डॉक्टर और अन्य सभी उपस्थित हैं, तो डॉक्टर तो इसे ध्यानावस्थित होकर सुनेंगे पर और व्यक्तियोंके लिए यह वृथा बकवास होगी। जो कुछ हमारे मस्तिष्कमें है हम उसीके सहारे ध्यान लगा सकते हैं। जैसे अजायबघरमें जाकर एक गंवार प्राचीन सिक्कोंके डिब्बेके सामने तो कदाचित् २० सेकेंड ही रुकेगा और मरे हुए शेरके सामने बीस मिनट खड़ा होगा और एक इतिहासज्ञ इसका उलटा करेगा। दोनों अपने पूर्वानुवर्त्ती ज्ञानके आधार पर ऐसा करते हैं। अपूर्व प्रतिभावाला व्यक्ति एक विषयमें देर तक ध्यान लगा सकता है, क्योंकि उसका मस्तिष्क विभिन्न रुचिकर सम्बन्धोंसे युक्त है। अत: अवधान-प्रणाली दो धाराओंसे शासित होती है—एक बाहरसे और दूसरी अन्दरसे। (२) अवधानमें परिवर्तन दूसरी लाभप्रद बात है। हम घड़ीकी टिकटिकसे इतने परिचित हो जाते हैं कि इसका ध्यान ही नहीं आता। परन्तु यदि यह अपनी गति या आवाज़ बदल दे अथवा रोक दे तब हमें तुरन्त ध्यान हो आता है। किसी भी एक वस्तु पर बहुत काल तक अवधान स्थिर नहीं रह सकता। एक बिन्दु पर ध्यान लगाओ, थोड़ी देरमें दो दिखाई देने लगेंगे और फिर ग़ायब ही हो जायंगे। परन्तु यदि तुम उसके सम्बन्धमें प्रश्न करो, कितना बड़ा है, कितनी दूर है, किस रंगका है, क्या आकार है तो काफ़ी समय तक ध्यान लगा रह सकता है। यह नियम इश्तिहार करनेवालोंको ज्ञात है। इसलिये इश्तिहार पर बराबर प्रकाश डालनेके बदले वह बत्तियोंको जलाते बुझाते रहते हैं। अध्यापकके लिए उपदेश सरल है। उसे अपने विषय नये बनाने चाहियें, नये प्रश्न करे, अर्थात् उनमें परिवर्तन लाए।

(३) सब अवधानोंमें पुनरावृत्ति लाभदायक होती है। इश्तिहार करनेवाले इसे बहुत सफलतापूर्वक करते हैं। जो व्यक्ति निरन्तर क्रूशेन सॉल्टका इश्तिहार देखता है उसे इसे काममें लाकर देखनेका लालच हो आता है। एक चोटसे कील नहीं ठुक सकती। परन्तु इसका प्रयोग चतुरतासे होना चाहिए। प्रायः यह अवधानका उलटा भी करा देता है। और फिर जो अध्यापक एक ही बात या आज्ञाको दोहराता है उसकी पहली बातको कोई नहीं सुनता, क्योंकि बालक जानते हैं कि वह दोहरायगा अवश्य। (४) बहुतसे लोग चिल्लाकर, मेज़ पर हाथ पटककर, ताली बजाकर अथवा ऐसा ही कुछ काम करके ध्यानाकृष्ट करते हैं। इनका प्रभाव क्षणिक होता है और इससे बलात् ध्यान खिंचता है। अतः पुनरावृत्तिसे ध्यानाकृष्ट होना बन्द हो जाता है। (५) बहुतसे ध्यान लगानेको कहते, इसका महत्त्व समझाते, डराते और पारितोषिक देते हैं, परन्तु यह असफलताकी स्वीकृति है।

(६) ऐसा कार्यक्रम, जिसमें थकान आदि सब बातोंका ध्यान रक्खा गया है, अवधानका सहायक होता है। घंटे बहुत बड़े न हों और बालकोंको निरन्तर कठिन पाठ न पढ़ने पड़ें। एक ही विषय पर बराबर ध्यान न लगवाया जाय। यह विभिन्न विषयों में बिखरा हुआ हो। एक बालक जो एक विषयमें संलग्न रहता है, अनुसन्धानकर्ताके लक्षण प्रदर्शित करता है, और जिसका ध्यान एक विषयसे दूसरेमें चला जाता है वह दुनियांदारी करनेवाला अच्छा आदमी बनेगा। (७) अध्यापक ध्यान न देनेवाले बालकसे प्रश्न करे, और सामूहिक उत्तर मांगे। बीच-बीचके सवाल पूछे जायं, विभिन्नता लाई जाय और कभी अन्तराल भी हों। कार्यक्रम कभी तोड़ा जाय, दोहराना हो। चित्र, उदाहरण और अन्य नवीनताएं लाई जायं। सब इन्द्रियोंको आकृष्ट करके ध्यान बंटनेसे रोका जाय। बातोंके साथ खड़िया, चित्र तथा पदार्थोंका प्रयोग हो। वास्तविक विषय पर कई प्रकारसे आक्रमण किया जाय। विकासमय पाठमें ध्यान लग जाता है, क्योंकि बालक एक के बाद एक बात सीखते जाते हैं। यहां गति और विकासका विचार अवधान को स्थिर कर देता है। अध्यापकका चेतनत्व ध्यान प्राप्त करनेके लिए बहुत बड़ी चीज़ है। निर्जीव अध्यापक अपनी ओर ध्यानाकृष्ट नहीं कर सकता। अध्यापकका व्यक्तित्व भी बहुत बड़ी चीज़ है। अवधानका अभ्यास कराया जा सकता है। गुणा इतना दिया जाय जो दो मिनटमें हो सके। कहानीका भावार्थ पूछा जाय।

संवेदनाकी तीव्रता और विस्तार प्रायः अवधानका कारण होते हैं। तेज आवाज़ या रंग ध्यानाकृष्ट करते हैं। समाचार-पत्रोंमें विशेष समाचार मोटे अक्षरोंमें छापे जाते हैं।

विस्तारसे हमारा तात्पर्य उत्तेजनाका प्रसार है। एक बादलका टुकड़ा वर्षाका संकेत न माना जाय पर जब सारा आकाश बादलसे काला हो जाय तब तो उधर ध्यान जाता ही है। दूसरी उत्तेजना निश्चित होना है। अस्पष्ट और अनिश्चित बात पर ध्यान नहीं जमता। आकाशमें छोटा-सा हवाई जहाज़ ध्यान खींच लेता है। अध्यापक जो कुछ भी कहे निश्चित और स्पष्ट होना चाहिए।

अवधानके कुछ गतिशील सहकारी भी हैं। अवधान एक परिस्थितिका एकीकरण अनुकूलताका अन्योन्य सम्बन्ध है। निम्नलिखित कुछ एकीकरण हैं। इन्द्रिय अंगोंका इस प्रकार सुधार हो जाता है कि ध्यान दी हुई उत्तेजना सबसे अधिक स्पष्ट हो जाती है, जैसे आंख इस प्रकार हो जाती है कि स्पष्ट दिखाई पड़े, स्पष्ट सुननेके लिए कान और सिर ठीक अवस्थामें हो जाते हैं। शरीर इस प्रकार हो जाता है कि उत्तेजनाको लाभ-दायी रूपमें ग्रहण कर सके। ठीकसे सुननेके लिए सांस तक रुक जाती है। यह अध्यापक के लिए बहुत आवश्यक है, क्योंकि न केवल चेतन-व्यवहार ही अवधानके द्वारा होता है वरन् उचित शारीरिक धारणासे अवधानको सहायता मिलती है। जब तक हमारा शरीर ठीक स्थितिमें नहीं है हम सर्वाधिक ध्यान नहीं लगा सकते। अध्यापक यह देखे कि बालक ठीकसे बैठते, सीधे खड़े होते और शक्तिपूर्वक चलते हैं। जब ध्यान छूटने लगे तो स्थिति तथा स्थान बदलने या खड़ा कर देनेसे वापस आ जाता है। परन्तु इसकी सबसे बड़ी सहायक रुचि है, अब हम उसीको बतायेंगे।

२१

रुचि

अवधानकी सबसे बड़ी सहायक रुचि है। बल्कि दोनों इतने अभिन्न माने गये हैं कि रुचि अवधानकी प्रभावशाली साथी अथवा इसकी भावना मानी गई है। चेतनामें दोनों सहवास करते हैं। रुचि भाव है, दुःखप्रद या सुखप्रद, और अवधानके साथ रहती है। हम अच्छी और दोनों वस्तुओंमें रुचि रखते हैं। बालक मिठाईमें रुचि रखता है और बड़े होने पर दांतसाजमें कष्टप्रद रुचि रखता है। सुन्दर संगीतमें हमें आनन्ददायक रुचि है। जहां रुचि होती है अवधान अपने आप अनुसरण करता है। प्रथम दृष्टिमें लगता है कि इसका उलटा भी ठीक होगा। यदि हम किसी विशेष पदार्थकी ओर ध्यान लगाते हैं तो थोड़ी रुचि तो अपने आप आ जाती है परन्तु आवश्यक नहीं है। हम एक काले धब्बे पर बड़ा ध्यान लगाकर देख सकते हैं, परन्तु जितना ही अधिक ध्यान लगाते हैं उतनी ही रुचि कम होती जाती है। अतः हम उतनी ही सच्चाईसे यह नहीं कह सकते कि रुचि भी अवधानका अनुसरण करती है। बिना रुचिके ध्यान देर तक नहीं रह सकता। दोनों साथ ही आते जाते हैं। अवधान प्राप्त करनेके लिए रुचि उत्पन्न करना आवश्यक है और रुचि बहुत समयसे शिक्षाका आकर्षण मानी गई है।

जब हम रुचिके अन्तर्गत प्रत्ययोंका विश्लेषण करते हैं तो पता लगता है कि वह तीन हैं। पहले रुचि क्रियाशील, आगे बढ़ानेवाली, विस्तारवाली होती है। हम रुचि 'रखते हैं'। किसी वस्तुमें रुचि रखना उसके सम्बन्धमें क्रियाशील होना है। इस प्रकार हम सदा क्रियात्मक रूपसे रुचि रखते और हमारी रुचियोंका सदा वर्णनीय रूप भी होता है। यह निष्क्रिय कभी नहीं होती और एक निश्चित धारामें प्रवाहित होती है। रुचि कोई ऐसी

निष्क्रिय चीज़ नहीं है जिसको बाहरसे उत्तेजित करनेकी प्रतीक्षा हो। हम एक न एक वस्तुमें सदा रुचि रखते हैं। ऐसी अवस्था कभी नहीं देखी गई जब कि रुचिका बिलकुल अभाव हो या वह कई चीज़ोंमें बराबर विभाजित हो। अतः यह ग़लत लगता है कि पढ़ानेके लिए ऐसा विषय चुना जाय जिसका बालकोंकी रुचिसे कोई सम्बन्ध न हो। यह कहा गया है कि ऐसा विषय होने पर अध्यापक उसे रुचिकर बनाए। यदि बालकोंकी रुचि और आवश्यकताका ध्यान रखे बिना विषय-सामग्री चुनी गई है तो अध्यापक उसकी वेशभूषा बदलकर रुचिकर बना दे। दूसरे रुचि विषय-सम्बन्धी होती है, यह किसी विषयसे सम्बद्ध होती है। यदि विषय या पदार्थ हटा दिया जाय तो रुचि लुप्त हो जायगी। पदार्थ तभी तक रुचिकर होता है जब तक यह क्रिया बढ़ाता और मानसिक गतिकी सहायता करता है। किसी भी पहिये या तागेमें कोई रुचि नहीं होती, सिवाय इसके कि इससे बालककी लालसाको सन्तोष मिलता है। चित्रकार अपने ब्रुश और माली अपने फूलोंमें रुचि रखता है। तीसरी रुचि व्यक्तिगत होती है। ज्ञाता-सम्बन्धी विचार करनेसे रुचिको सांवेगिक धारणा कह सकते हैं जो हमारी क्रियाओंको ज्ञाता सम्बन्धी तराजूमें रखती और उनमें से चुनती है। जो युवा जाति मार्गमें, शिकारमें, रुचि रखता है वह इस बातको स्वीकार करता है कि ये चीज़ें ज्ञाता-सम्बन्धी मूल्यकी होनेके कारण उसको अधिक पसन्द हैं।

रुचि दो प्रकारकी होती है--प्रत्यक्ष (direct) अथवा अप्रत्यक्ष (indirect), सन्निहित अथवा मध्यस्थित (mediate)। हम कार्यके करनेमें अथवा उस कार्यके द्वारा प्राप्त उद्देश्यमें रुचि रख सकते हैं। यदि किसी कार्यकी क्रिया नितान्त अरुचिकर है तो उसके करनेका कोई ऐसा उद्देश्य अवश्य होना चाहिए, जो हमारे लिए अत्यन्त रुचिकर हो अन्यथा वह कार्य अत्यन्त अरुचिकर होगा। यदि रुचि इस प्रकारकी है तो कार्यके चारों ओर भी एक प्रकारकी रुचि फैल जाती है। एक लड़केसे उसके पिताने कहा कि यदि वह मोटरका ढांचा बना लेगा तो मशीन वह खरीद देगा। इस पारितोषिकको प्राप्त करनेके लिए लड़केने आवश्यक गणित और ड्राइंग सीखी, ताकि वह नकशा बना सके। अब तक उसे गणितमें रुचि नहीं थी, परन्तु अब इतनी अधिक हो गई कि कक्षामें वह सबसे आगे हो गया। बालकोंको अपनी रुचिकी वस्तुओंमें ही रुचि होती है। वह केवल सन्निहित तथा प्रत्यक्ष रुचि ही समझते हैं। हमारे साधारण कार्य और धन्धे, मिलनेवाले पारितोषिकके कारण प्रसन्नतापूर्वक कर लिए जाते हैं। यह उद्देश्य अन्तिम नहीं हैं वरन अन्य उद्देश्योंके साधन हैं, और इस प्रकार सारा जीवन अन्तर्सम्बन्धित है। जैसे अनैच्छिक

से ऐच्छिक और गौण निष्क्रिय अवधान (secondary passive attention) की ओर जाते हैं, इसी प्रकार प्रत्यक्षसे अप्रत्यक्ष और फिर उद्भूत (derived) रुचिकी ओर जाते हैं। प्रारम्भमें बालक प्राकृतिक रुचिकर वस्तुओं पर ध्यान देता है, और फिर दंड और पारितोषिक प्रणालीके द्वारा स्कूल किसी वस्तु पर ध्यान करवाता और किसी पर नहीं करवाता है, और इससे वह अवस्था आती है जब कि उन कामोंमें रुचि होने लगती है जो स्वयं तो बिलकुल रुचिकर नहीं हैं, परन्तु उद्देश्यकी रुचिके कारण हो गये हैं। अतः हम कह सकते हैं कि शिक्षाकी प्रणाली रुचिके व्यवस्थित हटावमें है। रुचि निरन्तर एक वस्तु हटाकर दूसरेमें लगाई जाती रहती है। बालककी रुचि क़लम पकड़नेसे, फिर अक्षर बनानेसे, तब अक्षरोंको मिलाकर लिखनेसे, तत्पश्चात् शब्दों और वाक्योंसे हटती है और अन्तमें विचार-प्रणालीमें केन्द्रित हो जाती है। ऐसी अप्रत्यक्ष रुचि अन्तमें किसी प्रत्यक्ष रुचिकी ओर ही ले जाती है। हम अपना कार्य अधिकतर इसलिये करते हैं कि हमें कुटुम्बका पालन-पोषण करना है और इस प्रकार यह धन्धा हो जाता है। परन्तु कुछ समय कार्य करनेके बाद हमें कार्यसे ही प्रेम हो जाता है और इसकी प्रणालीमें रुचि हो जाती है। कलाकार अपना कार्य किसी पारितोषिकके लिये नहीं वरन् कार्यके लिए ही करता है, यह सबसे उच्च भावना है।

शिक्षामें रुचिकी समस्या मौलिक है। अतः यह जानना आवश्यक है कि रुचिको उकसानेके क्या साधन हैं। सबसे पहले हमें मूलप्रवृत्तियोंको आकृष्ट करना चाहिए। हमारी मूलप्रवृत्तियोंने हमारी रुचियोंका वृत्त बनाया है। मां सोतेमें भी बालकके रोनेका शब्द सुन लेगी, कदाचित् अन्य कोई जोरका शोर भी उसकी नींदमें बाधा न पहुंचा सके। बिल्ली चूहेमें और चिड़िया कीड़ेमें रुचि रखती है। अतः रुचिका अन्तिम आधार मूल-प्रवृत्ति ही है। अध्यापक मूलप्रवृत्तिको ही आकृष्ट करे। उत्सुकताके कारण बालक अपरिचित वस्तुओंके विषयमें सब कुछ जाननेके लिए पूछताछ करता है। हम सदा नई चीजें नहीं दिखा सकते परन्तु पुरानेमें नया और नएमें पुराना रूप प्रदर्शित कर सकते हैं। हमारा प्रदर्शन ऐसा हो जिससे आदर्श और जिज्ञासा उत्पन्न हो। एक अध्यापक यह बताना चाहता है कि वायुका दबाव ऊपरको होता है। यह बात बताकर उसका उदाहरण देता है। दूसरा अध्यापक पानी भरा गिलास लेकर उस पर कार्ड बोर्ड रखकर गिलास उलट देता है। बालक यह जानना 'चाहते' हैं कि पानी क्यों नहीं फैलता। पहले अध्यापकने उत्सुकता को सन्तुष्ट कर दिया और दूसरेने उत्सुकतासे लाभ उठाया। क्रियाशीलताकी मूलप्रवृत्ति को भी काममें ला सकते हैं। पढ़ना सिखानेमें यह बड़ा मुश्किल होता है कि बालक

किताब या ब्लैकबोर्ड पर से अक्षर पहचान ले। परन्तु मांटेसरी प्रणालीकी भांति यदि बालकोंको कार्डबोर्डके अक्षर दे दिए जायं और उनसे शब्द बनानेको कहा जाय तो वह बहुत जल्दी पढ़ना सीख लेते हैं। इससे पता चलता है कि अरुचिकर विषय भी बौद्धिक प्रणालियोंके प्रयोगसे रुचिकर हो सकते हैं।

दोहरानेसे रुचि उत्पन्न होती है। दोहरानेसे रुचि हट जानी चाहिए। परन्तु यदि पहली बारमें चीज़ ठीकसे समझमें नहीं आई होगी तो दूसरी बारमें रुचि होगी। दूसरे हम यह सोचने लगते हैं कि दोहरानेका कुछ कारण अवश्य होगा, तब हम उस कारण पर ध्यान लगाते हैं। जैसे यदि पाठके अन्तमें कुछ बातें दोहराई गईं तो बालक समझ जाता है कि कदाचित् इन्हीं पर प्रश्न पूछे जायंगे, अतः उन पर ध्यान देता है। इससे हम उद्भूत रुचिके उदाहरण पर आते हैं। एक अरुचिकर वस्तु किसी रुचिकर बातसे सम्बद्ध होकर रुचिकर हो जाती है। जैसे एक बालक पढ़नेके लिए बराबर इन्कार करता रहा, परन्तु उसकी किताबमें जो तस्वीरें थीं उनके विषयमें जाननेको वह बहुत उत्सुक था। उसने अपने माता-पितासे पूछा। उन्होंने नहीं बताया और कहा कि यदि वह पढ़ना सीख लेगा तो वह स्वयं जान लेगा। बालकने पढ़नेकी कठिनाईको दूर कर लिया। इसी कारण जेम्स ने सलाह दी है कि हम बालककी प्राकृतिक रुचिसे प्रारम्भ करें और इससे निकट सम्बन्ध रखनेवाले विषय उसके सामने रखें। यह पढ़ानेकी किंडर गार्टन विधि है। आगे दिए जाने वाले विचारोंको धीरे-धीरे इनसे सम्बद्ध कर दें। हस्तकला बहुत अच्छा प्रारम्भ होगा और प्रोजेक्ट विधिमें यही विशेषता है। परिवर्तनसे रुचि बढ़ती है। जब हम एक ही वस्तुमें बहुत देर तक अपना ध्यान गड़ाए रहते हैं तो ऊबने लगते हैं। अतः अध्यापक अपने पाठका क्रम ऐसा बनाए कि एकके बाद दूसरी बात आती चली जाय। इश्तिहार करने वाले इसे खूब समझते हैं। जैसे हम प्रायः ऐसा इश्तिहार देखते हैं, जिसमें लिखा होता है 'इस स्थान पर ध्यान देते रहो'। हम ध्यान देते हैं कि इस स्थान पर क्या निकलेगा। इसके बदले यदि सीधा-साधा इश्तिहार ही निकला होता तो शायद हम इस पर ध्यान भी नहीं देते। इस नियमका पालन जादूगर भी करते हैं।

अध्यापककी आन्तरिक सहानुभूतिसे बालककी रुचि बढ़ती है। यदि कही हुई बातका सम्बन्ध बालकके जीवन-अनुभवसे होता है तो ध्यान आकृष्ट होता है। यह तब हो सकता है जब अध्यापक अपनेको भी शिष्यरूपमें रखे। रेलयात्राके विषयमें बताते समय अध्यापक किसी बालककी रेलयात्राके अनुभव पर अपना विवाद आश्रित रखे। जैसे बड़ा आदमी पारितोषिक-प्राप्तिके लिए बहुतसे अरुचिकर कार्य करता है। जीवनमें सफलता प्राप्त

करनेके लिए स्कूलके अरुचिकर कार्य भी कर लेगा। संयमकी बातोंके द्वारा रुचि बलात् प्राप्त की जा सकती है। शिक्षामें पारितोषिक अथवा दंडके द्वारा रुचि उत्पन्न की जा सकती है।

हमें स्कूलका कार्य रुचिकर बनाना चाहिए, यह सिद्धान्त निर्विरोध नहीं है। कुछ शिक्षा-विधिवेत्ताओंका कहना है कि यदि प्रत्येक वस्तु रुचिकर बना दी जायगी तो ऐसा व्यक्ति तैयार होगा जो जीवनकी कठिन परिस्थितियोंका सामना नहीं कर सकेगा। वास्तविक जीवनमें प्रत्येक वस्तु रुचिकर ही नहीं होती, बहुत बातें अरुचिकर होती हैं। यदि स्कूल का सम्पूर्ण शिक्षण रुचिकर बना दिया जाय तो बालकको जीवनका ग़लत दृष्टिकोण दिखाया जा रहा है। बालकके प्रयासका अनुपयोग होनेसे आवश्यकताके समय उसका प्रयोग करना कठिन हो जाता है। यह रुचि और प्रयासका मुक़दमा है और कोमल तथा कठोर मतोंका मूल है। जो रुचिके पक्षमें हैं वे कहते हैं कि अवधान-प्राप्तिका यह निश्चय साधन है, और यह कि इस नियमके अन्तर्गत बालक स्वतंत्रतासे कार्य करेगा। जो अवधान शासनके द्वारा प्राप्त किया जाता है वह स्वेच्छानुरूप न होनेके कारण अनिच्छा से होता है। बालक अध्यापकके डरसे या और किसी बाह्य बलात् कारणसे काम कर ले, परन्तु उसकी वास्तविक शक्ति कहीं और लगी होगी। मनोविज्ञानकी दृष्टिसे रुचिके बिना क्रिया होना असम्भव है। शासनकर्त्ता (disciplinarian) एक प्रकारकी रुचि के स्थान पर दूसरे प्रकारकी रुचि लाता है। प्रत्येक मतमें यथार्थकी अपेक्षा निषेधात्मक बातें अधिक दिखाई पड़ती हैं। रुचि और प्रयास परस्पर विरोधी नहीं हैं। प्रयासके लिए ही प्रयास करना आवश्यक नहीं है और न रुचिके लिए रुचि। कक्षा न तो अप्रिय स्थान हो और न सजा-सजाया कोमल आरामका स्थान हो। प्रयासको लानेके लिए किस प्रकारकी रुचि होना आवश्यक है, यह हम देख चुके हैं। अब प्रश्न यह है कि रुचि किस प्रकार की हो? एक मत कहता है दुःखद और दूसरा सुखद रुचि। एक मत कहता है कि दबाव बाहरसे और दूसरा कहता है अन्दरसे होना चाहिए। रुचिकी प्रकृतिके सम्बन्धमें हम जो कुछ देख चुके हैं उससे पता चलता है कि यह ज्ञाता (कर्त्ता) सम्बन्धी होती है अतः यह कभी भी खाली नहीं रह सकती। अतः अपनेको रुचिकर बनानेकी विधि केवल यही है कि हम ऐसी विषय-सामग्री चुनें जो हमारी प्राकृतिक रुचिको आकृष्ट करे। रुचिके सिद्धान्तके ग़लत अर्थ, जो 'पाठको रुचिकर बनानेमें' लिए जाते हैं, उन व्यक्तियोंके सम्मुख आते हैं जो बालककी रुचि, शक्ति, योग्यता और वर्तमान आवश्यकताओं पर ध्यान दिए बिना ही विषय-सामग्री चुन लेते हैं। उनके विचारमें विषय-सामग्री मस्तिष्कसे बाहर

की चीज है और इसी कारण वह रुचि-रूपी शक्करकी लपेटमें आकर ही ग्राह्य हो सकती है। यदि पाठ अरुचिकर है तो रुचिकर कहानियोंसे अच्छा बनाया जा सकता है, परन्तु उस अवस्थामें बालक पाठमें नहीं वरन् कहानीमें रुचि लेगा। मनको क्षण भरके लिए वापिस बुलाया जा सकता है परन्तु देर तक एक ही स्थान पर स्थिर नहीं किया जा सकता। समाधान इस बातसे होता है कि यद्यपि मस्तिष्क आन्तरिक चीज़ है परन्तु इसका वेग बाहरी है और विषय-सामग्री स्वयं अनुभवके बढ़ाने और विकासका अंग है। अतः हमको ऐसी सामग्री और विधि चुननी चाहिए जो बढ़ने और विकसित होनेवाले अनुभवका अंग बन जाय, तब रुचि अपने-आप ही आ जायगी। 'विकास करनेवाली क्रियाकी विधि और सामग्री का मस्तिष्कसे समीकरण (identification) जैसी परिस्थितियोंका अनिवार्य परिणाम रुचि है। रुचि सोचनेसे अथवा चेतन रूपसे लक्ष्य करनेसे प्राप्त नहीं होती, वरन् ऐसी अवस्थाओंको सोचने और लक्ष्य करनेसे प्राप्त होती है जो इसकी उपस्थितिको अनिवार्य कर देती हैं। यदि हम बालककी आवश्यकताओं और शक्तियोंको ढूंढ़ लेते हैं और यदि हम सामग्री आदिसे शारीरिक, सामाजिक तथा बौद्धिक वातावरण सम्मुख ला सकते हैं, जिसमें इनकी क्रिया उचित दिशामें जा सकें, तो हमें रुचिके विषयमें नहीं सोचना होगा; यह स्वयं आजायगी, क्योंकि मस्तिष्क 'बनने' के लिए मस्तिष्क जो चाहता है स्वयं पा लेता है। साथ ही हम यह भी याद रख लें कि एक समय आयगा जब हमें बालकपनकी बातें त्यागनी होंगी। शिशु स्कूलकी सामग्री और विधि परिणामसाध्य नहीं है। वह साधन है, जिसके द्वारा बालक वयस्क जीवनके प्रयोजन और उद्देश्योंकी ओर अग्रसर किया जाना चाहिए। दूसरे शब्दोंमें, हम प्रत्यक्ष रुचिसे मध्यस्थित रुचिके द्वारा उद्भूत रुचि पर पहुंच जायं।

डाक्टर किल्पैट्रिक ने (Foundations of Method) बहुत दक्षतासे रुचिके द्वारा और बलात् सिखानेकी विधि पर विवाद किया है। उदाहरणके लिए एक बालकको, जो गणित पसन्द करता है, एक कठिन, परन्तु उसकी योग्यताके अन्तर्गत ही, प्रश्न करने को दिया गया। उसका दिमाग़ उसे स्वयं ही हल करनेको स्थिर है और इस हलको प्राप्त करनेकी उसकी आन्तरिक इच्छा है, परिणाम यह होता है कि उसका सम्पूर्ण ज्ञान, दक्षता, और सब प्राप्य विचार उसकी सेवामें तत्पर हैं। मार्गकी कठिनाइयां भी उसे और अधिक प्रयास करनेको बढ़ावा देती हैं, और सफलतासे और अधिक सन्तोष होता है, और सन्तोषसे हल करनेकी विधि निश्चित हो जाती है। बलपूर्वक सीखनेकी विधिमें मानसिक प्रणाली भिन्न होती है। मान लो एक लड़का, जो बाहर जाने और खेलनेके लिए आतुर

है सवाल करनेके लिए घरमें रोक लिया जाता है। उसका दिमाग़ खेलमें लगा है और इससे उसके मनमें विद्रोह होता है, और इससे काम करनेमें तत्परता नहीं रहती। उसका उद्देश्य खेलने जाना है और अध्यापककी बाह्य आज्ञा काम करनेकी है। अतः यह अतत्परता कामको जैसे-तैसे निपटानेमें लगती है, शायद अध्यापकको धोखा देकर खेलमें भागना सिखाती है। मार्गकी कठिनाइयां अधिक प्रयास न करवाकर अरुचि बढ़ाती हैं। उसका सारा ज्ञान और उसकी दक्षता सवाल लगानेमें सहायक नहीं है। उसका दिमाग़ इधर-उधर घूम रहा है और वह कम सीख रहा है। हल करनेमें सफलता मिलने पर भी वह कम सीखता है, क्योंकि उसका उद्देश्य सवाल लगाना नहीं वरन् खेलके मैदानमें पहुंचना है। अतः हमें प्रारम्भिक सीखने पर ही नहीं वरन् सम्बद्ध और सहकारी सीखने पर ध्यान देना है। इस उदाहरणमें प्रारम्भिक सीखना हल करनेकी विधि है, सम्बद्ध सीखना इसी प्रकार के प्रश्नों और विषयको सीखनेके लिए प्रकाश प्राप्त करना है, और सहकारी सीखनेमें उन धारणाओंसे व्यवहार करना है जिनका वह विकास कर रहा है, और यह सीखनेका सबसे विशेष अंग है। पहले उदाहरणमें लड़का मेहनत करना, व्यवहार करना और स्कूलके कामके प्रति मित्रभाव रखना सीखता है। काममें बलपूर्वक बैठाया जानेवाला लड़का टालना, धोखा देना, स्कूल और कामके प्रति परेशानी और अध्यापकोंके प्रति चिढ़ सीख लेता है। बूथ टार्किन्स्टन के पेनरोडमें इसका बड़ा अच्छा उदाहरण है। पेनरोड के क्लास में बड़े-बड़े अमेरिकन कवियों और साहित्यिकों, लांगफ़ेलो, इमर्सन, हॉथॉर्न आदि, के चित्र टंगे हैं जिससे उसके हृदयमें अमेरिकन साहित्यके प्रति प्रेम उत्पन्न हो, परन्तु स्कूलका सारा काम बहुत अरुचिकर है। उसकी लड़कपनकी रुचि पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता, फलस्वरूप उन तस्वीरोंसे उसे घृणा हो जाती है, जिन्हें वह रोज देखता है। अतः स्कूल एक विरोधी परिणाम उत्पन्न करता है। यही कारण है कि बर्नार्ड शॉ हमारी शिक्षाको होम्यो-पैथी कहता है। उसके अनुसार यदि हम वयस्कमें किसी विषयके प्रति घृणा उत्पन्न कराना चाहते हैं तो स्कूलमें उसे प्रारम्भ कर दें तो बालकको उसके प्रति इतनी घृणा हो जायगी कि वह बादमें भी उसके प्रति ऐसी ही प्रतिक्रिया करेगा। रुचिसे रुचि होती है।

२२

आदत

आदतके सम्बन्धमें विलियम जेम्स ने उच्च कोटिका उपदेश दिया है। वह इतना सार्वलौकिक हो चुका है कि उसका दोहराना व्यर्थ है। शिक्षा व्यवहारके हेतु है और आदतें व्यवहारकी सामग्री हैं। मनुष्य केवल आदतोंका चलता-फिरता रूप है। हमारा सारा जीवन एक प्रकारसे व्यावहारिक संवेगात्मक तथा बौद्धिक आदतोंका समुदाय है। हमारी सौ में ६६ या यों कहें कि १००० में ६६६ क्रियाएं स्वयं चालित और आदत-जन्य होती हैं। कपड़े पहनना, उतारना, खाना-पीना, संयोग, वियोग यह हमारी दैनिक क्रियाएं बार-बार दोहरानेसे स्वभावका एक अंग बन जाती हैं जो कि एक प्रकारसे सहजक्रियाका रूप धारण कर लेती हैं। इस तरह हम जूल्स बर्ने के उपन्यासमें फ़िलियस फ़ौग के समान अपरिवर्तनशील तथा अपने ही भूतकालका अनुकरण करनेवाले जीव हो जाते हैं। यह आदतें हमारी मौलिक प्रकृति पर एक आवरण डाल देती हैं, जो कि एक प्रकारसे दूसरी प्रकृति बन जाती हैं। हमारे गुण-अवगुण हमारी आदतें हैं और समाजके सब कार्य अधिकतर आदत-जन्य ही होते हैं, इसीलिए आदतको समाजका एक विशेष परिचालक भी कहते हैं।

जीवनमें आदतका सबसे अधिक महत्त्व है। बहुत-सी अच्छी प्रतिक्रियाएं, जिनका बार-बार प्रादुर्भाव होना स्वाभाविक है, उनका अवधानके द्वारा मशीनकी तरह संचालन ही ठीक है। इस प्रकार जब कि प्रतिक्रिया खूब अच्छी तरह स्वयंचालित हो जाती है तो बुद्धि अन्य आवश्यक बातोंको ग्रहण करनेके लिए स्वतंत्र हो जाती है। यदि हम हमेशा अपना ध्यान उठने, बैठने, चलने जैसी साधारण या प्रारम्भिक क्रियाओंमें लगाते रहें तो

हम और कुछ भी न कर पायंगे और हमारा जीवन अस्तित्वमात्र ही रह जायगा। जिस मनुष्यमें अनिश्चयके अतिरिक्त और कुछ भी आदतजन्य नहीं है उससे अधिक दुखी कौन होगा। उसके लिए सिगार जलाना, प्रत्येक प्यालेका पीना, प्रतिदिन सोने-जागनेका समय और हरएक छोटे-छोटे कामको प्रारम्भ करना, यह सब विषय स्पष्ट ऐच्छिक विवेचनके होंगे। इसलिए हमें अपने नाड़ीमंडलको शत्रुके बदले मित्र बना लेना चाहिए; हमें अपने प्राप्ति-रूपी धनको एकत्रित करके उसके ब्याज पर आरामसे रहना चहिए। इसलिए जितनी भी लाभदायक प्रतिक्रियाएं हम जल्दीसे जल्दी स्वयंचालित अथवा आदतजन्य बना लें उतना ही अच्छा रहे। यह अवश्य है कि इसमें बुराइयां भी हैं और भलाई भी। इसके अतिरिक्त अधिकतर मानसिक क्रियाएं अपरिवर्तनशील हो जानेसे हमारी यथाकाल-व्यवस्था (adaptability) करनेको शक्ति और मौलिकता नष्ट हो जाती है। नाड़ीमंडलकी कोमलता नष्ट हो जाती है और इसी कारण छोटी उम्रवालोंकी अपेक्षा बड़ी उम्रवालोंको अध्ययन करना अधिक कठिन होता है। उनके सोच-विचार और कार्य करनेकी प्रणाली स्थिर हो जाती है।

नाड़ी-कर्ष (nervous tissue) की कोमलता (plasticity) द्वारा ही हमारी आदतें बनती हैं। किसी नए कार्यको करनेमें हमें प्रारम्भमें कठिनाईका सामना करना पड़ता है, परन्तु दोहराने पर कठिनाईकी मात्रा कम हो जाती है और अन्तमें अभ्यास होने पर लगभग मशीनकी तरह या चेतना बिना ही वह कार्य पूरा कर लेते हैं। जिस प्रकार काग़ज़ या कोट मोड़ने अथवा लोहा करने पर सदा अपनी तहके निशान पर ही रहता है ठीक उसी प्रकारका निर्माण भी प्रयोग द्वारा हो जाता है। चालक मार्ग (conduction paths) क्षीण होने पर सर्वप्रथम उत्तेजनाके मार्गमें रुकावट डालते हैं, परन्तु फिर यह रुकावट धीरे-धीरे शिथिल हो जाती है और साथ ही उत्तेजनाका प्रवाह सुगम और स्वतंत्र होने लगता है। उम्रके साथ-साथ यह कोमलता कम हो जाती है और इसीलिए युवावस्थामें ही आदतोंका निर्माण होता है।

आदत डालना और छुड़ानेके सम्बन्धमें कुछ निर्देश आवश्यक हैं। आदमी गाते-गाते कलामत हो जाता है, यह लोकोक्ति सत्य है। इसको नियमबद्ध कर लिया गया है, जिसे अभ्यासका नियम कहते हैं। पुनरावृत्तिमें तीव्रता अथवा अवधानमें अभ्यास इस नियमका सार है। अपनी इच्छाके प्रतिकूलकी अपेक्षा इच्छाके अनुकूल दोहराना अधिक विशेषता रखता है। जब कि ऐसी पुनरावृत्तिका सम्बन्ध किसी मूलप्रवृत्तिसे प्रेरित कार्यसे होता है तब प्रभाव अधिक होता है। दूसरा नियम जो आदत डालनेमें कार्यशील होता है, उसे

प्रभावका नियम कहते हैं। कोई भी कार्य, जिससे सन्तोष हो, नई प्रतिक्रियामें दृढ़ता लाने में सहायक होता है। इसके विपरीत जिससे कष्ट या असन्तोष होता है उससे रुकावट होती है।

आदत डालनेके सम्बन्धमें दूसरी बात प्रधानताकी है। मान लीजिए हम एक नई आदतको दृढ़ संकल्पके साथ प्रारम्भ करते हैं। प्रारम्भिक प्रभाव चित्त पर स्थायी होकर रह जाते हैं। नई आदतके डालनेके पूर्व हमें अपने संकल्पको अधिकसे अधिक दृढ़ बना लेना चाहिए। पहलेपहल जब कि नए मार्गका प्रयोग होता है तब उसमें पीछेकी अपेक्षा अधिक कोमलता होती है और इसी कारण सर्वप्रथम प्रभाव चित्त पर गहरे और स्थायी रूपसे अंकित होने चाहिएं। उन परिस्थितियोंको एकत्रित कर लो जो कि उचित प्रयोजनों को पक्का कर दें, अपनेको नए मार्ग पर ले जाओ। सार्वजनिक रूपसे नए ढंग अपना लो। एक ऑस्ट्रियाके सज्जनने अपनी पत्नीसे प्रतिज्ञा की कि वह मदिरापन छोड़ देगा। अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहनेके हेतु उसने यह प्रकाशित कर दिया कि जो कोई भी उसे मदिराकी दुकानमें देखेगा उसे वह पचास मोहरें इनाम देगा।

अपवादको कभी स्वीकर मत करो। शराबी, जो शराब न पीनेका प्रण कर लेता है, जब पीता है तो कहता है बस यह आखिरी बार। परन्तु नाड़ीमंडलमें एक ऐसा फ़रिश्ता बैठा रहता है जो अगली बारके इसी कामको और आसान बनाता जाता है। यह उसी तरहका पतन है, जैसे एक आदमी जो तागेका गोला बना रहा है, उसके हाथसे गोला छूट कर गिर जाय और तागा खुल जाय। एक हाथकी फिसलनसे तागेके बहुतसे लपेट खुल जाते हैं।

प्रथम अवसर पर ही कार्य करो, चूको मत, नहीं तो जकड़ लेगी। अतः नए संकल्प पर प्रत्येक अवसर पर कार्य करो। नरकका रास्ता भी अच्छे संकल्पोंसे बना हुआ है और उस परसे फिसलना बहुत सरल है। 'कार्य बोओ, आदतका फल प्राप्त करो; आदत बोओ, चरित्रका फल प्राप्त करो; चरित्र बोओ, भाग्यका फल प्राप्त करो।' (Lubbcok) अधिक उपदेश मत दो और भावपूर्ण बातें मत करो। व्यावहारिक अवसरोंको मत छोड़ो। बालकोंको अनुभव कराओ। नई आदत कैसे डाली जाती हैं, यह उनको दिखाओ। उपदेश और बातें जल्दी ही अपना प्रभाव छोड़ देती हैं।

कक्षाके अन्दर ही कुछ आदतें जान-बूझ कर डाली जा सकती हैं। (१) परिश्रमको स्कूलमें अभ्यास मिलना चाहिए। इसकी सहायता कर सकते हैं—उचित संगठन और ठीक बना टाइम टेबुल, जिसमें बालकोंके स्वास्थ्य आदिकी आवश्यकताओं पर भी ध्यान दिया

गया हो और उनकी क्रियाशीलता काममें आती हो। काममें रुचि प्राप्त की जाय, अध्यापक उदाहरण बताए और असफलता होने पर अध्यापक आलस्यके लिए सजा दें। बड़े विद्यार्थियोंको परिश्रमके लाभ बताए जायं। प्रायः प्रकृति तथा अस्वस्थ होनेके कारण आलस्य होता है। बालककी प्रकृतिकी अज्ञानताके कारण उसकी क्रियाशीलतासे लाभ न उठाना भी इसका एक कारण है।

(२) स्वच्छता, स्वास्थ्य और मानसिक जीवनको प्रभावित करनेके लिए आवश्यक है। गन्दगीसे पाप होता है। स्वच्छता व्यक्तिगत आदतोंको सात्विक बना देती है। इससे आराम मिलता, आत्म-सम्मान बना रहता और प्रवृत्ति सुधर जाती है। स्कूल और अध्यापक दोनों उदाहरण द्वारा सहायता करें। आदतकी समानता और स्थिरता पर जोर दिया जाय। सार्वजनिक सजा नहीं वरन् व्यक्तिगत बातचीतसे समझाया जाय।

(३) अच्छे आचार, उच्च व्यवहार (bearing), चतुराई और दूसरोंके प्रति व्यवहार चालचलन आदिमें है। नम्रता बाहरी प्रदर्शन है और यह सिखाती है कि दूसरों से व्यवहार करते समय आदर्श व्यक्तियोंकी भांति अपनी परवाह नहीं करनी चाहिए। अच्छे आचार आन्तरिक सुन्दरताके बाह्य प्रदर्शन होते हैं, परन्तु प्रायः इसकी तह बड़ी पतली होती है। जीवन-विनयकी सब छोटी बातोंका नित्य अभ्यास करना चाहिए, जैसे सम्मानयुक्त बातें, उपयुक्त भाषण और रुढ़ियोंके अनुसार चलना।

(४) सत्यता और ईमानदारी—नीतिकी दृष्टिसे सत्य वह है जो धोखा नहीं देता और जो खरापन (sincerity), निष्कपटता (candour), सरलता, दूसरेकी सम्मत्तिका सम्मान आदि समान हो। असत्यताके चार कारण हैं--कायरता, स्वार्थ, अतिशय कल्पना और ईर्ष्या तथा दुष्ट-भाव। सत्यता उदाहरणके द्वारा सिखाई जा सकती है। अध्यापक इसके लिए नमूना हो। वह सदा झूठ बोलनेके कारणका पता लगाए और तथोचित व्यवहार करे, क्योंकि झूठका सदा कोई प्रयोजन होता है। स्कूलका शासन अच्छा होना चाहिए और यदि देखभाल कमजोर नहीं है तो बेईमानीका कोई अवसर नहीं होना चाहिए। बहुत अधिक कड़ाई भी नहीं होनी चाहिए, क्योंकि इससे बालक धोखा देना सीखते हैं। सन्देह करनेसे तभी बालक चालाकी और धोखा सीखता है। थोड़ा-सा उपदेश दिया जा सकता है। छोटे विद्यार्थियोंके झूठका मूल कारण कल्पना होती है। भय भी झूठका कारण होता है। बिना डरके जिन बालकोंका पालन होता है वह झूठ नहीं बोलते। सजा देकर ईमानदारी मत सिखाओ, क्योंकि इससे डर और बढ़ेगा और असत्यता भी बढ़ेगी। धमकाओ मत, यदि धमकाते हो तो उस बातको पूरा करके

दिखाओ, जिस बातको पूरा नहीं कर सकते हो उसकी धमकी मत दो।

जेम्स ने आदत डालने पर बहुत ज़ोर दिया है और सोचनेको बहुत कम कर दिया है। यदि शिक्षाका उद्देश्य चेतनको अचेतनमें पहुंचाना है तो अचेतनको चेतनमें पहुंचाना भी उतना ही उद्देश्य है। दूसरे शब्दोंमें विचार-शक्तिको ताज़ा और ठीक रखना है, ताकि यह स्वयंकृतमें न परिवर्तित हो जाय। ऊपरका नया और नीचेका पुराना दिमाग़ है। ऊपर का चेतनाका स्थान है और नीचेका अचेतन सतह पर काम करता है। जब एक प्रतिक्रिया आदतजन्य हो जाती है तो वह ऊपरवालेसे नीचेवाले दिमाग़में भेज दी जाती है। यह इस प्रकार है जैसे अपनी बचतको बैंकमें डाल देना। नीचेका मस्तिष्क हमारी शारीरिक सम्पति रखकर हमें बिना कुछ काम किए ही उस पर ब्याज देता है। उदाहरणके लिए हम ऊपर के मस्तिष्क द्वारा हिज्जे सीखते हैं और नीचेके मस्तिष्कसे इसका अभ्यास करते हैं। यदि चेतनामें हिज्जे चले जाते हैं तो हम भयंकर अवस्थामें हो जाते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि मनुष्यका सारा आचार नीचेके दिमाग़से शासित हो। मनुष्य किसी उद्देश्य-प्राप्तिके लिए केवल स्वयंचालित मशीन, साधन अथवा यंत्र नहीं है। जीवनका साध्य अथवा लक्ष्य मूल्य भी है, जिसकी प्राप्ति विचारसे ही हो सकती है। जेम्स की आदत डालनेकी बातको रूसो, ग्राहम वालेस, ड्यूई, किल्पैट्रिक सबने कम करके विचार शक्तिको ऊंचा बताया है। रूसो कहता है कि 'मैं उसकी केवल एक आदत डालूंगा कि वह कोई आदत न डाले।' ग्राहम वालेस कहता है, 'महान् समाजमें जो व्यक्ति आदत डालनेको रोक सकता है वह मौलिक कार्य कर सकता है, उसका प्रभाव बढ़ता जाता है।' फ़िच (Fitche) ने कहा है, 'आदत डालनेका मतलब असफल होना है।' निश्चित नुस्खोंवाला डॉक्टर, निश्चित उपदेशोंवाला उपदेशक और आदतसे कार्य करनेवाला आदमी असफल होता है। जेम्स स्वयं भी नैत्यिक बातोंकी आदत डालनेको कहता है, जिससे नई परिस्थितियोंका सामना करनेके लिए व्यक्ति स्वतंत्र रहे। बोड (Bode) कहता है कि यह सोचना कि आदत डालनेसे यथाकाल कार्य करनेकी योग्यता नष्ट हो जाती है, मनुष्यके मस्तिष्क और आदतों दोनोंके प्रति मिथ्याबोध है। सहज-क्रियाओंकी भांति आदत अपरिवर्तनशील नहीं होती। उनको विभिन्न परिस्थितियोंमें काम करना होता है और यह दिमाग़ ही उनको व्यवस्थित करता है और आदतें वह मार्ग हैं जिनके द्वारा व्यक्तित्वका प्रदर्शन होता है, क्योंकि वह प्राकृतिक रुचियों पर निर्मित होतीं हैं। एक व्यक्तिने दूसरोंके प्रति मित्रभाव रखनेकी आदत डाल ली हो, जिससे कुछ परिस्थितियोंमें सिर हिलानेसे ही काम चल जायगा, दूसरी में नम्र शब्द कहनेसे, तीसरीमें हाथ पकड़नेसे। यह मस्तिष्क बताता है कि किस समय क्या करो और आदतें मशीनकी भांति कार्य नहीं करतीं, वरन् 'अर्थ' और 'प्रत्ययों' के द्वारा

२३

इच्छा, चरित्र और व्यक्तित्व

इच्छा शब्दको मनोवैज्ञानिकोंने अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त किया है। हम सबसे व्यापक को लेंगे और धीरे-धीरे सीमित करनेवाली बातोंको लेकर संकुचित अर्थ पर आयंगे। इससे विभिन्नताएं निकल आयंगी, जिससे इच्छाके विशेष गुण बनते हैं। कुछ मनोवैज्ञानिकोंका विचार है कि इच्छा और इच्छा-शक्ति (conation) परस्पर बदली जा सकती हैं। हमें इच्छा-शक्तिके अर्थ मालूम हैं। इच्छा-शक्तिकी प्रणाली उद्देश्यके प्रति उत्तेजनासे परिपूर्ण चेतन-क्रियाकी कोई शृंखला है। इस विस्तृत अर्थमें हम यह कह सकते हैं कि इच्छाके सब काम शक्तिके ही हैं, परन्तु इच्छा-शक्तिके सब काम, बहुत व्यापक अर्थको छोड़कर, इच्छाके नहीं होते। इच्छा-शक्तियां जो शारीरिक गतियोंमें प्रदर्शित होती हैं उस अर्थमें कुछ लेखक इसका प्रयोग करते हैं। ऐसी गतियां विचार आते ही होने लगती हैं। वे लगभग सहज-क्रिया और मूलप्रवृत्तियोंकी भांति हैं, और आदतकी भांति भी, क्योंकि क्रिया बहुत कुछ पूर्वसम्बन्धों पर आश्रित है। जैसे एक व्यक्ति जो बहुत सोच-समझके बाद एक सरकारी काग़ज़ पर हस्ताक्षर कर रहा है, वास्तवमें विचार मिश्रितगतिका कार्य कर रहा है। यह विचार उसके दिमाग़में इतनी तेज़ीसे है कि वह कार्यरूपमें परिणत हुआ जा रहा है। अतः इच्छा सदा विचारसे क्रियाका सम्बन्ध है।

कुछ लेखक यह अवश्य समझते हैं कि प्राप्त किये जानेवाले उद्देश्यकी चेतनाको भी सम्मिलित कर लिया जाय, ताकि मूलप्रावृत्तिक क्रिया, जैसे चिड़ियाका घोसला बनाना इच्छा का उदाहरण नहीं है। मूलप्रावृत्तिक क्रिया अन्धी होती है। परन्तु जो व्यक्ति खज़ानेकी प्राप्ति के लिए खोद रहा है और उद्देश्य स्पष्ट है तो यह अभिलाषा हो जाती है। सरकारी काग़ज़

पर हस्ताक्षर करनेवाले आदमीका उदाहरण भी अभिलाषा है, क्योंकि वह इसके द्वारा कुछ प्राप्त करना चाहता है।

परन्तु यह अभिलाषा उसके दिमागमें अकेली नहीं है, उसमें और भी अभिलाषाएं हैं। अतः वह उनमेंसे एक को चुनने पर विचार कर रहा है। जैसे एक लड़के के पास इकन्नी है, वह सोचता है इससे लड्डू खरीदूं या पतंग। वह विचार करता और दोनोंमें से एक, अर्थात् पतंग, पर निश्चय करता है। निश्चय विशेषतः पांच प्रकारके होते हैं। इसमें यही सावधानी रखनी होती है कि सारे तर्क सोच लिए जायं, और हम अपनी भावनाओंके कारण अपने मार्गसे न हट जायं। परिवर्तनशील प्रकार अपने निश्चय बाहरी आकस्मिक परिस्थितियोंके ऊपर छोड़ देता है। जैसे हम अपने अन्दर ही यह विचार कर रहे हों कि काम करने बैठें या घूमें। यदि एक मित्र उसी समय आ जाता है तो हमें काम बन्द करनेका बहाना मिल जाता है। यहां हम निश्चय करनेकी आवश्यकताको टालते हैं या कमसे कम उस परिस्थितिका स्वागत करते हैं जिसके कारण हमें निश्चय नहीं करना पड़ा। असावधान प्रकार अन्दरसे आक्षिप्त मार्गका अनुसरण करता है। जब पक्ष-विपक्षके तर्क समान मालूम दें तो किसी भी एक पर निश्चय कर लेते हैं, तर्कयुक्त निश्चय करनेकी मेहनतसे बचकर। अनिश्चय प्रकार कभी निश्चय नहीं कर पाते। ऐसे लोग छोटी बातों पर ही इतना समय लगा देते हैं कि वह बड़ी बातोंका सामना नहीं कर सकते। 'प्रयत्न' प्रकार वह है जिसमें हम इच्छाके प्रयत्नके द्वारा ठीक काम करना चाहते हैं, चाहे हमारी धारणा और भावना हमें दूसरी ओर खींचती हों। ला मिज़राब्ल का नायक जीन वेलजीन(Jean Valjean) जेलसे छूटकर इतना मान्य हो जाता है कि वह अपने नगरका मेयर बन जाता है। अचानक वह सुनता है कि उसके स्थान पर एक दूसरा आदमी पकड़ लिया गया है। वह इसी निश्चयमें एक भयानक रात व्यतीत करता है कि वह अपने नए जीवनको त्याग दे या रखे। प्रातःकाल होते-होते वह विजयी होता है। वह जाता है और अपनेको भागा हुआ क़ैदी बताकर पुलिसके सुपुर्द कर देता है। कुछ लोग इसीको इच्छाका कार्य कहते हैं।

पिछले उदाहरणमें अभिलाषाका संघर्ष शक्तिशालीने दुर्बलको दबाकर निश्चित कर दिया। पतंग उड़ाना लट्टू नचानेसे अधिक अच्छा समझा गया। पर प्रायः दुर्बलकी विजय हो जाती है। जैसे एक व्यक्तिकी शराब पीनेकी प्रबल इच्छा संयमी होनेकी इच्छासे दब जाती है। इन्हींको इच्छाके प्रयत्न कहा गया है। सारे आदर्श और नैतिक कार्य इसी प्रकारके होते हैं। यह अत्यधिक रुकावटकी भांतिके कार्य हैं। मान लो अ आदर्श इच्छा है, और प पशवृत्ति, य प्रयत्न। अ स्वयं प से कम है परन्तु अ + य प से बड़ा है। प्रयत्न कहांसे

आता है। कुछ कहते हैं कि यह आत्मा ब्रह्म (Ego) में से निकलता है, जो कि अलग है, परन्तु ऐसी किसी बातका प्रमाण नहीं है। कोई चीज ऐसी तो जरूर है जो संघर्षका निबटारा करती है। यह आत्मसम्बन्धी स्थायीभाव है। यह कमजोर है तो आदर्श अकेला स्थिर रहता है, यह शक्तिशालीसे दब जाता है, परन्तु एक व्यक्तिको कुछ क्षण रुकने और सोचने दो, तब वह संसारमें अपनी स्थितिको सोचता है, अपनी लालसा या अभिलाषाओंको सोचता है और यदि इन विचारोंका सम्बन्ध शक्तिशाली संवेगों और प्रवृत्तियोंसे हो जाता है तो निर्बल आदर्श भी सबल हो जाते हैं। अत: आत्मसम्बन्धी स्थायीभावमें उत्पन्न होनेवाली प्रवृत्तियां हमारी निम्न प्रकृतिकी प्रवृत्तियों पर अंकुश रखती हैं। अत: जब भी हम इच्छाके प्रयत्न के विषयमें कहते हैं तो हमारा तात्पर्य हमारी उच्च प्रकृतिकी शक्तिसे होता है। अत: यदि उच्च इच्छाओंकी आवश्यकता है तो आत्मसम्बन्धी स्थायीभाव शक्तिशाली होने चाहिएं। यह अपनी शक्तिके लिए आदर्शवादी और इच्छा-शक्तिके रूप पर आश्रित है। कुछ लोगोंमें अच्छाई और बुराईके अच्छे विचार होते हैं, परन्तु वह कार्यरूपमें परिणत नहीं होते। वह संवेग और अभिलाषाकी भांति अस्थिर होते हैं। वह आदतमें परिणत नहीं हुए हैं। उच्च रूपमें आत्मसम्बन्धी स्थायीभाव आत्मशासन (self-control) का उपस्थायीभाव विकसित कर लेता है, जो कि यह आदत है। सबसे पहले यह किसीका डर होता है फिर दूसरोंके लिए सम्मान, और इसी प्रकार चारों समान (level) हो जाते हैं। आदर्शवादी रूप मनुष्य और वस्तुसे जान-पहचान होनेके द्वारा प्राप्त होता है। अत: बालक अपने और अपने वातावरण-सम्बन्धी ज्ञानमें बढ़ता है। दूसरोंको जाननेसे हम अपने को और अच्छी तरह जान लेते हैं और इस प्रकार हमारे उनके सम्बन्ध अधिक अच्छे हो जाते हैं। नैतिक शिक्षणसे भी इसमें सहायता मिल सकती है। आदर्शवादी रूपका, हम कह चुके हैं, क्रियामें विकास होना चाहिए जिसमें इच्छा-शक्तिका भी रूप (aspect) हो। अत: शारीरिक शक्तिवाला बालक केवल विचारोंमें ही न पड़ा रहे, न कि तीन वर्षके बालकमें सच बोलनेकी आदत डालनेकी कोशिश की जाय, क्योंकि यह दूसरोंसे अपने सम्बन्ध नहीं जानता और कल्पना और यथार्थतामें अन्तर नहीं कर सकता। परन्तु नैतिक कार्य और इच्छा इस प्रकारके झगड़ेमें हमेशा नहीं रहती। यदि आत्मसम्बन्धी स्थायीभाव बहुत शक्तिशाली हो जाता है तो व्यक्ति नैतिक झगड़ेसे ऊपर उठ जाता है। वह पूर्णरूप से चरित्र और पूर्णत: सामान्य इच्छा प्राप्त कर लेता है और संसारको गम्भीरता दिखाता है। उसके संघर्ष अब नैतिक नहीं रहते वरन् वह बौद्धिक प्रयास होते हैं यह जाननेके लिए कि क्या करना अधिक अच्छा है और क्या करना अधिक ठीक है।

हमें प्राय: दो प्रकारकी इच्छाएं मिलती हैं--ठोस (precipitate) या प्रवर्त्तक (impulsive) और अवरुद्ध (obstructed)। पहले प्रकारमें विचार पर क्रिया इतनी जल्दी होती है कि सोचनेको एक क्षण भी नहीं मिलता और हम इसे विचारगति (deomotor) क्रिया ही समझ सकते हैं। जिस नर्वस-संगठन पर यह आश्रित है वह केश विभाजन प्रकारका है। यह गति प्रकारका है जिसमें गतिधाराएं जल्दी और तत्परता से कार्यरूपमें परिणत होती हैं। इसका कारण रुकावटोंका अभाव भी है। अवधान स्थिर नहीं किया जा सकता, बालक सोच नहीं सकता, रट सकता है और परिणामों पर एकदम पहुंच जाता है। ऐसी इच्छाके शिक्षणका आधार उस सीमाके अन्तर्गत होना चाहिए जो विचार और चिन्तनके लिए होती है। किंडर गार्टन ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें क्रिया-शीलताका आधिक्य है। ऐसा बालक शब्दों या डंडोंसे क़ाबूमें नहीं किया जा सकता, क्योंकि इससे वह और भी व्यग्र (restless) हो जाता है। उसे ऐसे जटिल काममें लगा दिया जाय जिसमें देर तक ध्यान लगाए रहनेकी आवश्यकता हो। गणित और व्याकरणके अध्ययनमें विचारकी आवश्यकता है अत: ठीक है। प्रकृति-अध्ययन और भूगोलमें यथार्थ बातोंसे प्रारम्भ करने दो। अवरुद्ध इच्छाका कारण निर्बलता अथवा बहुत अधिक रुकावटें हैं। निष्क्रिय, सुस्त, सोचनेवाला, मस्तिष्कवाले प्रकारका बालक सदा बुद्धिहीन समझा जाता है। कार्यके लिए यह अक्षमता विचार-शक्तिके अभावके कारण हो या विचारोंके आधिक्यके कारण, जो एक-दूसरेको रोकते हों। इस प्रकारके उदाहरणमें शिक्षा प्रदर्शनका प्रबन्ध करे। इसमें किंडरगार्टन अमूल्य है। बालकको क्रियाशील होने, वर्णन करने, प्रश्न पूछने और खेलमें काफ़ी भाग लेनेके लिए उत्साहित किया जाय।

इच्छाके शिक्षणमें हमें अपनेको नियम-निष्ठताके सिद्धान्तके प्रभावके परे रखना चाहिए। हम स्वयं इच्छाको उन परिस्थितियोंसे अलग करके, जिनके सम्बन्धमें यह कार्य कर रही है, शिक्षित नहीं कर सकते। इच्छाकी शिक्षा नित्यके कर्त्तव्यों और घटनाओंसे होती है और स्कूलमें इसके लिए काफ़ी स्थान रहता है। रुकावटोंकी ओर सदा आत्म-शासनकी आवश्यकता रहती है, जिससे दूसरोंके अधिकारोंकी रक्षा हो सके। अन्यायका लालच भी सामने आता है। स्कूलके सामाजिक सम्बन्धके लिए इस बातकी आवश्यकता है कि व्यक्तिगत मर्यादा और स्वतंत्रताका विकास हो। यथार्थ रूप (positive side) में रुकावटोंके प्रतिकूल प्रत्येक पाठ बालकको उसकी शक्ति और निश्चयको नापनेका अवसर देता है। उच्च मर्यादा बनाई जायं, आदर्श बने रहें और आदतें सुरक्षित रहें। इच्छाका शिक्षण पशुवृत्तिको वशमें करनेमें है। यह पशुवृत्ति बालककी इच्छा है, पुरातन

इच्छा। ये बालकसे स्वतंत्र रूपमें ही होने लगती हैं, परन्तु जब एक बार हो जाती हैं तब बालकको उनका अर्थ मालूम हो जाता है। इस प्रकार बालकके पास विचारोंका एक भंडार हो जाता है जो पीछे प्रवृत्तियों पर अंकुशका काम करता है। बालक बहुत कम सोचता है, क्योंकि वह प्रवर्तक (impulsive) होता है; अतः उसके पास विचारोंका अभाव होता है। वयस्क रुकता और पिछले अनुभवोंके कारण प्रवृत्तियों पर अंकुश रखता है। जब ऐसा होता है तो वह विकसित अथवा परिपक्व इच्छाका उदाहरण है। अन्तमें नैतिक इच्छाका विकास सामाजिक इकाइयोंकी पारस्परिक अधीनताके पता लगनेसे और इस बातसे कि समाजका भला सबका भला है होता है। खेलके मैदान और कक्षाके सामाजिक जीवनमें नैतिक बुद्धिका विकास किया जा सकता है। उसमें अधिक उपदेशकी आवश्यकता नहीं। बालक संकेत, अनुकरण और क्रियासे सीखता है। इच्छाके शिक्षणमें शासन, अधिकार और आदतोंके लिए स्थान होता है, जो अध्यापक समझे और कार्यरूपमें परिणत करे।

चरित्र

सारी मूलप्रावृत्तिक और अन्तर्जात प्रवृत्तियों, उनके ऊपर आश्रित आदतें और इनका उनका स्थायीभावोंमें संगठन उनके द्वारा उत्तेजित संवेगोंके साथ और सबसे ऊपर आत्म-सम्बन्धी स्थायीभावकी शासन-शक्तिका जोड़ चरित्र है। मूलप्रवृत्ति जातीय इतिहासकी अपरिवर्तनशील परिस्थितियोंके अनुकूल बन जाती है। आदतें व्यक्तिके जीवनकी समान परिस्थितियोंमें और इच्छानुकूल विभिन्न परिस्थितियोंमें भी यथाकाल हो जाती हैं, क्योंकि इच्छा ही क्रियाशील बुद्धि है। अतः इच्छा चरित्रका सबसे विशेष अंग है और नोवालिस चरित्रको पूर्णतः लोकव्यवहार-युक्त इच्छा कहता है। चरित्र वर्णहीन नहीं होता, यह क्रियाशील होता है। यह न्याय, उदारहृदयता और प्रसिद्धिमें आनन्द लेता है। हमको कहना चाहिए कि चरित्र वंशपरम्परा और वातावरण, प्रकृति और पालन-पोषण पर आश्रित है। प्रायः पिताकी अनैतिक प्रवृत्तियां बालकमें दिखाई पड़ती रहती हैं। परन्तु वातावरणका भी बहुत बड़ा भाग होता है। यदि बालकका पालन-पोषण ऐसे वातावरणमें हो जहां बड़ी कड़ी नीतिका पालन होता हो तो वह उसीमें निमग्न हो जाता है; और यदि उसका पालन-पोषण अनैतिक वातावरणमें होता है तो वह ग़लत रास्ते पर जा सकता है। वंश-परम्पराके दृष्टिकोणसे हम कह सकते हैं कि पापी और पुण्यात्मा सड़कके एक ही कोनेसे उत्पन्न होते हैं, परन्तु पलते विभिन्न वातावरणमें हैं। सहज और स्वयंचालित क्रियाओंके अतिरिक्त चरित्र द्वारा निश्चित कार्य नैतिक कार्य कहलाते हैं। इनका विशेष अंग

परोपकारका स्थायीभाव है और सामाजिक चेतनाके बिना कोई भी नैतिक नहीं हो सकता। इस प्रकार नैतिक और सामाजिक कार्य समान हैं। बालकोंमें परोपकारकी भावना ठीक से विकसित नहीं होती अतः हम अच्छी आदतें और सच्ची समाज-भावना सिखाकर तथा आत्म-सम्बन्धी अच्छे स्थायीभावकी नींव डालकर चरित्र पर प्रभाव डाल सकते हैं। चरित्र-विकासके बहुतसे रूप हैं। प्रारम्भमें यह केवल मूलप्रावृत्तिक प्रतिक्रियाओंसे बना होता है, जिसमें अभ्याससे स्थिरता और समानता आती है। यहां घरका प्रभाव सबसे अधिक पड़ता है। जब पुनरावृत्ति और समानता होती है तब धीरे-धीरे आदत बन जाती है। आदत आचरणके कुछ तरीक़ोंकी धारणाएं हैं। अतः चरित्रके आवश्यक अंग हैं। चरित्र आदतोंका एक ढेर है और आदत वह सामग्री है जिससे चरित्र बनता है। 'शिक्षा व्यवहार के लिए होती है और आदत वह सामग्री है जो व्यवहार बनाती है।' अच्छी आदतोंके डालने में स्कूलका बहुत प्रभाव पड़ता है। आदत बनानेके लिए स्कूलका कार्यक्रम और शासन अच्छा माध्यम है। दूसरे रूपमें इच्छा सबसे अधिक विशेष हो जाती है। चरित्रको पूर्णतः लोकव्यवहार-युक्त इच्छा कहा गया है, जिसमें नैतिक सिद्धान्त इतने शक्तिशाली होते हैं कि वह सम्पूर्ण इच्छाको बनाते हैं। इस रूपमें अध्यापक चरित्र नहीं बना सकता, बल्कि यह बालकका काम होना चाहिए। अध्यापक इसके बनानेमें केवल सहायक हो सकता है। उसका कार्य समझाना, सलाह देना, सावधान और उत्साहित करना है। परन्तु यही सब कुछ नहीं है। अध्यापक समझा सकता है और बालकोंके सामने उपदेश और उदाहरणके द्वारा अच्छाईके गुण प्रदर्शित कर सकता है। उसको ग्रहण करना बालकका कर्त्तव्य है।

यह अच्छा प्रश्न है कि चरित्रसे आचरण उत्पन्न होता है अथवा आचरणसे चरित्र। उत्तर होना चाहिए 'दोनोंका थोड़ा-थोड़ा।' चरित्र अपनेको आचरणमें दिखाता है और आचरण तुरन्त प्रभावित करता अथवा उस चरित्रको सुधारता है जो परिस्थितियोंमें प्रदर्शित हुआ है। हम एक परिस्थितिको लेकर चरित्र-निर्माण पर इसका प्रभाव देखेंगे। एक पिता दिन भर दफ़्तरमें काम करके घर लौटता तथा शान्ति, आराम और अखबारका आनन्द लेना चाहता है। परन्तु बालक दंगा मचाते हैं। माँ उनको एक-दो बार डाँटती है और तीसरी बार पिता उनसे कहता है कि यदि अबकी से दंगा मचाया तो सबको सुला दिया जायगा। इसका परिणाम उनको चुप करना है, जिसकी प्राप्ति एक बाहरी काम से की गई है न कि उनके आन्तरिक प्रकृतिसे कि वह दूसरे के अधिकार और भावनाका ध्यान रक्खें। परिणाम चरित्रके लिए अच्छा नहीं है, क्योंकि आचरण पर ऐसी बातोंका प्रभाव पड़ा है जो स्वार्थी और असामाजिक हैं। चरित्र-शिक्षणकी प्रारम्भिक अवस्थामें

दंड और पारितोषिकका प्रभाव काममें इस आशासे लाया जा सकता है कि बालक धीरे-धीरे एक सामाजिक व्यक्ति बन जायगा। यही कारण है कि इस अवस्थाके लिए बैज, मेडल आदि उचित है। वह स्वयं साध्य (ends) नहीं हैं, परन्तु सम्बद्ध प्रयत्नके द्वारा वह चरित्र बना लें जिसके लिए इनाम मिला है। वह यथार्थ चरित्र-धारणा बनानेके लिए केवल मचानमात्र है, जो चिन्तन तथा आदतकी प्रतिक्रियाओंके उचित चुनावके द्वारा कार्य करता है। एक अच्छे नैतिक चरित्रमें नैतिक बातोंके प्रति सचेतन होना चाहिए, और इसमें निर्णयकी दक्षता और उचित प्रतिक्रियाका चुनाव होना चाहिए और अच्छी आदतों की प्रतिक्रिया बनी हुई हों। इन सबमें सीखनेके नियम रखता और सामूहिक जीवन पक्का करता तथा ग़लत प्रतिक्रियाओं को अलग कर देता है। उदाहरणके लिए यदि हममें कर्त्तव्य या सम्मानकी उच्च भावना है और उसके साथ उचित प्रतिक्रियाओंको सम्बद्ध कर लिया है तो हम नैतिक बातोंके लिए अवश्य सचेतन होंगे और प्रत्येक परिस्थितिके प्रति उसी सम्बन्धकी उचित प्रतिक्रिया चुन लेंगे।

व्यक्तित्व (Personality)

शिक्षाका लक्ष्य योग्य व्यक्तित्वका विकास है। व्यक्तित्व शब्दका अर्थ कई उद्‌गम स्थानोंसे बना है। अतः इसका मौलिक अर्थ व्यक्तिका विशेष चरित्र है। फिर राजनीतिक और कानूनी विचार आए। व्याकरणके तीन पुरुषोंने व्यक्तिका सामाजिक रूप दिखाया। कांटने व्यक्तिकी नैतिक योग्यता जो सांसारिक सम्पत्तिसे बड़ी चीज़ है उस पर ज़ोर दिया। हरएकको उसके लिए प्रयास करना चाहिए। प्रजातंत्रवादने व्यक्तिको और भी विशेष स्थान दिलाया। शिक्षा-दृष्टिसे व्यक्तित्व-सम्बन्धी विचारोंका प्रभाव स्पष्ट है। हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि हम व्यक्तियोंको शिक्षाके विषयके रूपमें देख रहे हैं। शिक्षा में पाठ्यक्रम, पाठ्य पुस्तकें, टाइमटेबुल, परीक्षा आदि इतनी चीज़ें होती हैं कि हम भूल जाते हैं कि यह सब साधन हैं और साध्य तो बालक ही है।

यहां हमें योग्य व्यक्तित्वकी विशेषताओंको देखना है। पहली बात तो यह है कि व्यक्तित्व सामाजिक होता है। एक व्यक्तिका आत्म-सम्बन्धी प्रत्यय उसका दूसरोंके साथ अनुभव करने के कारण होता है। हम जिस समूहके हैं उसीका चरित्र प्रतिबिम्बित करते हैं। हम सब सामाजिक परम्पराके उत्तराधिकारी हैं। हम जिस समाजमें रख दिये जाते हैं उसीकी प्रकृतिमें अपनेको घुला-मिला देते हैं। संक्षेपमें, हमारे व्यक्तित्वका एक भाग बाह्य वातावरणसे बनता है। स्कूल इन प्रभावोंमेंसे वांछनीय चुनाव प्रदान करें। हम

सरलतासे बता सकते हैं कि एक व्यक्तिने शिक्षा कहां प्राप्त की है, क्योंकि उसके बोलचाल और चाल-ढाल उसकी शिक्षाको तुरन्त व्यक्त कर देते हैं, अतः यदि स्कूलका वातावरण आध्यात्मिक, शारीरिक और बौद्धिक प्रकारका है तो व्यक्तित्वका विकास भी अच्छा होगा। अच्छे व्यक्तित्वकी दूसरी विशेषता यह है कि मनकी तीन क्रियाओं—जानना, भावना, और इच्छा करना—में उचित अनुपात हो। अनुरूप विकास उद्देश्यके विवादमें हम बता चुके हैं कि यह शिक्षाका एक उद्देश्य है। हम ऐसा व्यक्ति भी नहीं बनाना चाहते जिसकी लौह इच्छा हो, या बौद्धिक बालकी खाल निकालनेवाला हो, जो किसी निश्चय पर न पहुंच सके, उसे पूरा करनेवाला तो दूर रहा, या ललित कलाका रसिक बन जाय। तीसरे, व्यक्तित्वके साथ व्यक्तिगत पहचानका ज्ञान सम्मिलित है। शिशुके लिए सारी दुनियां चीज़ोंसे भरी हुई है, बादमें उसमें मनुष्य दिखाई पड़ते हैं, फिर विभिन्न व्यक्तियों का पता चलता है, इससे स्वयं या अहंको सन्तोष होता है। यह चेतना एक प्रकारकी दृढ़ताको लिए होती है जिसे पर्याप्त स्थान देना चाहिए। परन्तु सामाजिक जीवनमें दृढ़ता और नम्रता दोनोंकी आवश्यकता है और हमारी शिक्षाको दोनोंके बीचका सुनहरा माध्यम प्राप्त करना चाहिए।

२४

पृथक् व्यक्तित्व, समाजीकरण, स्वतंत्रता

प्रारम्भिक अर्थमें व्यक्तिका अर्थ इकाई है। हाथके कंकड़ोंमें से हरेक कंकड़ एक अलग कंकड़ है। परन्तु संख्या-सम्बन्धी भिन्नताके अतिरिक्त व्यक्तिका दर्शनकी दृष्टिसे और भी कुछ अर्थ है। अतः इसका आन्तरिक रूप देखना होगा। इस दृष्टिसे कंकड़का व्यक्तित्व बड़ा निर्बल है। यदि यह तोड़ दिया जाय तो इसके टुकड़े भी कंकड़ ही होंगे। परन्तु एक बड़े औद्योगिक संगठन या किसी प्रकारके आर्थिक अथवा नैतिक जीवनके साथ ऐसा नहीं होता। यह व्यक्तित्वके भिन्न प्रकारके उदाहरण हैं। यह बात व्यक्तित्वके लिए बहुत कम विशेषता रखती है कि एक औद्योगिक संगठन दूसरेसे भिन्न होता है। अधिक विशेषता रखनेवाले हैं—भिन्न शक्तियां; उन व्यक्तियोंके कार्य तथा उत्तरदायित्व, जो उनमें काम करते हैं; वह विधि जिसमें उसके अनेक कर्मचारी एक प्रयोजनकी सिद्धिके लिए ही कार्य करते हैं; वह भावना जो सबको एक व्यापारिक साधनमें बद्ध करती है। इस व्यक्तित्वमें मात्राएं हो सकती हैं। इसके अंगोंमें जितना ही सहयोग होगा सम्पूर्णके प्रति उसके अंगोंकी प्रतिक्रिया उतनी ही शीघ्र होगी, और उतना ही पृथक् व्यक्तित्व होगा। यह उद्योग कंकड़ोंकी भांति टुकड़ोंमें विभाजित नहीं किया जा सकता। यदि इसको आधा करनेका प्रयत्न किया जायगा तो दो उद्योग नहीं बनेंगे, वरन् सारे आदमी बेकार हो जायंगे।

इस उच्च अर्थमें शायद पृथक् व्यक्तित्वका उदाहरण कलाके कार्यमें मिलता है। कलाकी कृति परिपूर्ण (perfect) हो सकती है। जब यह पूर्ण पृथक् व्यक्तित्वके अधिक निकट पहुंचती है तभी एकता अधिक होती है, जो इसके सब अंगोंमें व्याप्त रहती और

उनके आत्मधृत (self-contained) और अविभाजित होनेवाले सम्पूर्णमें मिला देती है। एक कविता, चित्र, संगीत अथवा इमारतकी सम्पूर्णता उस सम्पूर्णता पर आश्रित है जिसके साथ विभिन्नतामें से एकता प्राप्त की गई है। यह व्यक्तित्व घटनावश नहीं होता, वरन् इसके उत्पादकके व्यक्तित्वका कम या अधिक प्रदर्शन है। अतः वह एक काम औरोंसे भिन्न होता है; इसलिये नहीं कि इसका कर्त्ता अनुपम बुद्धिका होता है वरन् इसलिए कि विभिन्न शक्तियां एक अनुरूप मिश्रणमें अच्छे उद्देश्यके लिए एक साथ कार्य करनेके लिए लाई या नहीं लाई गई हैं। यह हो सकता है कि एक बहुत गुणवान् व्यक्ति सामान्य व्यक्तित्वका निर्माण करे जब कि उसके गुणोंका ठीकसे सहयोग नहीं हुआ है, या साधारण गुणोंवाला व्यक्ति अच्छे व्यक्तित्वका विकास कर ले। यह व्यक्तिगत कार्यकी आवश्यकता बताता है। एक कविको अपनी कलाको सीखना और अध्ययन करना होता है कोई दूसरा नहीं, वह स्वयं ही अपनेको कवि बना सकता है। कवि मोटरकी भांति मशीनसे नहीं बन सकता। अतः हमें देखना चाहिए कि प्रत्येक बालकको अपने विकासके लिए स्थान मिलता है? उसके साथ इकाईकी भांति व्यवहार होता है, औसतकी भांति नहीं? 'इस दृष्टिकोणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षाका सच्चा उद्देश्य ऐसी अवस्था बना देना है जिससे बालक अपने-अपने पृथक् व्यक्तित्वके विकासके लिए ठीक उत्तेजना और सहायता पा सकें। स्कूलमें व्यक्तिगत कार्यका यह दार्शनिक आधार है।'

पृथक् व्यक्तित्वके दो उपसिद्धान्त--समाजीकरण और स्वतंत्रता--हैं। इनमें से प्रथम व्यक्ति और सामाजिक जीवनके सम्बन्धको सुलझानेका प्रयास करता है। एक दृष्टिसे व्यक्ति एक इकाई है। हाथ और सिर हमारे हैं, अतः शरीरकी दृष्टिसे हम सब अलग और भिन्न अस्तित्व हैं। बहुत-सा प्रमाण दूसरी तरफ़ मिलता है। हम पशुसे मनुष्यमें विकसित होते हैं, यह इस बातसे होता है कि हम भावना और चरित्र, जो हमारे माता पिताके दिमाग़में हैं या जो बातें हमारे शिशुकालमें हमें प्रभावित करते हैं, या स्कूलमें या बादके जीवनमें प्रभावित करती हैं, सबको ग्रहण कर लेते हैं। अतः यह मानना कठिन हो जाता है कि मनुष्यका दिमाग़ अपना ही है। 'हम दुनियांमें उतना ही रिक्त दिमाग़ लेकर आते हैं जैसा नग्न शरीर, और जैसे हमारे शरीरको हमारे हाथ कपड़े पहनाते हैं इसी प्रकार हमारी आत्मा दूसरी आत्माओंकी दी हुई बातोंसे सम्पूर्ण होती है।' हमारे दिमाग़की सजावट दूसरे मनुष्योंके दिमाग़से निकलती है। विभिन्न राष्ट्रोंमें विभिन्न विचार होते हैं और दुनियांका अवेक्षण (outlook) भी भिन्न होता है। हम जिनके बीचमें रहते हैं उनसे अलग नहीं हो सकते। बहुतसे दार्शनिकों पर इस सत्यका प्रभाव

पड़ा है कि कोई व्यक्ति सामाजिक माध्यमके बिना नॉर्मल व्यक्ति नहीं हो सकता। 'न्यूरेम्बर्ग बालक' की कहानी इसे सिद्ध करती है। कास्पर हॉसर नामक बालक एक गड्ढेमें रखकर पाला गया। उसके पास कोई नित्य रोटीका टुकड़ा और पानी रख देता था, जिसे उसने कभी नहीं देखा। वह रोटी खा लेता, पानी पी लेता, सोता और जागता था। १७ वर्ष तक यही हाल रहा। तब उसके पालकने उसे खड़ा होना और चलना सिखाया और न्यूरेम्बर्गकी सड़क पर छोड़ दिया। वह न्यूरेम्बर्ग बालककी तरह पाला गया, उसे सुरक्षासे रक्खा गया और रक्षकके बच्चोंने उसे चलना और बोलना सिखाया। फिर शिक्षाके लिए वह एक विख्यात प्रोफ़ेसरके सुपुर्द कर दिया गया। पता चला कि उसकी बुद्धि दो वर्षके बालकके समान थी, परन्तु उसकी शक्तियां मन्द नहीं थीं। उसकी इन्द्रियां बड़ी तेज और स्मरण-शक्ति बहुत तीव्र थी। एक बार देख लेने पर वह किसीकी शक्ल नहीं भूलता था। उसकी कमज़ोरी यही थी कि अपनी उम्रके लायक उसमें सामाजिक प्राप्तिकी कमी थी। धीरे-धीरे वह साधारण व्यक्तिकी भांति व्यवहार करना सीख गया।

इसके कारण बहुतसे दार्शनिक हीगेल का अनुसरण करने लगे हैं, जिसकी प्रणाली मनुष्योंकी भिन्नता और पृथक्ताको बहुत कम कर देती है और उस सम्पूर्णकी एकता पर अधिक ज़ोर देती है जिसके वह अंग हैं। क्रोसके दर्शनमें इस बातको बहुत अतिशयोक्ति के साथ कहा गया है। वह कहता है कि हमारी अपनी कोई इच्छा नहीं है, वरन् सारी जातिकी संगठित आत्मा है। कोई इतनी दूरकी नहीं सोचेगा। जब हम सामूहिक जीवन की, जातिकी आत्माकी, राष्ट्रकी भावनाकी, तथा स्कूलके मस्तिष्ककी बात करते हैं तो वह केवल आलंकारिक बात है। जो भी मस्तिष्क, आत्मा, भावना आदि हैं सब व्यक्तिकी हैं। वास्तवमें हम अपने दिमाग़को उस सामग्रीसे बनाते हैं जो उस समाजसे लिया है जिसमें हम रहते हैं। और इसी प्रकार हमारे शरीर बने हैं। इसी कारण हम अपने शरीरके पृथक् व्यक्तित्वके लिए इंकार नहीं करते। अतः यह कहना कि व्यक्तिके दिमाग़का भरण सामूहिक दिमाग़से किया जाता है, पृथक् व्यक्तित्वके लिए इन्कार करना नहीं है। वास्तवमें व्यक्ति इस प्रकार बना है कि वह सामाजिक जीवनके रूपमें ही अपना जीवन रख सकता और विकसित कर सकता है। जनतांत्रिक शिक्षा जो कि ड्यूई ने बताई है, उसका यही आदर्श है। वह कहता है कि 'जनतांत्रिक शिक्षाका उद्देश्य एक व्यक्तिको केवल सामूहिक जीवनमें बुद्धिमानीसे भाग लेनेवाला ही नहीं बनाना है वरन् उन समूहोंको निरन्तर ऐसी अन्तर्क्रिया करनी है कि कोई व्यक्ति, या कोई आर्थिक समूह

दूसरेसे स्वतंत्र रहनेका अनुमान न कर सके।' कुमारी पर्खर्स्टका आदर्श यह है, 'वास्तविक सामाजिक जीवन सम्पर्कसे अधिक होता है, यह सहयोग और अन्तर्क्रिया है। स्कूल उस सामाजिक अनुभवका प्रदर्शन नहीं कर सकता जो कि जातीय जीवनका परिणाम है, जब तक कि इसके अंग या समूह एक-दूसरेसे वह निकट सम्बन्ध नहीं स्थापित कर लेते और वह अन्योन्य आश्रय नहीं प्राप्त हो जाता जो स्कूलके बाहर आदमियों और राष्ट्रोंको संयुक्त करता है।' पुरानी शिक्षामें कक्षा अध्यापककी अध्यक्षतामें एक समाज होता था। इसके द्वारा बनी अवस्थाएं यथार्थ नहीं हैं। कक्षामें अध्यापक अपनी मानुषिक रुचियों, आकर्षणों और पृथक् व्यक्तित्वको अलग ताक पर रख देते हैं। अवस्थाएं कृत्रिम होती हैं और कक्षाके विद्यार्थियोंसे बने सम्बन्ध भी कृत्रिम हो सकते हैं। जब बालकको अधिकारियों और नियमोंके अन्तर्गत रहना पड़ता है तो सामाजिक चेतनाका विकास कठिन हो जाता है, जो उस सामाजिक अनुभवका आरम्भ है जो प्रत्येक स्त्री-पुरुषके लिए अनिवार्य है।

पृथक् व्यक्तित्वका दूसरा पूरक स्वतंत्रता है। व्यक्तित्वकी कुंजी, विभिन्नतामें एकता, एक स्वतंत्र जीवके द्वारा बनी है। इससे इच्छाकी स्वतंत्रताका प्रश्न उठता है। जीवनमें चुनावकी गुंजाइश है या जो कुछ होता है वह होना जरूरी है। संसार मृत है, जिसमें सब कार्य घड़ीकी भांति होता रहता है; या जीवित, जिसमें सब कार्य बुद्धिसे होता है। मृत संसारमें स्वतंत्रता नहीं हो सकती। यह तभी हो सकता है जब संसार स्वतंत्र, उत्पादक और जीवित हो। शिक्षाकी केवल दो ही प्रणाली हो सकती हैं, एक वह जो मृत संसारके लायक हो और दूसरी जीवितके। पहलेमें हमारा उद्देश्य अपनेको घड़ीके समान कार्य करनेवाली परिस्थितियोंके अनुकूल करना होगा और दूसरेमें हमें उत्पादन-क्रिया के लिए तैयार होना। स्वतंत्रता है या आवश्यकता, यह प्रश्न तर्क या विवादसे निश्चित नहीं हो सकता। यह निश्चित बातोंके लिए है। परन्तु मनुष्य परिवर्तनशील है। जैसे ही तुम्हें मालूम होता है कि आवश्यकता है तुम खड़े होते और वह काम करते हो, जिससे पता चलता है कि तुम्हें स्वतंत्रता है। यही बात कार्लाइलके साथ थी। वह दार्शनिकोंके साथ रहता था, जिन्होंने उसे विश्वास दिला दिया कि उसका अस्तित्व सांसारिक आवश्यकताके चक्रमें दांता है। फिर एक आश्चर्यजनक बात हुई। यह अन्तर पता चला कि एक अवस्था में होना और उस अवस्थामें होनेकी चेतना होना विभिन्न बातें हैं। दांत निकलवाना एक बात है और इस बातकी चेतना होना कि तुम्हारा दांत निकाला जा रहा है दूसरी बात। प्रतिक्रियात्मक शक्तियां अपनेको दृढ़ कर लेती हैं और तुम उछल पड़ते हो। जब

कार्लाइल को पता चला कि वह आवश्यकतामें जकड़ा हुआ है, वह उठा और उसने आत्माकी तलवार खींचकर अपनेको स्वतंत्र घोषित कर दिया। उच्चतम कहा नहीं जा सकता परन्तु किया जा सकता है। स्वतंत्रताके अस्तित्वके लिए सबसे बड़ा तर्क स्वतंत्र होनेकी वास्तविकता है। अतः हमारी शिक्षा स्वतंत्रताकी यथार्थताके समान होनी चाहिए।

परन्तु पाश्चात्य दर्शनने अभी तक मृत संसारमें विश्वास किया था। अतः पाश्चात्य सभ्यताने राजनीतिका रूप लिया और इसका सांकेतिक शब्द सरकार हो गया और इसकी अधिकांश शिक्षा स्वतंत्रता और उत्पादन-शक्तिका दमन करनेवाली है। पूर्वमें एक समयकी महती शिक्षाके अवशेष बाक़ी हैं, जिसका आधार राजनीतिक नहीं सांस्कृतिक था, और जिसका सांकेतिक शब्द सरकार नहीं संस्कृति थी, अधिकतर धार्मिक संस्कृति। एडमंड होल्म्स ने पाश्चात्य विचार और उसका शिक्षा पर प्रभावका बहुत दक्षतासे विश्लेषण किया है। 'क्या है और क्या हो सकता है?' पाश्चात्य विचारक प्रायः द्वैतवादी होता है। अपनी साधन-भाषाकी आवश्यकताओंसे जकड़ा हुआ वह शरीरसे मन, पदार्थसे आत्मा, बुराईसे अच्छाई, सृष्टिसे सृष्टिकर्ता, मनुष्यसे भगवान् का विरोध करता है और विरोधी बातोंमें वह भारी गर्त छोड़ देता है, जिससे अर्थकी विपरीतता होती है। अस्तित्वके रहस्यका सामना होने पर उसने इसे सृष्टिकी कहानीसे समझाया है। पाप और दुःखके रहस्यका सामना होने पर इसने पतनकी कहानीसे समझाया है। इसने पापके मौलिक सिद्धान्तको सुझाया कि मनुष्य-प्रकृति विकृत, पतित और दोषपूर्ण है। अतः उसने इस अपूर्ण दुनियांके परे दूसरी पूर्ण स्वर्गकी दुनियां देखी, जिसमेंसे इस दुनियांके मार्गदर्शनके लिए दैवी प्रकाश और ज्ञान मिलता है। यह प्रकाश विशेष जातियोंको ही हुआ है, जो विशेष धर्म शास्त्रों द्वारा एक विशेष नबी ने विशेष चर्चमें दिया। कुछ लोग स्वर्गीय सत्य जानते थे और उन्होंने उसको ईश्वरीय आज्ञाओं (commandments) का रूप दिया, जिनका पालन करनेसे मनुष्यकी रक्षा हो सकती है। अंधे होकर गुलाम या मशीनकी तरह उनका पालन करनेसे मोक्ष-प्राप्ति हो सकती है। अपनी ही उच्च भावनाओंको आज्ञा-पालनका अधिकार और आत्म-सिद्धिका मार्ग त्याग दिया गया। इन आज्ञाओंका पालन करानेके लिए दंड और पारितोषिककी प्रणाली रखी गई है। पहले शिक्षा पादरियोंके हाथमें थी, अतः यह बातें स्कूलमें अभी तक पाई जाती हैं। अध्यापकके शब्दोंमें 'करो' और 'मत करो' भरा पड़ा है।

बालक को अपने अध्यापक पर अवश्य विश्वास करना चाहिए और जो वह करे वही करना चाहिए। ठीक मार्ग है। 'मुझे देखो, मैं क्या कर रहा हूं। मेरे हाथ पर ध्यान दो।

इस तरह करो। जो कहता हूं, उसे सुनो। मुझे दोहराओ, सब एक साथ दोहराओ।' इस प्रकार बालककी इच्छाको तोड़ना और इसके स्थानमें कोई कृत्रिम चीज देनी है। कुछ अधीन-प्रकृतिके बच्चोंमें कृत्रिम व्यक्तित्व बनाना सम्भव है, और इसे बहुतोंने, विशेषकर जेसुइटों में, उचित भी कहा गया है। हर्बार्ट के अनुसरण करनेवाले मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि बालकका दिमाग खाली होता है और मनुष्य जैसा चाहे वैसा रूप उसे दे सकता है, उसमें उचित विकार भरकर और विचार-वृत्त बनाकर जो उसका कार्य निश्चित कर देगा। इस प्रकार बिलकुल नैतिक व्यक्तित्वका प्राकृतिक संगठनके स्थान पर कृत्रिम निर्माण किया जा सकता है, प्राकृतिक व्यक्तिके इस दमनके भयानक परिणाम भी हो सकते हैं, जैसा कि बहुत दमन किये गये बालकोंके आगेके जीवनसे पता चलता है। स्कूल छोड़ने पर बालक रूढ़िवादी शिक्षाका बड़ा विरोध करते या दोहरा जीवन व्यतीत करते हैं। यह केवल दर्शन, धर्म या मनोविज्ञान नहीं है जो बालक पर बलात् जोर जमाना बताये। यह प्रायः प्रभुत्वशाली जातिका लालच होता है। नन (Nunn) का कहना है कि उसने उन ३०० स्त्रियोंसे बातचीत की जो अध्यापिका बनना चाहती थीं और उनसे पूछा कि वह यह काम क्यों करना चाहती थीं और उन्होंने गुड़ियोंके खेल में भी टीचर का खेल खेला था क्या? अधिकतरने पिछले प्रश्नके उत्तरमें हां कहा और बताया कि वह डाँटना और आज्ञा देना पसन्द करतीं हैं, इसलिए अध्यापिका बनाना चाहतीं हैं।

मौलिक पाप और इसके दमनके इस सिद्धान्तके विरुद्ध सब शिक्षावेत्ताओंने कठिन संघर्ष किया है। इस सम्बन्धमें रूसो और फ्रॉएबेल के विचार हम पहले ही बता चुके हैं। इमर्सन कहता है, 'शिक्षाका रहस्य बालकका सम्मान करनेमें है। यह तुम्हारा काम नहीं है कि तुम चुनो कि उसे क्या करना चाहिए। रुको और प्रकृतिकी नई उत्पत्तिको देखो। प्रकृति समानता पसन्द करती है पुनरावृत्ति नहीं। बालकका सम्मान करो। आवश्यकता से अधिक मां-बाप न बनो। उसके एकाकीपनका उल्लंघन न करो। डा० मांटेसरी इस समस्या पर प्राणिविज्ञानकी दृष्टिसे विचार करतीं हैं। प्रत्येक बालक जीवन-शक्तिका अद्वितीय प्रदर्शन है।' बालक एक बढ़ता हुआ शरीर और विकसित होती हुई आत्मा है। शारीरिक और मनोवैज्ञानिक दोनोंका रूप एक ही है—जीवन स्वयं। हमें रहस्यमय शक्तियोंका न तो दमन ही करना चाहिए और न गला घोटना, जो विकासके इन दो रूपों के अन्तर्गत हैं, परन्तु हमें उनमें उन प्रदर्शनोंकी प्रतीक्षा करनी चाहिए, जो हमें मालूम हैं, एक-दूसरेके बाद आयंगे। जिस समय बालकने क्रियाशील होना प्रारम्भ ही किया

है उस समय हम उसकी प्रकृतिजन्य क्रियाके दमनका परिणाम नहीं जान पाते, शायद हम जीवनका ही दमन कर डालते हैं .... व्यक्तित्वके इस प्रारम्भिक प्रदर्शनोंका हमें धार्मिक रूपसे सम्मान करना चाहिए......... यह अत्यन्त आवश्यक है कि प्रकृति-जन्य गतियोंकी बाधा और उच्छृंखल कामोंके दबावको हटाना है।' डा० नन कहता है, 'शिक्षा-सम्बन्धी प्रयत्नको वह अवस्था लाने तक प्रत्येक के लिए सीमित रखना चाहिए, जिसके अन्दर व्यक्तित्वका पूर्ण विकास हो सके। तो क्या अध्यापकका काम यह है कि बुरे और अच्छे आदमी बननेके लिए निष्पक्ष होकर सहानुभूति दिखाये? परन्तु हमारा उत्तर है कि बालकका अपना उत्तरदायित्व होनेसे उसके प्रति दूसरोंका उत्तरदायित्व खतम नहीं हो जाता। शिक्षकको बुरे जीवनके बीज नहीं बोने हैं। आत्माका हनन करनेवाली चीजें भी होतीं हैं। जीवनके चारों ओर बुरी बातोंकी मनाई की झड़ियां लगी हुई हैं जिसको अन्वेषक भूल न जायं। परन्तु चतुर अध्यापक आवश्यकतासे अधिक रुकावटें नहीं लगायेगा। यह देखना बड़ा कठिन है कि कौन-सा जीवन दुनियांकी सम्पत्तिको बढ़ायगा या उससे छीन लेगा और कहीं हम अपने दकियानूसीपन के कारण तो कहीं विरोध नहीं कर रहे हैं। बहुतसे व्यक्तियोंने भूतकालमें उन उत्पादक क्रियाओंका दमन करनेकी चेष्टा की जो भविष्यमें बहुत लाभकारी सिद्ध हुईं। भविष्यका ध्यान रखनेवाले और वैनर (Wagner) भी बहुत निरुत्साहित किये गये थे। महिला-आन्दोलनका मजाक उड़ाया गया और विक्टोरिया के कालका इंगलैंड महिलाओंको डाक्टरीकी पढ़ाई में प्रवेश नहीं करने देगा। एक वीर आत्मा सारे संसारको बदल सकती है और इसको ऊंची सतह पर पहुंचा सकती है, परन्तु इसका अजनबीपनके कारण विरोध हो सकता है।

२५

सामूहिक मस्तिष्क

स्कूलमें समाजीकरणकी बात हमें उस विचार पर लाती है जिसे मनोविज्ञानमें डा० मैक्ड्यूगल ने प्रारम्भ किया। यह सामूहिक मस्तिष्कका विचार है। हम देख चुके हैं कि मनुष्यका व्यक्तित्व कुछ अंश तक बाहरसे जिस समाजमें वह रहता है उससे बनता है। व्यक्तियोंका अस्थायी समूह, जैसे एक भीड़में, और स्थायी, जैसे एक राष्ट्रमें, व्यक्ति से भिन्न प्रकारका व्यवहार करता है। समूहका मस्तिष्क उसके बनानेवाले व्यक्तियोंके दिमाग़ोंका जोड़ नहीं होता वरन् एक अलग ही चीज़ होती है। रासायनिक भाषामें कह सकते हैं कि भीड़के व्यक्ति एक मशीनकी तरहका मिश्रण (mixture) नहीं होते, वरन् एक रासायनिक यौगिक (compound) बनाते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि मनुष्य समूहमें दूसरी तरह और व्यक्तिके रूपमें दूसरी तरह व्यवहार करते हैं। खुशीके समय भीड़में जो हो हुल्लड़ होता है, वह यदि कोई व्यक्तिके रूपमें करनेको सोचे तो उसे लज्जा आयेगी। इस मनोवैज्ञानिक बातका अध्ययन वैज्ञानिक कर रहे हैं और इस अध्ययनके परिणाम धीरे-धीरे कक्षाकी प्रणाली पर प्रभाव डालने लगे हैं।

प्रत्येक आत्माकी द्वितीय आत्मा होनी चाहिए, परन्तु यदि इसके ऊपर क्रिया करने के लिए और आत्मा न हो तो इसका जीवित अस्तित्व नहीं हो सकता। यह कहनेका दूसरा तरीका है कि व्यक्ति अपनेको समाजमें ही सिद्ध कर सकता है। दूसरी आत्मा के सम्पर्कके अनुसारही आत्मा परिवर्तित होती है। १४ वर्षके लड़केको दिन भरमें अनेक काम करने पड़ते हैं। वह अपने भाई-बहिन, मां-बाप, अध्यापक, साथियों आदि के मिलने पर भिन्न होता जाता है। वह सामाजिक वातावरणकी आवश्यकताओंका सामना करने

के लिए निरन्तर बदलता रहता है। उसकी स्थिति बहुत कुछ अणुकी भांति है जैसे कि अणु स्वयं स्थित नहीं रह सकते वरन् परमाणु (molecules) बननेके लिए अन्य अणुओंसे मिलते हैं। इसी प्रकार आत्मा स्वयं नहीं रह सकती वरन् समूह बनानेके लिए औरोंसे संयुक्त होती है। मनोविज्ञानके लिए केवल समूह एक भीड़ नहीं है, अतः ट्रेनके यात्री भोड़ नहीं बनाते जब तक कि उनको एक साथ काम करने के लिए कोई बात न हो जाय। यदि कोई विस्फोट हो जाये या अचानक बिना कारण ट्रेन खड़ी होजाय तो सब सिर बाहर निकल पड़ेंगे और वह एक मनोवैज्ञानिक भीड़ होगी जो साधारण (common) काम कर सकती है। भीड़ की भी कई डिग्री होती हैं। पहले तो वह व्यक्ति होता है, जो अणुके समान होता है; और फिर परमाणुसे समानता रखनेवाला, जो भ्रमण करते हुए तीन-चार व्यक्तियों या खानेकी मेजके चारों ओर बैठे व्यक्तियों में मिलता है; और फिर एक संगठित समूह जैसे चर्चमें, या राजनीतिक दलमें, या उस भीड़ में जो फ़ुटबालका मैच देख रही है। इन सब व्यक्तियोंके परे उन व्यक्तियोंकी मनोवैज्ञानिक भीड़ दिखाई देगी जो परस्पर कभी नहीं मिलते, जो यहीं अखबार पढ़ते या रेडियो सुनते हैं। यह अदृष्ट भीड़ है। और अन्तमें वह भीड़ है जो चारों तरफ़ इकट्ठी होती रहती है। ऐसी भीड़को नेता बड़ी जल्दी अपने वशमें कर लेते हैं। यह समूह कैसे इकट्ठा होते और व्यक्तिके दिमाग़ पर इसका क्या प्रभाव पड़ता है, यह सामाजिक या सामूहिक मनोविज्ञानके अन्तर्गत आता है। यह मान लिया गया है कि संकेत (suggestion), अनुकरण और सहानुभूतिकी शक्तियोंका सामूहिक क्रियामें बड़ा भाग है, और इस प्रणालीको प्राथमिक (primitive) कार्य को लौटना कहा गया है। एक भीड़ जब सभ्यताके बन्धनोंको तोड़ देती है तो प्राथमिकको लौटती है। भीड़के व्यक्तियों की साधारण बातें संयुक्त हो जातीं और विभिन्न बातें एक-दूसरेको आकृष्ट करतीं हैं। यह संयोग और आकर्षण बहुत शीघ्र होता है, यदि भीड़में एक ही प्रकारके और जान-पहचानके व्यक्ति हों।

कक्षा एक ही प्रकारके और जान-पहचानके व्यक्तियोंकी सामूहिक इकाई है। लड़के एक ही उम्रके समान सामाजिक स्थितिके, खेलके प्रति समान धारणाके, समान मानसिक ज्ञानके और समान मानसिक दृष्टिकोणके होते हैं। इसके अतिरिक्त सब बालकोंकी अध्यापक से जान-पहचान होती है। अतः प्रभावशाली होनेके लिये अध्यापकको अपनी कक्षाके सामूहिक मस्तिष्कका पता लगा लेना चाहिए। पुरानी शिक्षाने सामाजिक जीवनकी विशेषताको मान लिया था और इसकी किताबोंमें पारस्परिक दयालुता और सहकारिता

की आवश्यकता पर जोर दिया जाता था। यहां भी उसमें वही ग़लती थी। बन्धुभाव और मित्रभाव सिखानेमें इसने किसी भी प्रकारके सम्बन्धकी सम्भावनाको छोड़ दिया। बालकको एक-दूसरेसे अलग करके एक अधिकारीके नीचे कर दिया गया। नैत्यिक अभ्याससे सामाजिक और व्यक्तिगत परिवर्तनके खतरे पता चलते हैं। बालक, जो कि खेल के मैदानमें सामाजिक रूपसे रहे थे, कक्षामें भी ऐसा ही करते हैं। वह अब भी एक-दूसरेकी सहायता करना चाहते हैं—नक़ल करवाके, बताकर। इस प्रकार वह छल सीख जाते हैं। जब वह कक्षामें स्वार्थसे रहते हैं तो वह बाहर भी यही करते रहते हैं और यह सीखनेमें बड़ी देर लगती है कि खेलोंमें मिलकर कैसे खेलें और साधारण उद्देश्यके लिए बिना दिखावेके लाभदायक रूपमें सहकारितासे कैसे काम करें। एक साथ खेलना ही पर्याप्त नहीं है। लाभदायक कार्यके लिए सहकारिताकी आवश्यकता है। अतः नई शिक्षा कक्षामें भी उसी सहकारिताका प्रारम्भ करती है, जो खेलके मैदानमें होती है। बालकोंके लिए सामाजिक रूपसे रहना, सहयोग देना, दिए हुए कार्यके लिए उचित सहायक ढूंढ़ लेना, अपने विचारोंको वशमें कर लेना और यह भी मान लेना कि उनका मत नहीं भी माना जा सकता है, कठिन है।

अध्यापकको इस अर्थमें उसका नेता होना चाहिए कि वह सामूहिक मन समझ सके और उसे अपने प्रयोजनके लिए काममें ला सके, परन्तु कक्षामें भी प्रायः एक नेता होता है। कोई विशेष गुणवाले लड़केको सारी कक्षा इस दृष्टिसे देखती है, वह साथियों पर प्रभाव डाल सकता है। अध्यापक कक्षाके लाभके लिए इस लड़के और उसकी स्थितिसे लाभ उठायें। प्रायः कक्षाका नेता इसका होते हुए भी अलग रहता है और अपना लाभ उठाता है। ऐसी परिस्थितिमें अध्यापक उसे सबमें से एक लड़का ही न समझे वरन् उसके साथ कुछ हद तक बराबरीका व्यवहार करे। उसे मॉनीटर बनाकर मान लिया जाय। नई शिक्षामें नेताकी स्थिति बहुत प्रकाशमय है। यदि कक्षाका काम पृथक् व्यक्तित्व (individualism) के आधार पर हो और नेता उन गुणोंके आधार पर चुना जाय जो उसने खेलके मैदानमें सामाजिक दृष्टिसे दिखाये हैं तो वह पढ़नेमें चतुर न होने पर भी कक्षाका नेतृत्व रक्खेगा। उसका प्रभाव बढ़ भी सकता है, क्योंकि कक्षाकी आवश्यकताके लिए जिस विशेष सामाजिक धारणाकी आवश्यकता होती है, जैसे पढ़ाई में योग्यता, इसमें नेतृत्वके लिए स्थान नहीं होता, वरन् यह अध्यापकके प्रबन्धमें रहता है। जब कक्षामें स्वतंत्रता आ जाती है तब खेलके नेताको इस्तीफ़ा देना होता है, यदि वह इस योग्य नहीं है और इसका स्थान कार्यके नेता ने ले लिया है, जिसकी उच्चता कक्षामें

सभी मान लेंगे। परन्तु शीघ्र ही उसे भी स्थान छोड़ना पड़ता है, क्योंकि नई स्वतंत्रता सबमें से अच्छीसे अच्छी बातोंको निकालकर लाती है और उसे व्यक्तिगत सम्मान देती है क्योंकि समानताका शासन होता है। कार्यका नेता योजना बना सकता है, निर्देश दे सकत है। परन्तु प्रत्येकको कुछ कहना होता है, वह विवाद करते और नेताको अपने ऊपर रोब नहीं जमाने देते। इस प्रकार जनतंत्र समाजमें भाग लेनेके लिए स्वतंत्रता तैयारी करती है।

२६

अन्तर्राष्ट्रीय ज्ञान

हम मनोवैज्ञानिक भीड़के विषयमें बता चुके हैं कि उसके सदस्य किसीसे कभी नहीं मिलते, परन्तु फिर भी उनकी विचार-भावना और इच्छा साधारण होती है। संसारके व्यापारकी उन्नति, संसारके संचारमें सुधार, अखबार, रेडियो और टेलीफ़ोनकी सर्वप्रियता आदिने सारी दुनियांको मनोवैज्ञानिक भीड़ बना रक्खा है। आशा है इस पारस्परिक अधीनतासे युद्धके लिए नहीं वरन् अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति स्थापित करनेके लिए लाभ उठाया जायगा। युद्धका नाशकारी होना सभी मानते हैं और यह माना गया है कि इसके बादके सभी युद्ध अपने प्रभावोंमें विश्व-सम्बन्धी होंगे। जैसे मि० वेल्स कहते हैं कि 'सारी दुनियांमें कोई शान्ति नहीं वरन् साधारण शान्ति हो सकती है। कोई समृद्धि नहीं साधारण समृद्धि हो सकती है।' संसार के अंकुशोंकी पद्धतिके बिना दुनियांमें कोई सुरक्षा नहीं हो सकती। 'या हम जगत्मित्र बनायें या नष्ट हो जाय। ऐसा संगठन तभी स्थायी हो सकता है जब वह मनुष्योंकी प्रकृति पर आधारित हो। मनुष्योंमें यह सदिच्छा उत्पन्न करनेके लिए स्कूलसे आशा बढ़ती ही जाती है।

बालकोंके मस्तिष्कको अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और युद्धकी अपेक्षा मित्रताके लिए तैयार करनेकी शिक्षा-सम्बन्धी विधियाँ निकालनेके लिए मनोवैज्ञानिकोंने अनुसन्धान किया है कि परस्पर अधीनताका भाव और पारस्परिक ज्ञानका विकास बच्चोंमें कैसे किया जा सकता है। व्यवहारकी दृष्टिसे उन्होंने छोटे बच्चोंके खेलके समाजमें पारस्परिक अधीनताके नियमों का अध्ययन करके मूल्यवान् परिणाम निकाले हैं। जिस प्रकारकी पारस्परिक अधीनता का इस समाजमें विकास होगा वह इस बात पर आश्रित है कि सदस्य किस प्रकारके नियमों

का पालन करते हैं। एक नियम जभी रहते हैं जब एक व्यक्तिकी इच्छाका सम्मान दूसरे करते हैं और जब सबकी साधारण इच्छाका प्रत्येक सम्मान करता है। पहले उदाहरणमें हमारे पास एकतरफ़ा सम्मान का उदाहरण है या बिना उनके कहे नियम पालन करने वालोंका नियम बनाने वालोंके प्रति सम्मान। यह अनिवार्यता है और इससे बाह्य प्रकारकी पारस्परिक सहायता निकलती है। दूसरे उदाहरणमें पारस्परिक सम्मान है, साधारण इच्छाके प्रति ऐच्छिक सहिष्णुता जो सहकारिताकी यथार्थ नींव बनाती है। यह आन्तरिक प्रकारकी पारस्परिक अधीनता कहलाती है।

बाह्य प्रकारकी पारस्परिक अधीनता बच्चोंमें पाई जाती है। ११ वर्षकी अवस्थाके पहले और आन्तरिक प्रकार ही १२ के बाद। यदि तुम एक बालकसे पूछो कि खेलके नियम बदलना सम्भव है या नहीं, वह निषेधमें ही उत्तर देगा। उसके विचारमें नियम खिलाड़ियों के परे की चीज़ है। १२ के बाद बालक इस बातको मान सकते हैं कि पारस्परिक स्वीकृति से नियम बदले जा सकते हैं। यह एक विचित्र बात है कि बाह्य पारस्परिक अधीनताके साथ बहुत-सा आत्मकेन्द्रित व्यवहार भी रहता है। अपरिवर्तनशील नियमोंके होते हुए भी अपनी रुचि होने पर बालक जैसे चाहते हैं वैसे खेलते हैं। बड़े लड़के अपने खेलमें एक विशेष प्रकारका सम्मान दिखाते हैं, दूसरोंके अधिकारोंका सम्मान, आपसी झगड़ोंको मित्रभावसे या मिलकर निबटा लेना। इन बातोंसे शिक्षाके लिए शिक्षा (lesson) स्पष्ट है। अधिकारमय, शासनयुक्त और सिद्धान्तमय शिक्षा आन्तरिक एकता नहीं उत्पन्न करती जो कि सब सहकारिताके आधार पर है, चाहे वह सामाजिक हो अथवा अन्तर्राष्ट्रीय। केवल क्रियाप्रणाली और बालकोंके स्वायत्तशासनके द्वारा स्वतन्त्र शिक्षा ऐसी भावना उत्पन्न करती है।

तर्ककी दृष्टिसे भी समान प्रकारसे विकास होता है। मानुषिक तर्कके निर्माणमें एक सामाजिक तत्व भी होता है। शुद्ध व्यक्तिगत विचार सनकमें या आत्मकेन्द्रित उड़ान या कल्पनामें दिखाई देता है। जब तक कि व्यक्ति अपने विचारों पर दूसरोंके विचारों के साथ विवाद करता, सुनता और परीक्षा लेता है वह कर्मविषयता (objectivity) और तर्क तक नहीं पहुंचता। जैसे नीति क्रियाका तर्क है उसी प्रकार तर्क विचारकी नीति है। जैसे हम कार्य को दूसरेके अधिकारोंके सम्बन्धमें क्रमबद्ध करते हैं, उसी प्रकार हमें अपने विचारोंके सम्बन्धमें क्रमबद्ध करना होता है। प्रारम्भमें बालक बाह्य प्रकारकी पारस्परिक अधीनता प्रदर्शित करते हैं, अपने बड़ोंके बने बनाये सत्योंको और निर्णयोंको ग्रहण करके। यह सत्य उनका एक प्रकारका सम्मान प्राप्त कर लेते हैं और उनका विचार-सम्बन्धी आत्म-

केन्द्रित आदतें डालनेमें रुकावट नहीं डालते। वे मानुषिक तर्क पर और आलोचनात्मक दृष्टि-सम्बन्ध पर सामूहिक अनिवार्यताएं हैं और जैसे आचारके सम्बन्धमें, सत्य और औचित्य की भी परवाह नहीं करते। नैतिक बातोंमें जो नियमका स्थान है वही शब्दका बौद्धिकमें है। अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता और न्यायमें मौखिक आज्ञाओंसे बालकके अस्तित्व के नियम सम्बद्ध नहीं होते और इससे कदाचित् अन्तर्राष्ट्रीय भावना जाग्रत् न हो सके।

बालकोंमें आन्तरिक पारस्परिक अधीनताका विकास तब तक नहीं होता जब तक कि उसके पहलेकी अवस्थाका विकास न हो जाय। बालक सोचता है कि वह संसारका केन्द्र है और प्रत्येक वस्तु उसीसे सम्बन्ध रखती है। वह अभी तक वस्तुओंके पारस्परिक सम्बन्ध को नहीं समझता। सम्बन्धके इस तर्कका अभाव उसे स्थूल परिस्थितियोंका दास बना देता है। आप बालकसे पूछें, 'तुम्हारे कोई भाई है?' वह कहता है, 'हां, उसका नाम राम है। 'राम के कोई भाई है?' 'नहीं, अकेले मेरे ही भाई है राम के नहीं।' पांच वर्षका बालक अपना दाहिना और बायां हाथ बता सकता है परन्तु आठ वर्षकी अवस्थासे पहले वह अपने साम ने बैठे हुए व्यक्तिका दाहिना हाथ नहीं बता सकेगा। बालक चीज़ोंको अलगाव (detachment) से नहीं देख सकता, यह काफ़ी अनुभव और पृथक्करणके बाद आता है। अतः भाषा पर विचारका साधनकी दृष्टिसे उसका वश बहुत कम होता है, क्योंकि यह बहुत भाववाचक चीज होती है। शिक्षा-सम्बन्धी साहित्य बहुत-सी विचित्र ग़लतियोंसे भरा है, वे ग़लतियां बच्चोंके शब्द-सम्बन्धी मिथ्याबोधके कारण हुई हैं। एक बार एक बालकने अपनी मां से पूछा—'मां क्या मनुष्यभक्षक स्वर्गको जाते हैं?' मां ने कहा—'नहीं।' 'क्या पुण्यात्मा स्वर्गको जाते हैं?' 'हां अवश्य' 'तब तो यदि एक मनुष्यभक्षक किसी पुण्यात्माको खा ले तो उसे अवश्य स्वर्ग जाना होगा।'—बालक ने कहा। पारस्परिक ज्ञानकी प्रारम्भिक आवश्यकताएं हैं, एक भाषाको भाववाचकमें समझना और समान विचार होना। बच्चे बाह्य बौद्धिक पारस्परिक अधीनताकी अवस्थामें हैं और आन्तरिक पारस्परिक अधीनताका विकास करनेके पहले उन्हें विवाद और सत्यको प्रमाणित करने तथा सहकारी सामूहिक कार्यकी कला आनी चाहिए। विवाद की विधि और सामाजिक सामूहिक कार्य ही केवल साधन हैं, जिससे हम दूसरे व्यक्तिके दृष्टिकोणको देखने और पारस्परिक बोधकी शक्तिका विकास कर सकते हैं। यदि हमारे स्कूल इन परिणामों को दृष्टिमें रख लें तो वह ऐसे व्यक्ति बना सकते हैं जो नैतिक संसारमें अपना आचरण उस आन्तरिक उत्तेजनाके अनुकूल बना लेंगे जिसमें सहकारी सामाजिक नियमोंका चुनाव और व्यक्तिगत प्रतियोगिताका त्याग है। ऐसे व्यक्ति बौद्धिक मामलोंमें दूसरे की राय

ग्रहण करनेमें ठिठकेंगे, परन्तु वैज्ञानिक दृष्टिसे प्रश्नोंका हल ढूंढ़ेंगे, दूसरेके दृष्टिकोण से चीजें देखेंगे और तर्कको अन्धविश्वासके परे रखेंगे।

अब हम यह देखेंगे कि आजकलके हमारे कुछ स्कूल बालकोंमें अन्तर्राष्ट्रीय भावनाको कैसे बढ़ाते या रोकते हैं। पहले कक्षाकी प्रतियोगिता और नम्बर देनेकी प्रथाकी परीक्षा लेनी चाहिए।

परीक्षा और नम्बर प्रणालीके द्वारा एक अन्तर्राष्ट्रीय भावना और सहकारितामें विश्वास रखनेवाले व्यक्तिका उत्पादन नहीं हो सकता। इस प्रणालीके लिए यह तर्क दिया जाता है कि यह कार्यके लिए प्रेरणा है। सो नहीं है। लड़कोंकी स्थिति (position) आदि की सूची बोर्ड पर इसलिए लगाई जाती है कि कमज़ोर लड़के इससे कुछ सीखेंगे। यह तीसरी या चौथी स्थिति पर आनेवाले लड़केके लिए लाभकारी हो सकती है, जो मेहनत करके पहली या दूसरी स्थिति लानेकी आशा करे। परन्तु सबसे नीचे आनेवाले लड़के अपनी शक्तियोंमें सारी आशा और विश्वास छोड़ देते हैं। शिक्षाका उद्देश्य नम्बर पाना और दूसरोंको हराना नहीं है, परीक्षा समाप्त होने पर भूल जाते हैं और आचरण पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। दूसरी ओर यदि बालक अपनी प्राकृतिक रुचियोंके अनुसार प्रारम्भ करता और कोई समस्या सुलझानेके लिए अध्ययन करता है तो उसके व्यक्तित्व का विकास होता है। नम्बर और स्थितिसे पता चलता है कि प्रतियोगिता एक वांछनीय शक्ति है। वह सफलताको सीमित करके प्रसन्नताको भी थोड़े लोगों तक ही सीमित कर देते हैं। वह प्राप्ति (achievement) को बढ़ावा देते और सिद्धि (consummation) को दोष देते हैं। व्यक्तिगत सफलता जीवनकी मर्यादा नहीं है, वरन् उस मात्रामें है जिसमें व्यक्तिके जीवनने सामाजिक लाभमें भाग लिया है। सामूहिक प्रतियोगिता भी इन बुराइयोंसे परे नहीं है, इससे समूहमें बुरे विचार आ जाते हैं और व्यक्तियोंकी क्रूरता प्रदर्शित होती है। शारीरिक सज़ाका बहुत बुरा प्रभाव होता है, क्योंकि बालकोंकी समझ में यह आता है कि शक्ति ही मनुष्यके झगड़ोंका अन्तिम निपटारा करनेवाली है। स्कूल में बालकोंके सामने कोई चारा नहीं होता सिवाय इसके कि 'जैसा हम कहें वैसा करो, नहीं तो सज़ा मिलेगी।'

पाठ्यक्रममें ऐसे दो विषय होते हैं जिनका पढ़ाना अन्तर्राष्ट्रीयताको बना या बिगाड़ सकता है। वे हैं इतिहास और भूगोल। अब तक जिस प्रकारका ज़ोर इतिहासके पढ़ाने में दिया जाता था, वह ग़लत था और जो इतिहास पढ़ाया जाता था वह सच्चा नहीं था। उन राजनीतिक और सैनिक नायकों और उनके कार्य पर बहुत प्रकाश डाला जाता था

जिन्होंने देशप्रेमको बहुत बड़ा बताया। मनुष्यके कल्याणके लिए राष्ट्रोंका विकास इतनी विशेषता नहीं रखता जितना विज्ञान और खोजका शान्तिके मार्गसे विकास और कलाकी सृष्टि। वास्तविक नायक सीज़र, नैपोलियन, वैलिंगटन नहीं थे वरन् बुद्ध, सुकरात, न्यूटन आदि थे। यदि युद्धका इतिहास सिखाया जाता है तो उसकी नाशकारी बातों पर ध्यान दिलाया जाय कि इनसे लाभ नहीं होता और इसके निर्णय अन्तिम नहीं होते। यह भी सर्वगत है कि इतिहासकी पाठ्य पुस्तकें पक्षपातमय होती हैं और ग़लत वर्णन देती हैं, क्योंकि वह वर्णन राष्ट्रीय दृष्टिसे निश्चित किए जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय भावनाका निर्माण करनेके लिए दुनियांका इतिहास अधिक अच्छा साधन होगा। भूगोलकी शिक्षाको तीन बातों पर ध्यान देना है। रुचि उत्पन्न करनेके लिए बहुतसे देशोंके जीवनका विस्तृत वर्णन। दूसरे प्रत्येक क्षेत्रके जीवनका वर्णन जैसा वातावरणसे निश्चित होता है, जिससे सहन-शक्ति, सहानुभूति और बोध बढ़े। तीसरे एक योजना जिससे विद्यार्थियोंको दुनियांके विभिन्न भागोंका अन्यान्य आश्रय दिखाया जाय, और जिसमें इस प्रकारके सम्बन्धका विच्छेद करने वाली प्रत्येक बातको बुरा समझा जाय। अन्तर्राष्ट्रीय बोधको बढ़ानेके लिए शिक्षाके सामाजिक उद्देश्यको पर्याप्त स्थान मिलना चाहिए।

२७

शिक्षा में अचेतन

मनोविज्ञानका एक विशेष नया विकास, जिसे 'नया मनोविज्ञान' का नाम दिया गया है, मनोविश्लेषण है। यह हमें बताता है कि हमारा व्यवहार हमारे चेतनास्थित विचारों से इतना निश्चित नहीं होता जितना कि उपचेतना या अचेतन आत्मामें स्थित हैं। इसमें मस्तिष्ककी तुलना उस सागरस्थित बर्फ़के पहाड़से की गई है जिसका अधिकांश पानीके नीचे है। पानीके अन्दरके भाग पर काम करनेवाली शक्तियां खुले भाग पर काम करने वालीकी अपेक्षा उस पहाड़को हटानेमें अधिक शक्तिशाली हैं। हम प्रायः देखते हैं कि बड़ी तेज़ हवाके अन्दर यह पहाड़ दौड़ता चला जा रहा है। इसकी व्याख्या यह है कि वह उस लहरकी दिशाका अनुसरण कर रहा है जिसमें यह फंसा है, और जो हवासे भी अधिक बड़े ढेर पर काम कर रही है। इसी प्रकार हम प्रायः देखते हैं कि लोग बिलकुल अबोध्य (inexplicable) तरीक़ेसे व्यवहार कर रहे हैं, जो तर्ककी दृष्टिसे अबोध्य है, क्योंकि उनका आचार अन्दर निमग्न विचारोंसे निश्चित किया जा रहा है, जो विचार किसी न किसी तरह कार्य रूपमें परिणत किए जा रहे हैं। और लोग इन विचारोंकी तुलना टाइटेन्ससे करते हैं जो कहानीके अनुसार ज़मीनकी गहराईमें गाड़ दिए गए थे, और उनके ऊपर पहाड़ोंका ढेर लगा दिया गया था, जो कि व्यग्र होने पर भूकम्प और ज्वालामुखीका काम करते हैं। इस प्रकारकी दमन की गई अभिलाषाएं प्रायः स्वप्नमें पूरी होती हैं। इसीलिए मनोविश्लेषणकर्ता एक व्यक्तिकी भावनाग्रन्थियों (complex) का उसके स्वप्नों द्वारा अध्ययन करते हैं, या उसकी अचेतन आत्मा में उत्तेजित शब्दोंके द्वारा प्रवेश करके, जिसके लिए उस व्यक्तिको प्रतिक्रियाके

उचित शब्द देने पड़ते हैं। मनोविश्लेषणकी प्रणाली मानसिक बीमारियोंको अच्छा करने के लिए भी काममें लाई जाती है और बहुत जगह लाभदायक सिद्ध हुई है। यह दमन की गई भावनाग्रन्थि है जो विचित्र व्यवहार कराती है, परन्तु एक बार चेतनामें आनेसे इसका प्रभाव नष्ट हो जाता है। यदि एक बौना हर समय अपने विषयमें सोचता रहे तो उसमें हीनताकी भावना आ जाती है और वह समाजमें विचित्र व्यवहार करता है। मनोविश्लेषण-कर्ता इस भावनाग्रन्थिको निकालकर उसे ठीक कर लेता है।

मनोविज्ञानके इस नए विकासके प्रति अध्यापककी धारणा सोच-विचारकी होनी चाहिए। बालककी अचेतन आत्माके विषयमें भी उसे ज्ञान होना चाहिए। यदि शिक्षा-विज्ञानमें इसकी आवश्यकता है तो अध्यापक अपने शिष्यको अवश्य जाने। वह बालकके अनुभवके ढेरकी अवहेलना नहीं कर सकता, परन्तु अचेतन आत्मामें प्रवेश करनेके लिए मनोविश्लेषणकर्ताकी विधियोंका प्रयोग भी नहीं कर सकता। उससे अध्यापक और शिष्य के सम्बन्ध बिगड़ जायंगे। परन्तु साधारणतः उसे बालककी अन्तर्स्थित आत्मा (submerged self) का पता लगा लेना चाहिए। 'मानसिक रोगी' मनोविश्लेषणकर्ताके सामने लाने चाहिएं। अच्छे मस्तिष्कवाले बालकोंके ज्ञानसे उन्हें लाभ होगा। मनोविश्लेषण के द्वारा हम अन्य मस्तिष्कको भी समझ सकते हैं, विशेषकर विद्यार्थीके मस्तिष्कको। जिस अध्यापकको विश्लेषणका अभ्यास है वह बुरे आचरणका वास्तविक कारण ढूंढ़ निकालेगा और उसीके अनुसार कार्य करेगा। दूसरे, अध्यापक अपने कार्यका ऐसा क्रम बना सकता है जिससे भावना-ग्रन्थिका बनना बन्द हो जाय। 'स्कूलके जीवनकी अनावश्यक रुकावटें, प्रतियोगिताजन्य चिन्ताएं, परीक्षाकी थकान, अध्यापकके व्यंग-बचनसे अपमान—इन सब से अस्वास्थ्य कर दमन होता है, जिससे भावना-ग्रन्थियां बनती हैं।'

शिक्षामें मनोविश्लेषणका वास्तविक भाग विकासकी असफलता पर प्रकाश डालने, विचित्र और कठिन बालकोंसे व्यवहार करनेकी उचित विधियां बतानेमें है। निद्राभ्रमण, हकलाना, बाएं हाथसे काम करना, खुले और बन्द स्थानोंका भय, घटनाएं, भूल जाना, क्रियाशील भूलना, कापियोंको बराबर गन्दा करना, ग़लती निकालना और सफ़ाई, सबका कारण अचेतनका दमन बताया गया है। इसका इलाज मनोविश्लेषक डॉक्टर कर सकता है, अध्यापक नहीं।

२८

अनुशासन

अच्छी पढ़ाईके लिए अनुशासन अनिवार्य है। इसके बिना शिक्षा सफल नहीं हो सकती। इसके साथ जो कुछ पढ़ाया जाता है अधिक लाभप्रद होता है। अतः वे विधियां, जिनसे अच्छा अनुशासन रखा जा सकता है, स्कूल संगठनका एक अंग हैं। परन्तु बालक केवल ज्ञान-प्राप्तिके लिए ही स्कूल नहीं जाता। वह वहां अच्छा अनुशासित चरित्र प्राप्त करने जाता है। क़ानूनकी महत्ता रखने और उसके अनुसार कार्य करनेके लिए अपनी प्रवृत्तियोंका दमन करना एक अनुशासित और क्रमबद्ध जीवनकी प्रारम्भिक अवस्थाएं हैं। इस दूसरे रूपमें अनुशासन नीतिकी प्रकृतिमें भाग लेता है, अतः यह नैतिक शिक्षाका अंग बन जाता है।

अनुशासन ऐसी चीज़ नहीं है जो केवल मांगनेसे मिल जाय। तुम अधिकार मानकर इसे नहीं ले सकते, डांट-फटकार कर नहीं और न मीठे तर्कके द्वारा। यह सिखाई नहीं जा सकती, यह सीखनेकी पहली अवस्था है। यह स्कूलके वातावरणका अंग है। अतः स्कूल के वातावरणके द्वारा ही यह परोक्ष रूपसे जमाया जा सकता है।

अन्य पाठोंकी भांति अनुशासन सीखा नहीं जा सकता। अनुशासनका प्रदर्शन आचरणमें होता है। आचरण इच्छाका प्रदर्शन है और अनुशासन व्यक्तिकी इच्छा-शक्ति की क्रियाके द्वारा आचरणकी व्यवस्था है। अच्छे विचार और अच्छी भावना क्रियारूपमें परिणत न होने तक कुछ मूल्य नहीं रखते। आचरण जीवनकी परीक्षा है। आचरण मानसिक अवस्था और कार्योंका बन्धन है, और यह बन्धन व्यक्तिको स्वयं बनाना होता है। दूसरे शब्दोंमें क्रिया (doing) से, आदतोंसे और अपने रहनेके वातावरणके अनुकूल

बननेसे अनुशासन प्राप्त होता है। यह नियमों और व्यवस्थाओंके द्वारा भी प्राप्त हो सकता है, अर्थात् वातावरण और शासन दो शक्तियां हैं जो चरित्रको शिक्षित करतीं और ढालतीं हैं। जब व्यक्ति उन्हें मान लेता और अपने जीवनमें उन्हें चालू कर देता है तब बाह्य क़ानून आन्तरिक हो जाता है। अत: हमें विचारों, आदतों, वातावरण और शासन के द्वारा बाह्य क़ानूनको आन्तरिक बनाना है।

हमें इस प्रणालीमें चार पद पता लगते हैं —

१. विवेकयुक्त सतह।
२. प्रभुत्वमय सतह।
३. सामाजिक सतह।
४. व्यक्तिगत सतह।

यह एक चढ़ता हुआ परिमाण है। बालकको नीची सतहसे पास होकर ही ऊंची सतह पर जाना होता है। यदि इस परिमाणको उसके साथ रहना है तो उसे अपना और इन सब सतहोंका अनुभव होना चाहिए, क्योंकि यह शिक्षा-विधियोंसे या बतानेसे नहीं वरन् शिक्षण के द्वारा प्रभावित होता है। यद्यपि यह सतह एक-दूसरेके बाद आती जाती हैं, वयस्क अपना आचरण इनमें से एक या सबके द्वारा निश्चित कर सकता है। जैसे एक आदमी बुद्धिमानीके कारण नदीकी गहराईमें नहीं उतरता, क्योंकि उसे परिणामका डर है। वह अपने देशके क़ानूनोंको मानता है, वह समाजके नियमोंका सम्मान करता है, और व्यक्तिगत आदर्शोंसे भी प्रभावित होता है।

इससे हमें पता चला कि हम इन चारों सतहोंकी प्रकृतिको तुरन्त समझ लें। पहले विवेकयुक्त सतह। मनुष्यका आचरण दुराचारके परिणामके डरसे निश्चित होता है। नियंत्रण करनेवाला वह वातावरण है जहां वस्तु और व्यक्ति में भेद नहीं किया जाता वरन् स्वयं से ही भिन्न देखा जाता है। बालक इसी सतह पर रहता है। बालकके विकासकी प्रारम्भिक अवस्थामें उसे अपने कार्यों के प्राकृतिक परिणामोंको सहन करने देना चाहिए, जहां तक कि वह हानिप्रद न हों। यही प्रणाली रूसो और स्पेंसर ने मानी है, जिसे उन्होंने परिणामोंका अनुशासन कहा है। हम इसके गुण और दोष अभी देखेंगे। तब तक हम कहेंगे कि यह स्कूल की सब अवस्थाओंमें चालू की जा सकती है, क्योंकि यह सबसे नीची सतहको बताती है, जिसमें से बालकको प्राकृतिक रूपमें ही आगे बढ़ना चाहिए।

फिर बालक प्रभुत्वमय सतहको पहुंचता है। वस्तु और व्यक्तिका अन्तर प्रारम्भ हो गया है, और विशेषकर उन व्यक्तियोंके दिए हुए पारितोषिक और दंडके द्वारा आचरण

पर शासन हो रहा है जो बड़े माने जाते हैं। हम इस सम्बन्धमें पारितोषिक और दंडकी प्रकृति पर भी विचार करेंगे। तीसरी या सामाजिक सतहमें अपने बराबरवालोंके द्वारा की गई तारीफ़ या बुराईसे आचरण शासित होता है। यह वह अवस्था है जिसमें बालकों को थोड़ा स्वायत्त-शासन मिल जाना चाहिए। परन्तु यह अवस्था भी अनुशासनकी उच्चतम निशानीका प्रतिनिधित्व नहीं करती। एक व्यक्ति जो सदा अपने आचरणको 'अच्छे रूप' के नियमोंसे निश्चित करता है वह दासताकी अवस्थामें है और सदा जनमत पर आश्रित रहता है।

ऊपर बताई तीन अवस्थाएं बाह्य कर्त्ताओंका प्रतिनिधित्व करतीं हैं, और चौथी, अर्थात् व्यक्तिगत सतह, आन्तरिक शासनका। इस सतहमें व्यक्ति कुछ आदर्शोंके सम्बन्ध में, जो उसने अपने लिए निश्चित किए हैं, अपना आचरण निश्चित करता है। इसमें अध्यापकके अधिकारका बिलकुल अभाव है। परन्तु सर्वोत्तम अध्यापकको यही चाहना चाहिए। उसका प्रभाव तभी सबसे अधिक पड़ता है जब उसका अधिकार सबसे कम होता है। वास्तवमें वह अपनी शक्तियोंको हटाकर ही स्कूलमें सबसे अधिक भला कर सकता है।

१. **विवेकयुक्त सतह.** यह पूर्व-स्कूल अवस्थामें होती है। परिणामोंके अनुशासन के अनुसार प्राकृतिक दंड सर्वोत्तम होते हैं। प्रकृतिने ऐसा कर लिया है कि प्राकृतिक नियमके तोड़नेसे तुरन्त दंड मिलता है। यदि कोई आगके निकट जाता है तो वह जल जाता है। यदि कोई बालक चाकूसे खेलता है तो उसका हाथ कट जाता है। यदि वह कोई चीज खो बैठता है तो उसे दुःख होता है। स्कूलमें इस बातको लागू करो। यदि बालक देरसे पहुंचता है तो पहुंचने दो। यदि वह खिड़कीका शीशा तोड़ देता है तो उसे वहीं सुलाओ, ताकि सर्दी लग जाय। यदि वह किसी कामको ग़लत करता है, तो उसीको ठीक करने दो। यदि वह स्कूलका कुछ समय नष्ट करता है तो उसे अपने घरका समय नष्ट करने दो। यदि वह कोई चीज तोड़ता-फोड़ता है तो अपने खर्चे पर उसे पूरा करने दो।

इस प्रकारके अनुशासनके कुछ लाभ हैं। (१) यह बिलकुल प्राकृतिक है, व्यक्तिगत साम्यका त्याग होनेके कारण न्यायका कोई सवाल नहीं उठता। (२) ठीक नैतिक मर्यादा बनाता और कृत्रिम पारितोषिक और दंडको हटा देता है। (३) यह शुद्ध न्याय है, अतः कोई शिकायत नहीं उठती। (४) व्यक्तिगत बात हटा देनेसे क्रोधकी सम्भावना हट जाती है। (५) नियमोंके समूहके द्वारा बालककी स्वतंत्रतामें विघ्न नहीं पड़ता। (६) यह माता-पिता और बच्चों तथा अध्यापक और बच्चोंके सम्बन्ध अच्छे बना देता है। (७) दंड अपने आप मिल जाता है।

परन्तु इसमें बहुत-सी हानियां भी हैं। (१) सज़ा सदा नहीं मिलती, जब कि बुरे काम की आदत पड़ जाती है, जैसे शराब पीने में। (२) यह सदा यथोचित नहीं होती। एक छोटी ग़लती, जैसे शराब पीना, स्वास्थ्यका नाश कर देती है और चोरी सिर्फ़ कारावास ही दिलवाती है। (३) दंड बहुत दूर होता है। दंड होना निश्चित होनेसे व्यक्ति वह काम करनेसे रुकता है, परन्तु जब दंड बिलकुल अन्तमें मिलता है तब उसका भय कम हो जाता है। (४) दंड बहुत कड़ा हो सकता है, जैसे टूटे शीशेकी खिड़कीके पास सर्दीमें सोनेसे एमीलका ठंड लगकर मर जाना। हम बालकका नाश नहीं वरन् रक्षा करना चाहते हैं। (५) दंड कदाचित् पर्याप्त न हो। जुआ और शराबखोरी सज़ा मिलने पर भी चालू रहतीं हैं। (६) दंड शायद दूसरोंको मिल जाय, जैसे बालक यदि स्कूलकी कोई चीज़ तोड़ डाले। (७) नैतिक क़ानून तो छूट जाता है और केवल प्राकृतिक कानूनका ही ध्यान रहता है।

२. **प्रभुत्वमय सतह.** बड़े माने जानेवाले व्यक्तियोंके दिये पारितोषिक और दंड पर आचरण आश्रित रहता है। यह स्कूली शासनकी अवस्था है। परन्तु यह आवश्यकता से अधिक कभी नहीं होना चाहिए। बालककी स्वतंत्रता बड़े-बड़े नियमोंसे बांध न दी जाय। उसका जीवन इन बातोंसे न भरा हो 'यह करो', 'यह मत करो', 'ठहरो', 'दौड़ो' आदि। नियम छोटे और थोड़े हों। बालकको यह मालूम होना चाहिए कि प्रभुत्वका एक छिपा ढेर है जो आवश्यकताके समय बाहर निकलता है। यह सब सामने ही न रखा रहे। अदृष्टका बालकों पर अधिक प्रभाव पड़ता है, 'वह गुण बेकार है जिसकी हमेशा रखवाली करनी पड़े।'

इस दृष्टिकोणसे यथार्थ बातोंकी अपेक्षा निषेधात्मक बातें अच्छी दीखती हैं। इन सबमें सबसे प्रधान है (१) निरन्तर काममें लगे रहना, 'खाली बैठना शैतानका काम है'। बालक क्रियाशील होते हैं और यदि उनकी क्रिया किसी कार्यमें परिणत होती है तो वह खुश रहते हैं। यदि बेकार रहते तो तंग करते और शैतानी करते हैं। कामके समय ही नहीं वरन् अवकाशके समय भी उन्हें ठीकसे लगे रहना है। यही कारण है कि बहुतों ने खेलोंपर ज़ोर दिया है और इसीलिए हॉबीकी भी आदत डालनी चाहिए। (२) निकट देखभाल— प्रत्येक बालककी देखभाल रखो, उसकी विशेषताओंका निरीक्षण करो और यदि वह बुरा व्यवहार करे तो तथोचित व्यवहार करो। प्राय: बुरे व्यवहारका कारण जबर्दस्ती बैठना, बैठाना और कारावास जैसा वातावरण होता है। ध्यान न लगाना, बातें करना चंचलता के कारण होता है। यदि नैतिक नियममें कोई ग़लती हो गई है तो उसे सज़ा मत दो।

प्रत्येक बालक और उसके प्रयोजनको समझो। (३) कक्षाकी गतियोंमें मशीनके से अनुशासनसे बड़ी सहायता मिलती है। इससे आज्ञापालन और नैतिक शिक्षणका बीज जमता है। शोर, बातें करना और अन्य गन्दी बातें दूर हो जातीं हैं। परन्तु बालकोंको मशीन न बना दिया जाय। एक क्षेत्रमें मौलिकता और दूसरेमें मशीनकी तरह आदतें होनीं चाहिएं। (४) स्कूलमें सामूहिक भावना उत्पन्न करके अनुशासनको सरल बनाया जा सकता है। यदि बालकोंको अपने स्कूल और उसकी रूढ़ियोंके लिए गर्व होगा तो उन रूढ़ियोंके विरुद्ध काम करना उनके लिए बहुत कठिन होगा। (५) इन बातोंके अतिरिक्त अध्यापकके लिए आज्ञा देना आवश्यक होगा। प्रारम्भिक अवस्थामें यह अनेक होंगी और धीरे-धीरे कम होती जायंगी। यदि बालकको क्या करना और क्या नहीं करना है पता न चले, तो उसे दुःख होगा, परन्तु बड़े लड़केको नहीं। (क) आज्ञा थोड़ी हों। (ख) उनको दोहराओ मत, दोहरानेसे आज्ञापालन करनेमें शिथिलता आ जाती है। (ग) जो भी आज्ञा हम देते हैं निश्चित होनी चाहिए। यदि तुम कमज़ोर हो और आज्ञा देनेमें अपने पर विश्वास नहीं है तो बालकोंको जल्दी ही पता चल जायगा और वह आज्ञाका उल्लंघन करेंगे। (घ) अपनी आज्ञाको दोहराओ और काटो मत। इससे तुम्हारा प्रभुत्व कमज़ोर पड़ जायगा। इससे पता चलता है कि जो भी आज्ञा तुम देते हो, उसे सब ओरसे समझ लेना चाहिए। यदि तुम उसकी कठिनाइयोंको पहलेसे नहीं समझते तो इस प्रकारसे तुम्हें दुःख होगा। (ङ) एक बार आज्ञा देने पर इसका पालन होना ही चाहिए। कोई अपवाद न होने दो। (च) ग़लत बातका संकेत मत करो, अतः निषेधात्मक आज्ञा न दो। (छ) विशेष की अपेक्षा आज्ञाओंको सामान्य होने दो। (६) नियम एक प्रकारकी स्थायी आज्ञा होती है और आज्ञाके सम्बन्धमें जो कुछ भी कहा गया है, वह नियमोंके सम्बन्धमें भी उसी प्रकार लागू होता है। वह भी कमसे कम हों। प्रत्येक नया नियम पाप करवाता है, क्योंकि यदि चीनी न होता तो चीनीके बर्तन टूटते कैसे। वह खूब सोचे-समझे हुए और स्पष्ट होने चाहिएं। परन्तु नियम-सम्बन्धी सबसे अच्छा विचार यह होगा कि उनके बिना ही काम चल सके। नियमोंका पालन करानेके लिए किसी प्रकारका दंड भी होगा। अपर्याप्त दृढ़तासे नियमोल्लंघनको उत्साह मिलता है। सज़ा देना स्कूलके शिक्षकके जीवन में सबसे दुःखमय बात होती है। अध्यापक और शिष्यके सहानुभूतिके बन्धनको निर्बल करने-वाली सज़ा बुरी होती है। प्रभुत्व-प्रदर्शनका यह अन्तिम आश्रय है, अतः प्रायः दिये जाने वाले दंड अच्छा शासन नहीं वरन् उसका अभाव प्रदर्शित करते हैं।

उद्देश्य. सज़ाके प्रायः तीन उद्देश्य होते हैं—(१) यह बदला लेनेकी दृष्टिसे होती है,

जिससे ग़लत काम और उससे होनेवाले परिणामस्वरूप कष्टमें सम्बन्ध दिखाया जाता है, (२) निरोधात्मक या उदाहरणके लिए, जिससे उसकी पुनरावृत्ति न हो और अन्य लोग भी सावधान हो जायं, (३) सुधारक राज्यकी सज़ाका विशेषकर दूसरा कारण बताते हैं, जैसा कि एक जजने गिरहकटसे कहा था, 'तुम्हें केवल इसीलिए सज़ा नहीं मिल रही है कि तुमने जेब काटी वरन् इसलिए कि आगे जेब न कटे।' यह समाजकी रक्षाके लिए होती है और नैतिक क़ानूनके बदलेके लिए अथवा सज़ायाफ़्ताके सुधारके लिए नहीं। स्कूलकी सज़ा दोषीको सुधारनेके लिए होती है। सज़ाका चुनाव बैंथमके नियमोंके अनुसार हो सकता है—(१) सज़ा अनुपातमें हो, (२) ग़लतीके अनुकूल हो, (३) शासनके लिए और स्वयं भी उदाहरण बनाए, (४) मितव्ययी हो, अर्थात् न आवश्यकतासे कम न अधिक, (५) सुधारक हो, (६) सार्वजनिक हो और उससे स्कूल बुरा न माना जाय।

दंडको स्थूल रूपसे दो भागोंमें बांट सकते हैं--(१) जो दुःखद हो, अथवा सुख या आनन्दका हरण करे, जैसे छुट्टी न देना, रोक लेना, बन्द करना आदि, (२) वह जिसमें दंड की शक्ति है, जैसे फटकारकी दृष्टि, क्रुद्ध शब्द, अपमान, पदच्युत करना, नम्बर कम मिलना आदि। यह जानते हुए कि हमें सज़ा देनेसे दूर रहना चाहिए, यह भी प्रयत्न करना चाहिए कि अधिककी अपेक्षा कम सज़ा दें। सज़ाके कई प्रकार होते हैं। (१) डांटना कई प्रकारका होता है। इसको अध्यापकके द्वारा बदला या कम किया जा सकता है। क्रोधकी दृष्टिसे लेकर बेंत मारना तक हो सकता है, और अध्यापक निर्णय करे कि क्या सर्वोत्तम होगा। यदि लड़का बात कर रहा है तो उसकी ओर दृष्टि करो। पढ़ाना रोककर डांटने के बदले उससे प्रश्न पूछो। जहां तक हो मज़ाक़ उड़ाना और आक्षेप नहीं करना चाहिए। कभी-कभी हंसना बुरा नहीं है, परन्तु काटनेवाला मज़ाक बुरा होता है, क्योंकि इससे आत्म-सम्मानको धक्का लगता है और डंक रह जाता है। सामान्य डांटना ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें निर्दोष भी सम्मिलित हो जाते हैं। दोष सामान्य नहीं होना चाहिए। बालक को मूर्ख या झूठा मत कहो। वह ऐसा हो जायगा। (२) अपमानकी स्थितियां छोटी कक्षा में प्रभावशील होतीं हैं। एक कोनेमें या बेंच पर खड़े होनेमें लज्जा आती है। पुराने ज़मानेमें ऐसी बुरी बातें बहुत होतीं थीं, जैसे खम्भेसे बांध देना, डलियामें लटकाना, पश्चातापके स्टूल पर बैठाना, मूर्खकी टोपी पहनाना आदि। ऐसा दंड उस जातिको भी नीचा दिखाता है जिसमें यह दिए जाते हैं। (३) नम्बर कम पाना—कुछ अध्यापक नम्बर कम या बुरे देते हैं। यह बहुत तुच्छ बात है और अच्छा अध्यापक ऐसा नहीं करेगा। (४) रोकना—खेलमें न जाने देना या स्कूलके बाद रोक लेना बहुत दुःखप्रद होता है। यह

विशेष होनेके कारण सजाका अच्छा प्रकार है। यदि बालक बात कर रहा है तो उसे चुप रखा जाय, यदि चंचल है तो उसे सीमित किया जाय, यदि देरमें आए तो देर तक रुके। यह दंड आदतजन्य गलतियोंमें, लड़ाकू व्यवहारमें, और समयका विचार न रखनेमें दिया जाता है। (५) इसमें प्रायः धन्धे (tasks) भी होते हैं। यदि यह उन पाठोंके सम्बन्धमें हैं जो उसने नहीं किए हैं तो सज़ा विशेष हो जाती है। परन्तु जब कक्षामें बात करनेके दंडस्वरूप बालकको पचास पंक्ति लिखनेको दी जाती हैं या धोखा देनेकी सज़ाके रूपमें कविताकी सौ पंक्ति याद करनी होती हैं तो कक्षाके कार्यको रुचिकर बनानेके बदले घृणित बना दिया जाता है। पाठको सज़ाका रूप नहीं देना चाहिए। (६) जुर्माना करना ठीक नहीं होता। यह माता-पिता पर पड़ता है और जो दे सकते हैं वह इधरसे असावधान हो जाते हैं। जैसे जुर्माना लेनेवाले स्कूलकी दो लड़कियां कह रही थीं कि चलो ६ आने भर बातें कर लें। (७) शारीरिक सज़ाको सार्वलौकिक रूपसे बुरा कहा गया है, परन्तु कोई भी इसे पूर्णतः त्यागनेको तैयार नहीं है। कुछ स्कूलोंमें यह बिलकुल काममें नहीं लाई जाती, और कुछमें बहुत कम। समयकी दयालुता इसका पूर्ण निराकरण करना चाहती है। यह हिंसात्मक और क्रूर होती है, इससे स्थायी हानि होनेकी सम्भावना है, इससे आत्म-सम्मानको चोट पहुंचती है और देखनेवालोंको नीचा दिखाती है। यह हठ और विद्रोह बढ़ाती, दासता उत्पन्न करती और इच्छाको तोड़ती है। यह उच्छृंखल, अप्राकृतिक, पाशविक, कायर और अप्रभावशाली होती और अध्यापक तथा शिष्यमें विरोध उत्पन्न कराती है। अतः अधिकांश लोग इसे बुरा मानते हैं। इसकी आवश्यकता कुछ बहुत ही विशेष अवसरों पर होती है। इसका पूर्ण निराकरण ठीक नहीं। इसे चाहे काममें न लाया जाय, परन्तु इसका डर अवश्य रहना चाहिए। अतः इसके उचित शासनके लिए कुछ नियम बनाने चाहिएं। (१) नैतिक पतन जैसे आज्ञोल्लंघन, हठ, पापके लिए काममें लाना चाहिए, बौद्धिक ग़लतियोंके लिए नहीं। (२) ऐसी सजा जोशमें आकर मत दो। (३) बेंत केवल मुख्याध्यापकको ही लगाने चाहिएं। (४) बेंत मुट्ठी मत रखो। (५) हाथमें मत मारो। बेंत उठाने और निकालनेमें जो समय लगता है, उतनी देरमें दुबारा विचार हो सकता है। (६) कान उमेठना बिलकुल बन्द होना चाहिए।

पारितोषिक. जैसे दंडसे दुःख वैसे ही पारितोषिकसे आनन्द होता है। प्रयास करनेके लिए बालक बहुत-सी बातोंसे उत्साहित होते हैं। (१) कुछ ठोस इनाम पानेकी इच्छा से। (२) अन्य श्रेष्ठता और अपने साथियों पर विजय प्राप्त करनेके लिए। (३) अध्यापक और माता-पितासे प्रशंसा प्राप्त करनेके लिए। (४) कर्त्तव्यभावना और ठीक कार्य करनेके आनन्द

से। यह उद्देश्य चढ़ते हुए परिमाण पर हैं और चौथा सबसे उच्चकोटिका है। पहलेमें कुछ स्वार्थ और लालच है, दूसरेमें कुछ घमंड है, और तीसरा भी पूर्णशुद्ध नहीं है। अतः पहला नीचे प्रकारका उद्देश्य है और यदि इनाम भी दिए जायं तो बहुत ठोस और महंगे न हों जैसे किताबें या रुपया। अतः प्रशंसा, नम्बर, सम्मानके स्थान और विश्वास यह ठीक हैं। दो कारणोंसे इसका भी विरोध किया जाता है। पहले तो यह कि दूसरेसे श्रेष्ठ होनेकी इच्छा कोई अच्छा उद्देश्य नहीं है, और इससे ईर्ष्या, स्पर्धा और प्रतियोगिता होती है। लालसामय उद्देश्यके अच्छे या बुरे दोनों रूप होते हैं। हम इस नीची प्रकारके उद्देश्य को उकसाते हैं। यह वहां होगा जहां उच्च उद्देश्य मिलता ही नहीं। अतः विशेष अवसरों पर अच्छा आचरण करनेके लिए पारितोषिक घूसके रूपमें न हों, वरन् बहुत दिनोंके परिश्रमस्वरूप मिलें। इस प्रकार इससे शिक्षणका प्रयोजन सिद्ध होगा। नीची प्रकारके उद्देश्यको दूर करनेके लिए हमें देखना चाहिए कि वास्तविक लक्ष्य यही नहीं है। इसे बिना पहलेसे बताए देना चाहिए। पारितोषिकनीतिकी छोटी बातोंके लिए हो, जैसे स्वच्छता, समयकी पाबन्दी, परिश्रम आदि। इससे जीवनमें लाभ होता है। परन्तु सच बोलना, ईमानदारी, नम्रता आदिके लिए इनाम नहीं मिलना चाहिए। उच्च प्रकारकी मानसिक योग्यताओंके लिए इनाम देना संदेहात्मक है, क्योंकि इससे कक्षाके अन्दर बहुत ईर्ष्या, द्वेष हो जाता है। इसके प्रकार — (१) प्रशंसा चतुरतासे करनी चाहिए, कभी-कभी होने पर इसका मूल्य रहता है, अन्यथा नहीं। (२) सालाना जलसेमें दिए गए पारितोषिकसे स्पर्धा बढ़ती है। असफल निराश होते और द्वेष करते हैं। (३) स्कूलके अधिकार (पद)। (४) पदक आदि। (५) किसी बालकको विशेष स्थान मिल जानेसे स्पर्धा बढ़ती है, चतुरका पक्षपात होनेसे कमज़ोर निराश और उदासीन हो जाता है।

३. **सामाजिक सतह.** यहां पर प्रशंसा या बुराईके आधार पर आचरण होता है और यह वह अवस्था है जब स्वायत्त-शासन मिल जाना चाहिए। अध्यापक ऐसा करनेमें संकोच करते हैं। वह डरते हैं कि अनुशासन नहीं रहेगा और यह अवस्था पहलेसे भी बुरी होगी। दूसरे यह भी पता लगा है कि लड़के एक-दूसरेके प्रति बड़े कड़े रहते हैं और दोषके अनुसार सजा बहुत कम दी जाती है। पूर्णोचित पद्धति और स्कूलका जनतंत्र ही केवल तरीक़े हैं जिनके द्वारा स्वायत्त-शासनका अभ्यास कराया जाता है। परन्तु प्रत्येक अध्यापक को चाहिए कि स्कूलके जनमतको अपनी ओर कर ले। उच्छृंखल क़ानूनोंके कारण ही पापी पैदा होते हैं। परन्तु जनमत द्वारा बनाया हुआ क़ानून इच्छापूर्वक मान लिया जाता है। अतः अध्यापक अपने नियमोंके लिए जनमत प्राप्त कर ले। उस अवस्थामें उसका पालन

कराना बहुत सरल होगा, क्योंकि प्रत्येक लड़का पुलिसमैनका कार्य करेगा। जैसे समयकी पाबन्दी न करने पर यह विधि काममें लाई जा सकती है। डांटने-फटकारनेके बदले कक्षा, के प्रारम्भमें ही पिछले सालकी हाज़रीका रिकॉर्ड लड़कोंको दिखा दिया जाय और कहा जाय कि आशा है कि इस वर्षका रिकॉर्ड और भी अच्छा होगा। इस प्रकार देरसे आनेवाला लड़का सब लड़कोंका बुरा बनेगा। अनुशासनकी समस्याका हल अपने आप हो जायगा, लड़के नियमके पक्षमें होंगे, और अनुशासन अध्यापकके हाथमें नहीं रहेगा।

४. **आदर्श सतह.** यह तब प्राप्त होती है जब कक्षा अथवा व्यक्ति अपने आप ही अच्छा व्यवहार करें। इस उद्देश्यके लिए उनके सामने बड़े आदर्श रखे जाते हैं।

स्वतंत्र अनुशासनके सिद्धान्तके विकासके सम्बन्धमें भी कुछ कहना आवश्यक है। डॉ० एडम्स ने तीन अवस्थाएं निकाली हैं। पहली बेंत लगानेवालोंकी, जबकि शिक्षा और डंडा पृथक् नहीं किए जा सकते थे। लड़के रात-रात भर पीटे गए हैं। इससे स्कूल पाप-मोचक या शोषक स्थान बन गया था। दूसरी अवस्था प्रभावित करनेवालोंकी थी। शिष्योंका पाशविक रूपसे दमन किए बिना ही वे लोग अपने महान् व्यक्तित्वसे उन्हें वश में किए रहते थे। बालक स्वयं नहीं रहे वरन् अपने अध्यापकोंकी नक़ल बन गए। वर्तमान शिक्षावेत्ता इसके विरुद्ध हैं और वह अध्यापकोंसे छुटकारा चाहते हैं। मांटेसरी प्रणाली के माननेवाले पूर्णतः इसी विश्वासके हैं। अध्यापिकाएं निर्देशिका होतीं हैं, अतः उनका कोई अस्तित्व नहीं। उन्होंने फ्रोएबेल के सिद्धान्तको भी पूर्णतः माना है कि शिक्षा एक निष्क्रिय चीज़ है। वह बाधा नहीं डालते। उनके सिद्धान्तके परिणामस्वरूप बालक अपने को किसी प्रकार भी शासित कर सकते हैं। कुछ स्कूलोंमें, जैसे टॉल्स्टॉय के, स्वतंत्रतासे बिलकुल अराजकता हो गई है। कुछ भी हो स्वतंत्रताके विचारने शिक्षाके अनुशासन और दंडके सिद्धान्तको पीछे हटा दिया है। यह इतनी दूर चले गए हैं कि लड़का यदि कोई चीज तोड़ भी देता है तो उसे दंड नहीं मिलता वरन् टीचर उसे अपनी घड़ी तोड़नेको दे देता है, इससे उसे अपनी ग़लतीकी महानताका पता चलता है और वह चीज़ोंको सावधानीसे रखना सीख जाता है।